**BHAVAN'S LIBRARY**

This book is valuable and
NOT to be ISSUED
out of the Library
without Special Permission

आनन्दाश्रमसंस्कृतग्रन्थावलिः ।

ग्रन्थाङ्कः ६१

# गौतमप्रणीतधर्मसूत्राणि

हरदत्तकृतमिताक्षरावृत्तिसहितानि ।

एतत्पुस्तकं वे. शा. सं. गोखले इत्युपाह्वगणेशशास्त्रिभिः

संशोधितम् ।

तच्च

हरि नारायण आपटे

इत्येतैः

पुण्याख्यपत्तने

आनन्दाश्रममुद्रणालये

आयसाक्षरैर्मुद्रयित्वा

प्रकाशितम् ।

शालिवाहनशकाब्दाः १८३१

खिस्ताब्दाः १९१०

( अस्य सर्वेऽधिकारा राजशासनानुसारेण स्वायत्तीकृताः )

मूल्यं सार्धं रूपकद्वयम् ( २८ )

आनन्दाश्रमसंस्कृतग्रन्थावलिः ।

ग्रन्थाङ्कः ६१

# गौतमप्रणीतधर्मसूत्राणि

हरदत्तकृतमिताक्षरावृत्तिसहितानि ।

एतत्पुस्तकं वे. शा. सं. गोखले इत्युपाह्वैर्गणेशशास्त्रिभिः
संशोधितम् ।

तच्च
हरि नारायण आपटे
इत्येतैः
पुण्याख्यपत्तने
आनन्दाश्रममुद्रणालये
आयसाक्षरैर्मुद्रयित्वा
प्रकाशितम् ।

शालिवाहनशकाब्दाः १८३१

खिस्ताब्दाः १९१०

( अस्य सर्वेऽधिकारा राजशासनानुसारेण स्वायत्तीकृताः )

मूल्यं सार्धं रूपकद्वयम् ( २॥ )

# आदर्शपुस्तकोल्लेखपत्रिका ।

अस्य गौतमप्रणीतधर्मसूत्रस्य पुस्तकानि यैः परहितैकपरतया प्रदत्तानि तेषां नामादीनि पुस्तकानां संज्ञाश्च प्रदर्श्यन्ते ।

क. इति संज्ञितम्—आनन्दाश्रमस्थम् ।

ख. इति संज्ञितम्—आनन्दाश्रमस्थम् । अस्य लेखनकालः शके १७२४

ग. इति संज्ञितम्—डेकनकालेजस्थम् ।

घ. इति संज्ञितम्—डेकनकालेजस्थम् ।

ङ. इति संज्ञितम्—आनन्दाश्रमस्थं मूलम् ।

च. इति संज्ञितम्—आनन्दाश्रमस्थं मूलम् ।

छ. इति संज्ञितम्—डेकनकालेजस्थं त्रुटितम् ।

समाप्तेयमादर्शपुस्तकोल्लेखपत्रिका ।

# गौतमप्रणीतधर्मसूत्राणां विषयानुक्रमः ।


| विषयाः । | पृष्ठाङ्काः । |
|---|---|
| धर्मे प्रमाणम् ... ... | १ |
| यत्र श्रुतिस्मृत्योः परस्परविरोधस्तद्विषये निर्णयः | २ |
| ब्राह्मणस्योपनयनकालः ... | ,, |
| क्षत्रियवैश्ययोरुपनयनकालः | ३ |
| आपद्युपनयनकालावधिः... | ,, |
| उपनीतानां मेखलाः ... | ४ |
| ,, अजिनानि ... | ,, |
| ,, वासांसि ... | ,, |
| ,, दण्डाः... ... | ५ |
| अथ द्रव्यशुद्धिस्तत्र तैजसादीनां द्रव्याणां शुद्धिः ... | ६ |
| पाषाणादीनां शुद्धिः ... | ,, |
| रज्ज्वादीनां शुद्धिः ... | ७ |
| शौचाचारः ... ... ... | ,, |
| आचमनविधिः ... ... | ,, |
| उपस्पर्शनम् ... ... | ८ |
| द्विराचमननिमित्तानि ... | ,, |
| दन्तश्लिष्टेपूच्छिष्टलेपेषु दन्तवन्नाशुचित्वम् ... ... | ,, |
| हस्तपादादेरमेध्यलिप्तस्य शौचविधिः ... ... ... | ९ |
| गुरूपसदनविधिः ... ... | ,, |
| प्राणायामः ... ... ... | ,, |
| गुरोः पादोपसंग्रहणम् ... | १० |
| अन्तरागमने पुनरुपसदनम् | ११ |
| श्वनकुलाद्यन्तरागमने प्रायश्चित्तम् ... ... ... | ,, |
| श्वादिव्यतिरिक्तपश्वादीनामन्तरागमने प्रायश्चित्तम्.. | ,, |
| श्मशानस्योपर्यध्ययने प्रायश्चित्तम् ... ... | ,, |
| अथोपनीतप्रसङ्गेनानुपनीतधर्माः ... ... ... | ,, |
| अनुपनीतस्य हुतशेषभक्षणनिषेधः ... ... ... | १२ |
| ब्रह्मचर्येणावस्थानम् ... | ,, |
| शौचविषये न दिक्स्थाननियमः ... ... ... | ,, |
| शरीरशुद्धिः ... ... | ,, |
| उदक्यादिस्पृष्टस्यापि स्पृष्टास्पृष्टिदोषाभावः ... ... | १३ |
| पित्र्यकर्मणोऽन्यत्र वेदोच्चारणनिषेधः ... ... | ,, |
| उपनीतस्यापि ब्रह्मचर्येणावस्थानम् ... ... | १४ |
| प्रत्यहं समिद्धोमभैक्षचरणे कर्तव्ये ... ... ... | ,, |
| सत्यवचनम् ... ... | ,, |
| स्नानम् ... ... ... | ,, |
| संध्योपासनविधिः... ... | १५ |
| आदित्यदर्शननिषेधः ... | ,, |
| अथ वर्ज्यानि ... ... | ,, |
| गुरुसंनिधावाचारः... ... | १७ |
| पूज्ये विद्यादिभिरधिके चाऽऽचारः ... ... | ,, |

| विषयाः । | पृष्ठाङ्काः । |
| --- | --- |
| गुरुवत्तद्भार्यापुत्रेषु चाऽऽचारः ... | १८ |
| अस्यापवादः | „ |
| प्रवासं गत्वा प्रत्यागतेन गुरुभार्याणामुपसंग्रहणं कार्यम् | १९ |
| भिक्षाटननियमः | „ |
| भोजनम् | „ |
| शिष्यशासनप्रकारः | २० |
| गुरुकुले वासः | „ |
| ब्रह्मचारिणो वक्ष्यमाणाश्रमविकल्पः | २१ |
| आश्रमाः | २२ |
| गृहस्थस्य प्राधान्याभिधानम् | „ |
| ब्रह्मचारिधर्माः | „ |
| भिक्षुधर्माः | २३ |
| वानप्रस्थधर्माः ... | २५ |
| गृहस्थधर्माः | २७ |
| तत्र विवाहभेदाः । ब्राह्मविवाहः | २८ |
| प्राजापत्यविवाहः | „ |
| आर्षविवाहः | २९ |
| दैवविवाहः | „ |
| गान्धर्वविवाहः | „ |
| आसुरः | „ |
| राक्षसः | „ |
| पैशाचः | „ |
| अनुलोमाः | ३० |
| प्रतिलोमाः | „ |
| अनुलोमजातानां पितृद्वारा सप्तमपुरुषादुत्कृष्टवर्णान्तरप्राप्तिः, मातृद्वारा पञ्चमपुरुषादपकृष्टवर्णान्तरप्राप्तिकथनम् | ३१ |
| प्रतिलोमानां धर्महीनत्वम् | ३२ |
| आनुलोम्येनापि शूद्रायामुत्पन्नस्य धर्महीनत्वम् | „ |
| पुत्राणां प्रशंसा | „ |
| गर्भाधानकालः | ३३ |
| पञ्च महायज्ञाः | ३४ |
| तत्र ब्रह्मयज्ञः | „ |
| पितृयज्ञः | ३५ |
| देवयज्ञस्याग्निकार्यमूलत्वादग्निपरिग्रहकालः | „ |
| देवयज्ञः | ३६ |
| वैश्वदेवप्रयोगः | „ |
| भूतयज्ञबलिहरणम् | „ |
| मनुष्ययज्ञः | ३७ |
| दानस्य फलम् | „ |
| यत्रावश्यदेयं तत्रादाने प्रत्यवायः | ३८ |
| दानापवादः | „ |
| गृहस्थपूर्वभोज्याः | ३९ |
| ऋत्विगादिषु गृहमागतेषु मधुपर्कदानम् | „ |
| श्रोत्रियस्य राज्ञः पूजाप्रकारः | ४० |
| अश्रोत्रियस्य राज्ञः पूजाप्रकारः | „ |
| सामर्थ्याभावे पूजाप्रकारः | „ |
| विद्यारहितसाधुवृत्तातिथिविषये पूजाप्रकारः | „ |
| विद्वदसाधुवृत्तातिथिविषये पूजाप्रकारः | „ |

| विषयाः । | पृष्ठाङ्का । |
|---|---|
| आत्मसदृशातिथिविषये पूजाप्रकारः ... ... .. | ४१ |
| आत्मना किंचिद्दूनातिथिविषये पूजाप्रकारः ... ... | ,, |
| अतिथिलक्षणम् ... ... | ,, |
| अतिथिप्रश्नः ... ... | ,, |
| मात्रादीनां पूजाप्रकारः ... | ४२ |
| अभिवादनविधिः ... ... | ४३ |
| भ्रातृभार्याणां पूजाप्रकारः | ४४ |
| यवीयसामृत्विगादीनां पूजाप्रकारः ... ... ... | ४५ |
| नामग्रहणनिषेधः .. ... | ,, |
| भो भवन्निति व्यवहार्याः ... | ,, |
| वित्तादीनामुत्तरोत्तरबलीयस्त्वम् ... ... ... | ४६ |
| सर्वेभ्योऽपि श्रुतस्य बलीयस्त्वम् ... ... ... | ४६ |
| तद्विषये प्रमाणम् ... ... | ४७ |
| ब्राह्मणादेव विद्याऽधिगन्तव्या तदभाव आपत्कल्पः | ४७ |
| आपद्वृत्तयः ... ... | ४८ |
| गर्हितयाजनादिवृत्त्यभावे क्षत्रवृत्तिः ... ... ... | ४८ |
| तदभावे वैश्यवृत्तिः... ... | ,, |
| वैश्यवृत्त्युपजीविनो ब्राह्मणस्यापण्यानि ... ... | ४९ |
| विनिमयेऽनुज्ञा ... ... | ५० |
| प्रतिषिद्धविनिमयः ... | ५० |
| अशक्तौ सर्वथा वृत्त्यभिधानम् ... ... ... | ५० |
| आपदं तीर्त्वाऽऽपद्वृत्तावेव रममाणस्य निवारणाधिकारिणौ ... ... ... | ५१ |
| बहुश्रुतब्राह्मणस्य लक्षणम् | ५२ |
| आपद्वृत्तौ रममाणस्य निवारणोपायाः ... ... | ५३ |
| चत्वारिंशत्संस्काराः ... | ५४ |
| अष्टावात्मगुणाः ... ... | ५६ |
| एषामुत्कर्षः ... ... | ,, |
| गृहस्थव्रताधिकारी ... | ५७ |
| स्नातकस्यापि गृहस्थव्रतानुष्ठानम् ... ... ... | ,, |
| गृहस्थव्रतानि तत्र वस्त्रधारणाविषये निर्णयः ... ... | ५८ |
| अकारणाद्दूढश्मश्रुत्वनिषेधः | ,, |
| अग्न्युदकयोर्युगपद्धारणे निषेधः ... ... ... | ५९ |
| तिष्ठत आचमननिषेधः ... | ,, |
| वाय्वाद्याभिमुख्येनामेध्यकरणे निषेधः ... ... | ,, |
| पर्णादिभिर्मूत्रपुरीषाद्यपकर्षणे निषेधः ... ... | ६० |
| भस्माद्याक्रमणे निषेधः ... | ,, |
| म्लेच्छादिभिः सह संभाषणे निषेधः ... ... ... | ,, |
| संभाषणप्रकारः ... ... | ६१ |
| स्त्रीसंगमननिर्णयः ... ... | ,, |
| रजस्वलागमने निषेधः ... | ६२ |
| अथ वर्जनीयानि ... ... | ,, |
| पथ्याक्रमणनियमाः ... | ६३ |
| मूत्रपुरीषोत्सर्गनियमाः ... | ६३ |
| अभिवादनादि कुर्वतः सोपा- | |

| विषयाः। | पृष्ठाङ्काः। |
|---|---|
| नत्कस्य निषेधः | ६४ |
| नग्नयोषिद्दर्शननिषेधः | ,, |
| शिश्नादिचापलनिषेधः | ६५ |
| अकारणच्छेदनादिनिषेधः | ,, |
| भोजननियमाः | ६६ |
| गव्यौ नग्नस्वापनिषेधः | ,, |
| नग्नस्नाननिषेधः | ६७ |
| आनन्त्यादाचाराणां संक्षेपतः कथनम् | ,, |
| अथ वर्णधर्माः | ६९ |
| ब्राह्मणधर्माः | ,, |
| राजधर्माः | ७० |
| युद्धे हिंसाया दोषाभावः | ७२ |
| तदपवादाः | ,, |
| सङ्ग्रामलब्धद्रव्यविषये निर्णयः | ,, |
| राज्ञे देयानि | ७३ |
| प्रनष्टस्वामिकं द्रव्यमधिगम्य राज्ञः कर्तव्यता | ७५ |
| निध्यधिगमे निर्णयः | ७६ |
| वैश्यधर्माः | ७७ |
| शूद्रधर्माः | ,, |
| पुनश्च राजधर्माः | ८१ |
| वर्णाश्रमाणां न्यायेनाभिरक्षणम् | ८२ |
| ब्राह्मणस्य पौरोहित्येन स्वीकरणम् | ८३ |
| ज्योतिर्विदादिवचनेषु विश्वासः कार्यः | ,, |
| शान्तिपुण्याहादीनि शालाग्नौ कार्याणि | ८४ |

| विषयाः। | पृष्ठाङ्काः। |
|---|---|
| राज्ञो व्यवहारविषये प्रमाणानि | ८५ |
| देशधर्मादीनां प्रमाणत्वम् | ,, |
| कर्षकादिषु धर्मविप्रतिपत्तौ व्यवस्था | ८६ |
| दण्डेनादान्तानां दमनम् | ८७ |
| स्ववर्णाश्रमधर्माननुष्ठितवतां फलप्राप्तिः | ,, |
| विपरीतानां नाशः | ८८ |
| शूद्रस्य वाक्पारुष्याद्यपराधे दण्डः | ८९ |
| आर्यस्त्र्यभिगमने दण्डः | ,, |
| आसनादिषु द्विजातिभिः साम्यमिच्छतो दण्डः | ९० |
| ब्राह्मणाक्रोशे क्षत्रियस्य दण्डः | ,, |
| ब्राह्मणाक्रोशे वैश्यस्य दण्डः | ,, |
| क्षत्रियाक्रोशे ब्राह्मणस्य दण्डः | ,, |
| वैश्याक्रोशे ब्राह्मणस्य दण्डः | ,, |
| ब्राह्मणराजन्ययोः परस्पराक्रोशवत्क्षत्रियवैश्ययोः परस्पराक्रोशे दण्डः | ९१ |
| अथ स्तेयदण्डः | ,, |
| फलादीनां स्तेये दण्डः | ९२ |
| पशुभिरुपहते सस्यादौ पशुस्वामिनो दोषः | ,, |
| पशुभिरुपहते सस्यादौ दण्डपरिमाणम् | ,, |
| अदत्तादाननिषेधविषयेऽपवादः | ९३ |
| धर्म्या वृद्धिः | ९४ |

| विषयाः। | पृष्ठाङ्काः। |
|---|---|
| आपदि चक्रवृद्धिः... ... | ९५ |
| कारितादिवृद्धिप्रकाराः ... | ,, |
| पश्वादिवृद्धिविषये निर्णयः | ९६ |
| अजडापौगण्डयोर्दशवर्षभुक्तस्य धनस्य निर्णयः ... | ,, |
| तस्यापवादः ... ... | ९७ |
| भुक्तपश्वादिविषये निर्णयः | ,, |
| ऋणदानविषये निर्णयः ... | ,, |
| निध्यादिविषये निर्णयः ... | ९८ |
| सुवर्णस्तेयकृद्दण्डः... | ९९ |
| चोरसाचिव्यं कुर्वतश्चोरवद्दण्डः... ... ... | १०० |
| साक्षिप्रकरणम् ... ... | १०१ |
| साक्षिस्वरूपवर्णनम् ... | १०२ |
| साक्षिणोऽनृतवचने दोषः... | १०३ |
| दिव्यकरणम् ... ... | १०४ |
| पश्वाद्यनृतवचने साक्षिणो दोषः ... ... ... | ,, |
| भूम्याद्यनृतविषये दोषः ... | १०५ |
| वृष्टविषयेऽनृतवचने साक्षिणो दण्डः ... ... ... | १०६ |
| तदपवादः ... ... ... | ,, |
| जाड्याद्युपेतत्वात्साक्षिणः कालदानम् ... ... | १०७ |
| धेन्वादिविषये शीघ्रविवादः | ,, |
| आत्ययिके शीघ्रविवादः... | १०८ |
| अथाऽऽशौचं तत्र शावाशौचनिर्णयः ... ... ... | ,, |
| ज्ञातिमरणे क्षत्रियस्याऽऽशौचनिर्णयः ... ... | ,, |
| वैश्यस्याऽऽशौचनिर्णयः ... | ,, |

| विषयाः। | पृष्ठाङ्काः। |
|---|---|
| शूद्रस्याऽऽशौचनिर्णयः ... | ११० |
| आशौचसंपाते निर्णयः ... | ११० |
| तत्र रात्रिशेषे निर्णयः ... | १११ |
| दशाहाद्री व्यतीते संगवे यद्यन्यदापतेत्तत्र निर्णयः ... | ,, |
| गोब्राह्मणार्थे हतानां सपिण्डानां विषये निर्णयः ... | ,, |
| आत्मघातिनामाशौचनिर्णयः | ११२ |
| जननाशौचम् ... ... | ११३ |
| अतिक्रान्ताशौचनिर्णयः ... | ११४ |
| असपिण्डाद्याशौचनिर्णयः.. | ११५ |
| प्रेतनिर्हरण आशौचनिर्णयः | ११६ |
| आचार्यादीनां मरण आशौचनिर्णयः ... ... ... | ११७ |
| विजातीयप्रेतनिर्हरणविषय आशौचनिर्णयः ... ... | ,, |
| पतितादिस्पर्शन आशौचनिर्णयः ... ... ... | ११८ |
| शवानुगमन आशौचनिर्णयः | ,, |
| श्वोपहत आशौचनिर्णयः... | ११९ |
| उदकदाननिर्णयः ... ... | १२० |
| आशौचकाले ज्ञातीनामाचारः ... ... ... | ,, |
| अकृतचूडदेशान्तरिताद्याशौचनिर्णयः... ... ... | १२१ |
| राजादीनामाशौचनिर्णयः... | १२२ |
| श्राद्धप्रकरणम् ... ... | १२३ |
| तत्र ब्राह्मणानां संख्या ... | १२५ |
| श्राद्धभोक्तॄणां ब्राह्मणानां लक्षणम् ... ... ... | ,, |
| श्राद्धे पर्ज्यब्राह्मणाः ... | १२६ |

| विषयाः । | पृष्ठाङ्काः । |
|---|---|
| कुण्डाश्यादीनां वर्जनम् ... | १२७ |
| शिष्यादीनां वर्जनम् ... | १२८ |
| श्राद्धभोक्तुर्नियमाः ... | १२९ |
| श्वादिभिरवेक्षितस्यान्नस्य दुष्टत्वकथनम् ... ... | ,, |
| पङ्क्तिपावनाः ... ... | १३० |
| श्रवणाकर्म ... ... ... | १३१ |
| अध्ययनकालः ... ... | १३२ |
| अथानध्यायाः ... ... | ,, |
| वाणभेर्यादिशब्दश्रवणेऽनध्यायः ... ... ... | १३३ |
| गुरुशुक्रादिपरिवेषणेऽनध्यायः .... ... ... | १३४ |
| आकालिकानध्यायाः ... | १३५ |
| चोरादिभिर्ग्रामाद्युपद्रवेऽग्निदाहादौ चानध्यायः ... | १३६ |
| कार्तिक्यादिपौर्णमासीष्वनध्यायः ... ... ... | १३७ |
| श्राद्धकर्त्रादीनामनध्यायः | १३८ |
| भक्ष्याभक्ष्यप्रकरणम् ... | १३९ |
| तस्यापवादः ... ... | ,, |
| पशुपालादयोऽत्यन्तापत्काले भोज्यान्नाः .. ... | १४० |
| अथाभोज्यानि ... ... | १४१ |
| उत्सृष्टादीनामभोज्यान्नत्वम् | १४२ |
| वृथान्नादीनामभोज्यत्वम्... | १४३ |
| अपेयक्षीरनिर्णयः ... ... | १४४ |
| काकादीनामभक्ष्यत्वम ... | १४५ |
| किसलयादीनामभक्ष्यत्वम्... | १४६ |
| आपद्यभक्ष्यापवादः ... | ,, |
| अथ स्त्रीधर्माः ... ... | १४७ |

| विषयाः । | पृष्ठाङ्काः । |
|---|---|
| भर्तुरतिक्रमणे निषेधः ... | १४८ |
| पत्यौ मृते देवरादपि सुतोत्पत्तिः ... ... ... | ,, |
| देवराभावे सपिण्डादिभ्यः सुतोत्पत्तिः ... ... | १४९ |
| एवमुत्पादितः पुत्रः क्षेत्रिणो वा बीजिनो वेति तद्विषये निर्णयः ... ... ... | ,, |
| विद्याधिगमार्थं प्रोषितस्य भर्तुः प्रतीक्षा ... ... | १५० |
| अकृतोद्वाहेऽनाहिताग्नौ च ज्येष्ठे भ्रातरि प्रोषिते प्रतीक्षा ... ... ... | ,, |
| कन्यादानसमयः ... ... | १५१ |
| विवाहसिध्यर्थं शूद्रादिभ्यो द्रव्यादाने दोषाभावकथनम् | ,, |
| भोज्यालाभेनाभुक्त्वाऽनादेयस्याप्यादाने दोषाभावः... | १५२ |
| प्रायश्चित्तप्रकरणम् ... ... | १५३ |
| प्रायश्चित्तस्य निमित्तानि... | १५४ |
| प्रायश्चित्तस्य विचारः ... | ,, |
| जपप्रकाराः ... ... ... | १५६ |
| जपे प्रवृत्तस्याऽऽहारनियमः | १५७ |
| जपादीनां स्थानानि ... | १५८ |
| तपःस्वरूपम्... ... ... | ,, |
| अथ देयानि... ... ... | १५९ |
| जपादीनां कालः ... ... | १६० |
| कृच्छ्रादिप्रायश्चित्तानां व्यवस्था ... ... ... | ,, |
| प्रायश्चित्तमकुर्वतां त्यागः... | १६१ |
| त्यागप्रकारः ... ... | ,, |

| विषयाः । | पृष्ठाङ्काः । |
|---|---|
| त्यक्तेन सह संभाषणे प्रायश्चित्तम् ... ... ... | १६२ |
| प्रायश्चित्तेन शुद्धस्य स्वीकरणविधिः ... ... ... | १६३ |
| यस्य प्राणान्तिकं प्रायश्चित्तं तस्य मरणादेव शुद्धिः ... | १६४ |
| अथ पतिताः... ... ... | ,, |
| पतितैः सह संवत्सरं समाचरणं पातित्यम् ... ... | १६५ |
| पतितत्वस्वरूपकथनम् ... | १६६ |
| ब्रह्महत्यादिषु त्रिषु प्रायश्चित्ताभावः ... ... ... | ,, |
| स्त्रीपतनहेतुः ... ... | १६७ |
| महापातकसमानि ... ... | ,, |
| उपपातकम् ... ... ... | ,, |
| ऋत्विगाचार्ययोः पतनहेतुः | १६८ |
| शिष्यस्य पतनहेतुः... ... | ,, |
| ब्राह्मणाभिशंसनादौ दोषः | १६९ |
| ब्रह्महप्रायश्चित्तम् ... ... | १७० |
| ब्रह्मघ्नः प्रायश्चित्तमन्तरा ... प्रकारान्तरेण शुद्धिकथनम् | १७२ |
| ब्राह्मणवधोद्युक्तस्य ब्रह्महप्रायश्चित्तम् ... ... | १७४ |
| आत्रेय्या हनने ब्रह्महप्रायश्चित्तम् ... ... ... | ,, |
| अविज्ञातगर्भहनने ब्रह्महप्रायश्चित्तम् ... ... ... | ,, |
| राजन्यवधे प्रायश्चित्तम् ... | १७५ |
| वैश्यवधे प्रायश्चित्तम् ... | १७६ |
| शूद्रवधे प्रायश्चित्तम् ... | ,, |
| आत्रेय्यतिरिक्ताया वधे... प्रायश्चित्तम् ... ... | ,, |
| गोवधे प्रायश्चित्तम्... ... | १७७ |
| मण्डूकादीनां समुदितानां... वधे प्रायश्चित्तम् ... ... | १८० |
| कृकलासादीनां सहस्रं हत्वा प्रायश्चित्तम् ... ... | ,, |
| अनस्थिमतामनड्वद्भारं हत्वा प्रायश्चित्तम् ... ... | ,, |
| षण्ढवधे प्रायश्चित्तम् ... | १८१ |
| सर्पवधे प्रायश्चित्तम् ... | ,, |
| वराहवधे प्रायश्चित्तम् ... | ,, |
| ब्रह्मबन्धुवधे प्रायश्चित्तम् ... | ,, |
| भार्यादिलाभेषु विघ्ने प्रायश्चित्तम् ... ... ... | १८२ |
| परदारगमने प्रायश्चित्तम् ... | ,, |
| श्रोत्रियदारगमने प्रायश्चित्तम् | ,, |
| पतितादिभिः सह मन्त्रयोगे प्रायश्चित्तम् ... ... | १८३ |
| अग्न्युत्साद्यादिषु प्रायश्चित्तम् ... ... ... | ,, |
| व्यभिचारिण्याः प्रायश्चित्तम् | १८४ |
| महिषादिस्त्रीषु गमने प्रायश्चित्तम् ... ... ... | १८५ |
| सुरापस्य ब्राह्मणस्य प्रायश्चित्तम् ... ... ... | १८६ |
| अमत्या सुरापाने प्रायश्चित्तम् ... ... ... | १८७ |
| मूत्रादिप्राशने प्रायश्चित्तम् | ,, |
| व्याघ्रादिमांसभक्षणे प्रायश्चित्तम् ... ... ... | १८८ |
| सुरागन्धाघ्राणे प्रायश्चित्तम् | ,, |
| गुरुतल्पगमने प्रायश्चित्तम्... | १८९ |
| सख्यादिगमने प्रायश्चित्तम् | १९१ |
| प्रायश्चित्तमकुर्वतीनां स्त्रीणां दण्डः ... ... ... | १९२ |
| रेतःस्कन्दनादिषु प्रायश्चित्तम् | १९५ |
| सूर्याभ्युदितप्रायश्चित्तम् ... | १९६ |
| अशुचिदर्शने प्रायश्चित्तम्... | १९७ |
| अभोज्यभोजनादिषु प्राय- | |

| विषया । | पृष्ठाङ्का । |
|---|---|
| श्चित्तम् .. | ,, |
| आक्रोशादिषु प्रायश्चित्तम् | २०१ |
| विवाहादिष्वनृतोक्तौ दोषाभावः | २०२ |
| तस्यापवादः | २०३ |
| अन्त्यावसायिनीगमने प्रायश्चित्तम् | ,, |
| उदक्यागमने प्रायश्चित्तम् | ,, |
| रहस्यप्रायश्चित्तम् | २०४ |
| ब्राह्मणवधे रहस्यम् | २०५ |
| अवकीर्णिनिन्दा | २०७ |
| अवकीर्णिप्रायश्चित्तम् | २०८ |
| त्रिरूपस्थानस्यार्थवादः | ,, |
| अनार्जवादिषु प्रायश्चित्तम् | २०९ |
| कृच्छ्रादिस्वरूपम् | २१० |
| अतिकृच्छ्रे विशेषः .. | २१४ |
| कृच्छ्रातिकृच्छ्रस्वरूपम् | २१५ |
| कृच्छ्राद्याचरणे फलम् | ,, |
| चान्द्रायणविधि. | २१६ |
| चान्द्रायणस्य फलम् | २१९ |
| अथ दायविभागः | २२१ |
| पितुरूर्ध्वं जीवति च तस्मिन्विभागप्रकारः | २२२ |
| तत्र पशुविषये विशेषः | २२३ |
| तस्यापवादः .. | ,, |
| अनेकमातृकाणा दायप्रकारः | ,, |
| ऋषभोऽधिको ज्येष्ठस्येत्यस्यापवादः | ,, |
| अथापुत्रविषये विचारः | २२४ |
| अनपत्यस्य दायादाः | २२५ |
| स्त्रीधनविषये निर्णयः | २२६ |
| विभक्तभ्रातॄणां मृतानां विभक्तव्यधनादिविषये निर्णयः | २२७ |
| प्रेतानामविभक्तभ्रातॄणां विभागः | २२८ |
| विभागोत्तरमुत्पन्नपुत्रस्य विभागः | ,, |
| मूर्खभ्रातॄणां विभागः | २२९ |
| औरसादयः षट्पुत्रा रिक्थभाजः | ,, |
| कानीनादयो गोत्रभाजः | २३० |
| औरसाद्यभावे कानीनादीनां पितृधनस्य चतुर्थांशभाक्त्वकथनम् | ,, |
| असवर्णापुत्रविभागः | २३२ |
| अन्यायवृत्तस्य सवर्णापुत्रस्यापि विभागाभावः | २३३ |
| अनपत्यस्य ब्राह्मणस्य विभागः | ,, |
| अनपत्यानां क्षत्रियादीनां विभाग | ,, |
| जडक्लीबयोर्भरणम् | २३४ |
| प्रतिलोमाना विभागः | ,, |
| उदकादिषु विभागाभावः | ,, |
| सदिग्धविषयनिर्णयः | ,, |
| परिषल्लक्षणम् | २३५ |
| शिष्टवचनस्य कर्तव्यत्वे प्रमाणम् | ,, |
| धर्मशास्त्रविदा प्रशसा | २३६ |
| इति धर्मः | ,, |


इति गौतमप्रणीतधर्मसूत्राणा विषयानुक्रमः ॥

॥ ॐ तत्सद्ब्रह्मणे नमः ॥

# गौतमप्रणीतधर्मसूत्राणि

हरदत्तकृतमिताक्षरावृत्तिसहितानि ।

तत्र प्रथमप्रश्ने प्रथमोऽध्यायः ।

नमो रुद्राय यद्धर्मशास्त्रं गौतमनिर्मितम् ।
क्रियते हरदत्तेन तस्य वृत्तिर्मिताक्षरा ॥ १ ॥

ॐ वेदो धर्ममूलम् ॥ १ ॥

कर्मजन्योऽभ्युदयनिःश्रेयसहेतुरपूर्वाख्य आत्मगुणो धर्मः । तस्य मूलं प्रमाणम् । वेदो मन्त्रब्राह्मणात्मकः । जातावेकवचनम् । चत्वारो वेदा ऋग्यजुःसामात्मकास्त एव धर्मे प्रमाणम् । न योगिप्रत्यक्षं नानुमानं नार्थापत्तिर्न शाक्याद्यागमः । तेन तन्मूला एवोपनयनादयो धर्मा वक्ष्यन्ते न चैत्यवन्दनकेशोल्लुञ्चनादय इति । धर्मग्रहणमुपलक्षणम् । अधर्मस्यापि प्रतिषेधात्मको वेद एव मूलम् । निषेधविधयो हि ब्रह्महत्यादौ विषये प्रवृत्तं निवर्तयन्ति । न च रागद्वेषादिना विषये प्रवृत्तस्ततो निवर्तयितुं शक्यः । यद्यसौ विषयोऽनुष्ठितः प्रत्यवायहेतुर्न स्यादिति निषेधविधिरेव प्रत्यवायहेतुतां गमयति ॥ १ ॥

अथ यत्र प्रत्यक्षो वेदो मूलभूतो नोपपद्यते तत्र कथम्—

तद्विदां च स्मृतिशीले ॥ २ ॥

तद्विदां वेदविदां मन्वादीनां या स्मृतिस्तत्प्रणीतं धर्मशास्त्रं यच्च तेषां शीलमनुष्ठानं ते स्मृतिशीले अस्मदादीनां प्रमाणम् । न च तेषामनुष्ठानं निर्मूलं संभवति । संभवति च वैदिकानामुत्सन्नपाठे, वेदानुभव इति । तेषां तु तदानीं विद्यमानत्वेन संप्रदायाविच्छेदाच्च वैदिकानुष्ठानं वेदमूलमेव । यथाऽऽहाऽऽपस्तम्बः—

तेषामुत्सन्नाः पाठाः प्रयोगादनुमीयन्त इति ॥ २ ॥

यदि शीलं प्रमाणम्, अतिप्रसङ्गः स्यात । कथम्, कतकभरद्वाजौ व्यत्यस्य मार्थे जग्मतुः । वसिष्ठश्चण्डालीमक्षमालाम् । प्रजापतिः स्वां

---

१ क. ख. [illegible] । २ क. ग. घ. [illegible] । ३ ग. पाठे ।

दुहितरम् । रामेण पितृवचनादविचारेण मातुः शिरश्छिन्नमित्यादि साहसमपि प्रमाणं स्यान्नेत्याह—

दृष्टो धर्मव्यतिक्रमः साहसं च महताम् ॥ ३ ॥

महतामेतादृशं साहसमपि धर्मव्यतिक्रम एव दृष्टो न तु धर्मः । रागद्वेषनिबन्धनत्वात् ॥ ३ ॥

न च तेषामेवंविधं दृष्टमित्येतावताऽस्मदादीनामपि प्रसङ्गः । कुतः—

अवरदौर्बल्यात् ॥ ४ ॥

अवरेषामस्मदादीनां दुर्बलत्वात् । तथा च श्रूयते—

तेषां तेजोविशेषेण प्रत्यवायो न विद्यते ।
तदन्वीक्ष्य प्रयुञ्जानः सीदत्यवरको जनः ॥ इति ॥ ४ ॥

अथ यत्र द्वे विरुद्धे तुल्यबले प्रमाणे उपनिपततः । यथाऽतिरात्रे षोडशिनं गृह्णाति नातिरात्रे षोडशिनं गृह्णाति । उदिते जुहोत्यनुदिते जुहोतीति श्रुतिः । नित्यमभोज्यं केशकीटावपन्नमिति गौतमः ।

पक्षिजग्धं गवाघ्रातमवधूतमवक्षुतम् ।
केशकीटावपन्नं च मृत्प्रक्षेपेण शुध्यति । इति मनुः ।

तत्र किं कर्तव्यम्—

तुल्यबलविरोधे विकल्पः ॥ ५ ॥

तुल्यप्रमाणप्रापितयोरेवंजातीयकयोरर्थयोर्विकल्पः । तद्वेदं वेत्यन्यतरस्वीकारः । न समुच्चयोऽसंभवात् । *प्रकर्षबोधने तु श्रुतिस्मृतिविरोधे स्मृत्यर्थो नाऽऽदरणीयः । अतुल्यबलत्वात् । अत एव जाबालिराह—

श्रुतिस्मृतिविरोधे तु श्रुतिरेव गरीयसी ।
अविरोधे सदा कार्यं स्मार्तं वैदिकवत्सदा ॥ इति ॥ ५ ॥

अथेदानीं धर्मान्वक्ष्यन्नुपनयनपूर्वकत्वात्तेषामुपनयनं तावदाह—

उपनयनं ब्राह्मणस्याष्टमे ॥ ६ ॥

उपनयनानन्तरभाविनि ब्राह्मणत्वेऽत्र ब्राह्मणग्रहणं तु ब्राह्मणस्य सत एवोपनयनं न तूपनयनादिसंस्कारजन्यब्राह्मण्यमिति ज्ञापनार्थम् ।

* इत आरभ्य वैदिकवत्सदेत्यन्तो ग्रन्थो ग पुस्तक एव वर्तते ।

१ क. ङ. °तो न जुहोऽयं । घ. °ता न दुहोऽयं ।

किंच ब्राह्मणो न हन्तव्यः । ब्राह्मणो न सुरां पिबेदितिनिषेधश्रुतिरनुपनीतविषये(या) न स्यात् । ब्राह्मणस्याष्टमं वर्षं मुख्यमुपनयनकालः । प्रथमभाविनो गर्भाधानादीन्संस्कारानुल्लङ्घ्योपनयनं व्याचक्षाणस्तस्य प्राधान्यं दर्शयति । तेन दैवानुपपत्त्या गर्भाधानादेरकरणेऽप्युपनयनं भवति। तस्याकरणे तु विवाहादिष्वनधिकार इति सिद्धम् ॥ ६ ॥

नवमे पञ्चमे वा काम्यम् ॥ ७ ॥

कामनिमित्तं काम्यं तन्नवमे पञ्चमे वा भवति । नवमे तेजस्काममित्यापस्तम्बः ।

ब्रह्मवर्चसकामस्य कार्यो विप्रस्य पञ्चम इति मनुः ॥ ७ ॥

गर्भादि संख्या वर्षाणाम् ॥ ८ ॥

वर्षाणां संख्या गर्भादिरेव भवति । न जननादिः ॥ ८ ॥

तद्द्वितीयं जन्म ॥ ९ ॥

तदुपनयनं द्वितीयं जन्म । अत्रास्य माता सावित्री पिता त्वाचार्यः। तेन द्विजन्मत्वसिद्धिः ॥ ९ ॥

तयस्मात्स आचार्यः ॥ १० ॥

तदुपनयनं पितुरभावे यस्मात्पुरुषाद्भवति स आचार्यः ॥ १० ॥
न तु केवलादुपनयनात् । कस्मात्तर्हि—

वेदानुवचनाच्च ॥ ११ ॥

अनुवचनमध्यापनम् । अत्र मनुः—

उपनीय तु यः शिष्यं वेदमध्यापयेद्द्विजः ।
सकल्पं सरहस्यं च तमाचार्यं प्रचक्षते ॥ इति ॥ ११ ॥

एकादशद्वादशयोः क्षत्रियवैश्ययोः ॥ १२ ॥

नित्योऽपमनयोः कल्पः । काम्यस्तु मनुना दर्शितः—

राज्ञो बलार्थिनः षष्ठे वैश्यस्यार्थिनोऽष्टमे ॥ इति ॥ १२ ॥

अथाऽपरकल्पानाह—

आषोडशाद्ब्राह्मणस्यापतिता सावित्री ॥ १३ ॥

अभिविधावाकारः। आषोडशाद्वर्षाद्ब्राह्मणस्य सावित्र्यपतिताऽप्रच्युता। सावित्रीशब्देन तदुपदेशनिमित्तमुपनयनं लक्ष्यते। तदुपनयनस्य काल इत्यर्थः ॥ १३ ॥

द्वाविंशते राजन्यस्य द्व्यधिकाया वैश्यस्य ॥ १४ ॥

उभयत्राप्याङनुवर्तते। पूरणप्रत्ययस्य लोपो द्रष्टव्यः। आद्वाविंशाद्वर्षाद्राजन्यस्याऽऽचतुर्विंशाद्वैश्यस्यापतिता सावित्री ॥ १४ ॥

मौञ्जीज्यामौर्वीसौत्र्यो मेखलाः क्रमेण ॥ १५ ॥

मुञ्जो दर्भविशेषस्तद्विकारो मौञ्जी। मूर्वाऽरण्यौषधिविशेषः। [* सरलीति द्रविडभाषायाम्] तद्विकारो मौर्वी। ज्या चासौ मौर्वी चेति कर्मधारयः। ज्याशब्देन धनुषो ग्राह्येति यावत्। सौत्री सूत्रविकारः। एता वर्णक्रमेण मेखला भवन्ति ॥ १५ ॥

कृष्णरुरुबस्ताजिनानि ॥ १६ ॥

कृष्णः कृष्णसारः। रुरुर्बिन्दुमान्मृगः। बस्तश्छागः। एतेषामजिनान्युत्तरीयाणि क्रमेण। अजिनं त्वेवोत्तरं धारयेदित्यापस्तम्बीये दर्शनात् ॥ १६ ॥

वासांसि शाणक्षौमचीरकुतपाः सर्वेषाम् ॥ १७ ॥

शणविकारः शाणः क्षुमाऽतसी तद्विकारः क्षौमं श्वेतपट्ट इत्यन्ये। दर्भादिनिर्मितं चीरम्। ऊर्णानिर्मितः कम्बलः कुतपः। चत्वार्येतानि वासांसि सर्वेषाम् ॥ १७ ॥

कार्पासं वाऽविकृतम् ॥ १८ ॥

अविकृतं कार्पासं वासः सर्वेषाम्। विकारः कुसुम्भादिरागद्रव्यैर्वर्णान्तरकल्पनं विकृतिस्तद्रहितम् ॥ १८ ॥

अनुमतान्याह—

काषायमप्येके ॥ १९ ॥

एके त्वाचार्याः कषायेण रक्तमपि धार्यं मन्यन्ते ॥ १९ ॥

---

* धनुश्चिह्ना तर्गतो ग्रन्थो ग पुस्तके वर्तते।

---

१ क रा घ. ङ च. °तितमा°।

तत्रापि नियमः—

वार्क्षं ब्राह्मणस्य माञ्जिष्ठहारिद्रे इतरयोः ॥ २० ॥

वृक्षकषायेण रक्तं वार्क्षं तद्ब्राह्मणस्य मञ्जिष्ठया रक्तं माञ्जिष्ठं हारिद्रया रक्तं हारिद्रं ते इतरयोः क्षत्रियवैश्ययोरिति यावत् ॥ २० ॥

बैल्वपालाशौ ब्राह्मणदण्डौ ॥ २१ ॥

बैल्वः पालाशो वा ब्राह्मणस्य दण्डो न पुनः समुच्चितौ ॥ २१ ॥

अश्वत्थपैलवौ शेषे ॥ २२ ॥

पीलुर्वृक्षविशेषः । उता(?)उत्ता इति प्रसिद्धः । शेषे क्षत्रियवैश्यविषये ॥ २२ ॥

यज्ञियो वा सर्वेषाम् ॥ २३ ॥

सर्वेषामुक्तालाभे यज्ञियो यज्ञियवृक्षो वा दण्डः स्यात् ॥ २३ ॥

अपीडिता यूपवक्राः सशल्काः ॥ २४ ॥

अपीडिताः कीटादिभिरदूषिताः । यूपवक्रा यूपवदग्रे वक्राः । सशल्काः सत्वचः । एवंविधा दण्डाः सर्वेषाम् ॥ २४ ॥

मूर्धललाटनासाग्रप्रमाणाः ॥ २५ ॥

यथासंख्यमत्रेष्यते । मूर्धप्रमाणो ब्राह्मणस्य दण्डः । ललाटावधिः क्षत्रियस्य । नासावधिर्वैश्यस्येति ॥ २५ ॥

मुण्डजटिलशिखाजटाश्च ॥ २६ ॥

अत्र न यथासंख्यम् । मुण्डा लुप्तसर्वकेशाः । जटिलाः केशधारिणः । जटा केशसंहतिः । शिखामात्रैव जटा येषां ते शिखाजटाः । सर्वेषामयं सामान्यधर्मः । छन्दोगापेक्षया मुण्डशब्दग्रहणम् ॥ २६ ॥

द्रव्यहस्तश्चेदुच्छिष्टोऽनिधायाऽऽचामेत् ॥ २७ ॥

मूत्रपुरीषयोः कर्म, भोजनादि चोच्छिष्टत्वनिमित्तम् । द्रव्यहस्तः सन्नुच्छिष्टश्चेत्तद्द्रव्यमनिधायाऽऽचामेत् । उच्छिष्टः सन्द्रव्यहस्तश्चेत्तद्द्रव्यं निधायाऽऽचामेत् । तथा च मनुः—

उच्छिष्टेन तु संस्पृष्टो द्रव्यहस्तः कथचन ।
अनिधायैव तद्द्रव्यमाचान्तः शुचितामियात् ॥

---

१ ग उत्ता' ति ।

किंच भक्ष्यभोज्यादिद्रव्यविषये तद्द्रव्यं निधायैव मूत्रपुरीषयोः कर्म कृत्वा पुनस्तत्पात्रं निधायाऽऽचामेत्। वस्त्रदण्डादिविषये त्वनिधायैवाऽऽचामेत् ॥ २७ ॥

अथ द्रव्यशुद्धिरुच्यते—

द्रव्यशुद्धिः परिमार्जनप्रदाहतक्षणनिर्णेजनानि
तैजसमार्त्तिकदारवतान्तवानाम् ॥ २८ ॥

तैजसादीनां द्रव्याणां यथाक्रमं परिमार्जनाद्भिःशुद्धयः। तैजसं कांस्यादि। मार्तिकं मृन्मयादि। दारवं दारुमयादि। तान्तवं तन्तुमयादि। तेषां क्रमेण परिमार्जनं तत्र भस्मना कांस्यस्य शकृता सौवर्णराजतयोराम्लेन ताम्रस्य। इदमुच्छिष्टलिप्तानाम्। तैजसानामेवंभूतानां भस्मादिभिरिति कण्वः। रजस्वलाचण्डालादिस्पृष्टानामेकदिनं पञ्चगव्यं निक्षिप्यैकविंशतिकृत्वो मार्जनाच्छुद्धिः। मार्तिकानां प्रदाहः प्रकृष्टो दाहो वर्णान्तरापत्तिर्यथा स्यात्तथाविधो दाहः शोधनम्। इदं स्पर्शोपहतानाम्। अत्र वसिष्ठः—

मद्यमूत्रपुरीष*पैस्तु श्लेष्मपूयाश्रुशोणितैः।
संस्पृष्टं नैव शुध्येत पुनर्दाहेन मृन्मयम् ॥ इति।

दारवाणां तक्षणाच्छुद्धिः। इदममेध्यादिवासितानाम्। अन्यत्र प्रोक्षणप्रक्षालनादि। तान्तवानां निर्णेजनाच्छुद्धिः। इदं स्पर्शदूषितानाम्। मलादिदूषितानां धावनं तन्मात्रच्छेदनं वा। स्पर्शदूषितानां बहूनां प्रोक्षणाच्छुद्धिरिति ॥ २८ ॥

तैजसवदुपलमणिशङ्खमुक्तानाम् ॥ २९ ॥

उपलादीनां तैजसवच्छुद्धिः परिमार्जनमिति ॥ २९ ॥

दारुवदस्थिभूम्योः ॥ ३० ॥

अस्थि हस्तिदन्तादि भूमिर्गृहादि. तयोर्दारुवच्छुद्धिस्तक्षणमिति। दारववदिति वक्तव्ये दारुवदिति निर्देशाद्विकारस्य या शुद्धिर्विकारिणोऽपि सैव शुद्धिरित्युक्तम् ॥ ३० ॥

* ग. पुस्तके समासे—पैश्च ष्ठीवनैः पूयशोणितैः। इति पाठान्तरम्।

१ क. ख. घ. नदपाल नि°। २ ख. घ. °भ्। अद्वै°। ३ क. ख. घ. °नामुक्तं इति। ४ क. ख. घ °इ शुक्तानाम्।

आवपनं च भूमेः ॥ ३१ ॥

आवपनमन्यत आनीय पूरणमधिका शुद्धिर्भूमेः ।

अत्र वसिष्ठः—

खननाद्दहनादद्भिर्गोभिराक्रमणेन च ।
चतुर्भिः शुध्यते भूमिः पञ्चमाच्चोपलेपनात् ॥ ३१ ॥

चैलवद्रज्जुविदलचर्मणाम् ॥ ३२ ॥

विदलं वेत्रवेणुविदलादिनिर्मितं पिच्छनिर्मितमप्यन्ये । रज्ज्वादीनां त्रयाणां चैलवद्भस्मवच्छुद्धिर्निर्णेजनमिति । पैठीनसिस्तु—

रज्जुविदलचर्मणामस्पृश्यस्पृष्टानां प्रोक्षणाच्छुद्धिरिति ॥ ३२ ॥

उत्सर्गो वाऽत्यन्तोपहतानाम् ॥ ३३ ॥

इदं वासिष्ठेन समानविषयं मद्यमूत्रपुरीषैरित्यादिना । वाशब्दः पक्षव्यावृत्तौ ॥ ३३ ॥

प्राङ्मुख उदङ्मुखो वा शौचमारभेत ॥ ३४ ॥

इच्छातो विकल्प आरभेतेति वचनात् । पादप्रक्षालनप्रभृतिविद्वन्नियमः । आपस्तम्बस्तु प्रत्यक्पादावनेजनमित्याह । शौचग्रहणमाचमन एवं मा भून्मूत्रपुरीषादिशौचेऽपि दिङ्नियमज्ञापनार्थम् ॥ ३४ ॥

शुचौ देश आसीनो दक्षिणं बाहुं जान्वन्तरा
कृत्वा, यज्ञोपवीत्यामणिबन्धनात्पाणी प्रक्षाल्य,
वाग्यतो हृदयस्पृशस्त्रिश्चतुर्वाऽप आचामेत्॥३५॥

इदमेकं वाक्यम् । आचमनकाले शुचौ देशेऽनुपहत आसीन इत्युपलक्षणमासीनस्तिष्ठन्प्रह्वो वेति । जान्वन्तरा जानुनोर्मध्ये दक्षिणबाहुं कृत्वा । दक्षिणं बाहुमित्युक्तत्वाद्वामहस्तस्य नावश्यंभावः । यज्ञोपवीतीति पूर्वं स्वस्थानस्थमपि यथास्थाननिवेशनार्थम् । अथवोत्तरीयविन्यासार्थम् । तथा चाऽऽपस्तम्बः—

उपासने गुरूणां वृद्धानामतिथीनां होमे जप्यकर्मणि भोजन आचमने स्वाध्याये च यज्ञोपवीती स्यादपि वा सूत्रमेवोपवीतार्थः । इति ।
आमणिबन्धाद्यस्मिन्देशे मणिर्बध्यत आ तस्मात्पाणी प्रक्षाल्य वाग्यतः शब्दमकुर्वन् । हृदयस्पृशः परिमाणार्थमिदं यावत्यः पीता

हृदयं स्पृशन्ति यासु मापो मज्जति तावतीरप आचामेत्त्रिश्चतुर्वा । यत्र मन्त्रवदाचमनं विहितं तत्र तेन सह चतुः । अन्यत्र त्रिरिति विकल्पः ॥ ३५ ॥

द्विः परिमृज्यते ॥ ३६ ॥

प्रतियोगं सोदकेन पाणिनौष्ठयोः परिमार्जनम् ॥ ३६ ॥

पादौ चाभ्युक्षेत् ॥ ३७ ॥

चकाराच्छिरश्च ॥ ३७ ॥

खानि चोपस्पृशेच्छीर्षण्यानि ॥ ३८ ॥

शीर्षे भवानि शीर्षण्यानि । शिरोभवानीति यावत् । खानीन्द्रियाणि । तान्युपस्पृशेत् । अत्र चकारः प्रतीन्द्रियोपस्पर्शनार्थः ॥ ३८ ॥

मूर्धनि च दद्यात् ॥ ३९ ॥

चकारान्नाभौ मूर्धनि च सर्वाभिरङ्गुलीभिरुपस्पृशेदित्यर्थः ॥ ३९ ॥

सुप्त्वा भुक्त्वा क्षुत्वा च पुनः ॥ ४० ॥

स्वापादिनिमित्ते पुनर्द्विराचामेदिति यावत् ॥ ४० ॥

दन्तश्लिष्टेषु दन्तवदन्यत्र जिह्वाभिमर्शनात् ॥४१॥

दन्तश्लिष्टेषूच्छिष्टलेपेषु जिह्वाभिमर्शनादन्यत्र दन्तवन्नाशुचित्वम् ॥४१॥

तत्रापि—

प्राक्च्युतेरित्येके ॥ ४२ ॥

सत्यपि जिह्वाभिमर्शने यावल्लेपाः स्वस्थानान्न च्यवन्ते तावन्नाशुचित्वमिति ॥ ४२ ॥

च्युतेष्वास्रावविद्यान्निगिरन्नेव तच्छुचिः ॥ ४३ ॥

आस्राव आस्यजलम् । निगरणमन्तःप्रवेशनम् । च्युतेषु निगिरन्नेव तच्छुचिरिति वक्तव्य आस्रावविद्यादिति वचनमास्रावे च निगरणादेव शुचिरिति सूचनार्थम् ॥ ४३ ॥

न मुख्या विप्रुष उच्छिष्टं कुर्वन्ति । नचेदङ्गे निपतन्ति ॥ ४४॥

मुखे भवा मुख्या विप्रुष आस्रावबिन्दवः । भूम्यादिषु पतिता नोच्छिष्टतां नयन्ति ॥ ४४ ॥

लेपगन्धापकर्षणं शौचममेध्यस्य ॥ ४५ ॥

वसा शुक्रमसृङ्मज्जा मूत्रविट्कर्णविण्नखाः ।
श्लेष्माश्रु दूषिका स्वेदो द्वादशैते नृणां मलाः ॥ इति मनुः ॥

एतत्सर्वममेध्यशब्देन विवक्षितम् । अस्य यावता गन्धो लेपश्चापकृष्यतेऽपनीयते तावता शौचमिति । तत्र यस्य मलस्य गन्धमात्रं तस्य तदपकर्षणम् । यस्य गन्धो लेपश्च तस्य तदुभयापकर्षणम् ॥ ४५ ॥

तदद्भिः पूर्वं मृदा च ॥ ४६ ॥

तत्पूर्वं गन्धवन्मलापकर्षणमद्भिर्लेपगन्धवन्मलापकर्षणं मृदा चाद्भिश्चेति । इदं हस्तपादादेरमेध्यलिप्तस्य शौचम् । तैजसादिषु विशेषस्यापूर्वमुक्तत्वात् ॥ ४६ ॥

मूत्रपुरीषस्नेहविस्रंसनाभ्यवहारसंयोगेषु च ॥ ४७ ॥

चकारः पूर्वोक्तसमुच्चये । स्नेहो रेतः । मूत्रपुरीषस्नेहानां विस्रंसनं निरसनम् । अभ्यवहारमभ्यवहार्यद्रव्यं तेन संयोगः । एषु निमित्तेषु पूर्ववन्मृदा चाद्भिः शौचमिति ॥ ४७ ॥

यत्र चाऽऽम्नायो विदध्यात् ॥ ४८ ॥

यत्र विषये यच्छौचमाम्नायो विदध्यात्तत्र तदेव भवति । यथा चमसानामुच्छिष्टलिप्तानां मार्जालीयाद्भिः प्रक्षालनमिति ॥ ४८ ॥

अथ गुरूपसदनविधिः

पाणिना सव्यमुपसंगृह्यानङ्गुष्ठमधीहि भो इत्यामन्त्रयेद्गुरुं तत्र चक्षुर्मनःप्राणोपस्पर्शनं दर्भैः ॥ ४९ ॥

पाणिना स्वेन दक्षिणेन । सव्यमिति विशेषग्रहणाद्दक्षिणेनेति गम्यते । गुरोः सव्यं पादमनङ्गुष्ठमङ्गुष्ठवर्जं गृहीत्वाऽधीहि भो इति गुरुमामन्त्रयेत् । तत्र गुरौ मनश्चक्षुषी च निधायावहितः स्यादिति । प्राणाः शीर्षण्यानीन्द्रियाणि तेषामात्मीयानामाचमनोक्तक्रमेण दर्भैरुपस्पर्शनं कर्तव्यं माणवकेन ॥ ४९ ॥

प्राणायामास्त्रयः पञ्चदशमात्राः ॥ ५० ॥

कार्या इति शेषः । जानुपार्श्वतः परिमृज्य त्रुटिमेकां कुर्यात्मैका

१ग कपाफरव ।

मात्रा। ताः पञ्चदश पूर्यन्ते यावता कालेन तावन्तं कालं प्राणवायुं धारयेत्स एकः प्राणायामः। ते त्रयः कार्याः।

मनुः—सव्याहृतिकां सप्रणवां गायत्रीं शिरसा सह।
त्रिः पठेदायतप्राणः प्राणायामः स उच्यते॥ इति॥ ५०॥

प्राक्कूलेष्वासनं च॥ ५१॥

प्रागग्रेषु दर्भेष्वासनं चकारात्कर्तव्यमिति शेषः॥ ५१॥

ॐपूर्वा व्याहृतयः पञ्च सत्यान्ताः॥ ५२॥

व्याहृतिनाम भूर्भुवः स्वः सत्यं पुरुष इति पञ्च। अत्र तु पुरुषव्याहृतिश्चतुर्थी सत्यव्याहृतिः पञ्चमी वक्तव्या। ताश्च प्रत्येकं प्रणवपूर्वा वक्तव्याः॥ ५२॥

गुरोः पादोपसंग्रहणं प्रातः॥ ५३॥

अहरहः प्रातर्गुरोः पादोपसंग्रहणं कार्यम्।
मनुः—व्यत्यस्तपाणिना कार्यमुपसंग्रहणं गुरोः।
सव्येन सव्यः स्प्रष्टव्यो दक्षिणेन तु दक्षिणः॥ इति॥ ५३॥

ब्रह्मानुवचने चाऽऽद्यन्तयोः॥ ५४॥

ब्रह्म वेदः। अनुवचनमध्यापनम्। तत्राऽऽद्यन्तयोश्च गुरुपादोपसंग्रहणं कार्यम्॥ ५४॥

अनुज्ञात उपविशेत्प्राङ्मुखो दक्षिणतः शिष्य उदङ्मुखो वा॥ ५५॥

आचार्येणानुज्ञातस्तद्दक्षिणतः प्राङ्मुख उदङ्मुखो वोपविशेत्। कार्यानुगुणो विकल्पः॥ ५५॥

सावित्री चानुवचनम्॥ ५६॥

तत्सवितुर्वरेण्यमित्येषा नत्वन्या सवितृदेवत्या। सा वाऽनुवचनं प्रत्यध्ययनं पठनीयेति॥ ५६॥

आदितो ब्रह्मण आदाने॥ ५७॥

पाणिना सव्यमुपसंगृह्येत्यादि सावित्र्यनुवचनान्तं यदुक्तं तदिदं ब्रह्मणो वेदस्य गुरोः सकाशादादित आदानकाले कर्तव्यम्। उपनयनादनन्तरं

१ क. ग. प 'भर्तो'।

सावित्र्युपदेशकाले च, प्रत्यहं तु तत्र चक्षुर्मनस्त्वम् । प्रातरध्ययनाद्यन्तयोश्च, गुरोः पादोपसंग्रहणमनुज्ञातोपवेशनं च कर्तव्यम् ॥ ५७ ॥

ॐकारोऽन्यत्रापि ॥ ५८ ॥

सावित्र्यनुवचनादन्यत्राप्योंकारो वक्तव्यः । प्रत्यहमध्ययनकाल इत्यर्थः ॥ ५८ ॥

अन्तरागमने पुनरुपसदनम् ॥ ५९ ॥

गुरोः शिष्यस्य च मध्ये गमनमन्तरागमनम् । यस्य कस्याप्यन्तरागमने पुनरुपसदनं कर्तव्यम् । पाणिना सव्यमित्याद्योंकारोऽन्यत्रापीत्यन्तमुपसदनम् ॥ ५९ ॥

श्वनकुलसर्पमण्डूकमार्जाराणां त्र्यहमुपवासो विप्रवासश्च ॥ ६० ॥

श्वादीनामन्तरागमने त्र्यहमुपवासो विप्रवासश्च कर्तव्यः । विप्रवास आचार्यकुलादन्यत्र वासः । मनुस्तु—

पशुमण्डूकमार्जारश्वसर्पनकुलेषु च ।
अन्तरागमने विद्याद्वनध्यायमहर्निशम् ॥ इति ॥

तद्धारणाध्ययनविषयम् । गौतमीयं तु ग्रहणाध्ययनविषयम् ॥ ६० ॥

प्राणायामा घृतप्राशनं चेतरेषाम् ॥ ६१ ॥

इतरेषां श्वादिव्यतिरिक्तानां पश्वादीनामन्तरागमने प्राणायामास्त्रयः कार्या घृतप्राशनं च कार्यम् । एतत्सर्वं शिष्यस्य प्रायश्चित्तं न गुरोः । उभयोरित्यपरे ॥ ६१ ॥

श्मशानाभ्यध्ययने चैवम् ॥ ६२ ॥

अभिरुपरिभावे श्मशानस्योपर्यध्ययने चैवं प्रायश्चित्तं प्राणायामा घृतप्राशनं चेति । द्विरुक्तिरध्यायपरिसमाप्त्यर्था ॥ ६२ ॥

इति श्रीगौतमीयवृत्तौ हरदत्तविरचितायां मिताक्षरायां
प्रथमप्रश्ने प्रथमोऽध्यायः ॥

---

अथ द्वितीयोऽध्यायः ।

---

उपनीतप्रसङ्गेनानुपनीतधर्मा उच्यन्ते—

प्रागुपनयनात्कामचारः कामवादः कामभक्षः ॥ १ ॥

आषोडशाद्ब्राह्मणस्येत्यापत्कल्पोपनयनविषयम्। कामचार इच्छाचरणम्। अपण्यान्यपि विक्रीणीयाच्छूद्रवृत्त्याऽपि जीवेदिति। कामवादोऽश्लीलानृतादिवचनम्। कामभक्षो लशुनपर्युषितान्नादिभक्षणं चतुः पञ्चकृत्वो वा भोजनमित्येतावद्यस्य स तथोक्तः। न तु ब्रह्महत्यासुरापानाद्यतिप्रसङ्गः ॥ १ ॥

अहुतात् ॥ २ ॥

हुतशेषं पुरोडाशादि तदत्तीति हुतात्। तद्विपरीतोऽहुतात्। अनुपनीतो हुतं नाद्यादिति ॥ २ ॥

ब्रह्मचारी ॥ ३ ॥

कामचारादेरयमपवादः। आषोडशादित्युक्तत्वात्स्त्रीषु प्रसङ्गयोग्यताऽस्त्यतो ब्रह्मचारी जितेन्द्रियः स्यादिति। तथा च स्मृत्यन्तरे—

प्रायश्चित्तं विलुप्तमवकीर्णिव्रतेन शुद्धमुपनयेन्न सप्तदशमत ऊर्ध्वं व्रात्यावकीर्णिव्रताभ्यामिति ॥ ३ ॥

यथोपपादितमूत्रपुरीषो भवति ॥ ४ ॥

मूत्रपुरीषे यथोपपद्येते यस्य स तथोक्तः प्राङ्मुखादिरपि कुर्यात्। न भूमावनन्तर्धायेत्यादिस्थाननियमोऽपि नास्ति ॥ ४ ॥

नास्याऽऽचमनकल्पो विद्यते ॥ ५ ॥

कल्पनिषेधादाचमनमनुज्ञातं स्त्रीशूद्रवत् ॥ ५ ॥

अन्यत्रापमार्जनप्रधावनावोक्षणेभ्यः ॥ ६ ॥

अपमार्जनादीनि वर्जयित्वाऽऽचमनकल्पो नास्ति। अपमार्जनादिकमस्तीति यावत्। यद्यप्यपमार्जनादीन्याचमनकल्पे नान्तर्भवन्ति तथाऽपि पर्युदासमुखेन तानि विधीयन्ते। अत्र मार्जनं सोदकेन पाणिना परिमार्जनमुच्छिष्टादिलिप्तस्य। प्रधावनममेध्यादिलिप्तस्याद्भिर्मृदा च क्षालनम्। अवोक्षणं रजस्वलादिस्पृष्टस्य। इदमत्यन्तबालविषयम्। पञ्चवर्षादूर्ध्वं स्नानमिच्छन्ति। अस्यानुपनीतस्यैतावदुक्तमात्रकामचारादिव्यतिक्रमे प्रायश्चित्तमस्ति तत्र स्मृत्यन्तरे—

अशीतिर्यस्य वर्षाणि बालो वाऽप्यूनषोडशः ।
प्रायश्चित्तार्धमर्हन्ति स्त्रियो व्याधित एव च ॥
ऊनैकादशवर्षस्य पञ्चवर्षात्परस्य च ।
चरेद्गुरुः सुहृच्चैव प्रायश्चित्तं विशुद्धये ॥
अतो बालतरस्यास्य नापराधो न पातकम् ।
राजदण्डश्च तस्यातः प्रायश्चित्तं च नेष्यते ॥ इति ॥ ६ ॥

न तदुपस्पर्शनादशौचम् ॥ ७ ॥

तदुपस्पर्शनात्तस्याकृतोपनयनस्योदक्यादिस्पृष्टस्याप्युपस्पर्शनादशौचं न स्यात् । स्पृष्टास्पृष्टिरुपस्पर्शनं तेन स्नानं न कर्तव्यम् । मुक्तोच्छिष्टस्य कृतमूत्रपुरीष[स्य] स्पर्शनादपि नाऽऽचमनम् । इदमपि पञ्चवर्षात्प्रागेव । किमर्थं तर्हि तस्य शौचं विहितम् । न तावदनुष्ठानार्थं नापि स्पर्शयोग्यतार्थमकृतशौचस्यापि स्पर्शयोग्यत्वात् । रक्षणार्थमिति ब्रूमः । तथा च स्मृत्यन्तरम्—

बालस्य पञ्चमाद्वर्षाद्रक्षार्थं शौचमाचरेत् । इति ॥ ७ ॥

नत्वेवैनमग्निहवनबलिहरणयोर्नियुञ्ज्यात् ॥ ८ ॥

एनमनुपनीतमग्निहवन औपासनहोमादौ बलिहरणे वैश्वदेवादौ न नियुञ्ज्यान्न नियुञ्जीतेति यावत् । तुशब्दादुक्तादन्यत्रापि समन्त्रके कर्मणि न नियुञ्जीतेति । एवकारोऽवधारणे । अथाऽऽश्वलायनः—

" पाणिग्रहणादि गृह्यं परिचरेत्स्वयं पत्न्यपि वा पुत्रः कुमार्यन्तेवासी वा " इति ।

छन्दोगाश्च पत्नी जुहुयादिति पत्नीकुमार्याद्यनुज्ञातेऽस्मिन्पक्षे नत्वेवैनमित्यर्थः ॥ ८ ॥

न ब्रह्माभिव्याहारयेदन्यत्र स्वधानिनयनात् ॥ ९ ॥

ब्रह्म वेदः । एनमनुपनीतं ब्रह्म नाभिव्याहारयेन्नोच्चारयेत् । किमविशेषेणेति नेत्याह अन्यत्र स्वधानिनयनात् । पित्र्यस्य सर्वस्य कर्मण उपलक्षणम् । अन्यत्रोदककर्मस्वधापितृसंयुक्तेभ्य इति वासिष्ठे दर्शनात् । अगृहीताक्षरः पुत्रः पित्रोः संस्कारमर्हतीत्यादि च । अन्यस्यासंभवे सर्वं पित्र्यं कर्म तदानीं मन्त्रान्वाहयित्वाऽसौ कारयितव्यः ॥ ९ ॥

---

१ ग °नुज्ञातेऽस्मिन्पक्षे भवतीति शास्त्रार्थम् । २ ग °र्म यथाचोदितं मन्त्रान्वाचयित्वाऽसौ ।

उपनयनादिर्नियमः ॥ १० ॥

अग्नीन्धनादिर्यो नियमो वक्ष्यते स उपनयनादिरेव । अनुपनीताधिकारेण विच्छिन्नत्वादुपनीताधिकारार्थमिदम् ॥ १० ॥

उक्तं ब्रह्मचर्यम् ॥ ११ ॥

अनुपनीतस्य यदुक्तं ब्रह्मचर्यं तदुपनीतस्यापि समानम् । ननु च स्त्रीप्रेक्षणालम्भने इति निषेधो वक्ष्यते तथाऽपि स्मरणकीर्तनादिनिषेधार्थमिदम् ॥ ११ ॥

अग्नीन्धनभैक्षचरणे ॥ १२ ॥

अग्नीन्धनं समिद्धोमः । भिक्षाणां समूहो भैक्षं तदर्थं प्रतिगृहं चरणं भैक्षचरणं ते प्रत्यहं कर्तव्ये । तत्र मनुः—

दूरादाहृत्य समिधः संनिदध्याद्विहायसि ।
सायं प्रातश्च जुहुयात्ताभिरग्निमतन्द्रितः ॥
अकृत्वा भैक्षचरणमसमिध्य च पावकम् ।
अनातुरः सप्तरात्रमवकीर्णिव्रतं चरेत् । इति ॥

आपस्तम्बस्तु—सायमेवाग्निपूजेत्येक इति ॥ १२ ॥

सत्यवचनम् ॥ १३ ॥

उपनीतेन सत्यमेव वक्तव्यम् ॥ १३ ॥

अपामुपस्पर्शनम् ॥ १४ ॥

उपस्पर्शनं स्नानम् । तदप्यहरहः कर्तव्यम् ॥ १४ ॥

एके गोदानादि ॥ १५ ॥

गोदानं नाम षोडशे वर्षे कर्तव्यं व्रतं तद्व्रतेषु द्वितीयम् । छन्दोगानामेक आचार्या गोदानादि स्नानमिच्छन्ति न ततः प्राग्दीक्षितवदस्यापि ब्रह्मचर्यदीक्षानियुक्तत्वात्[1] । नित्यस्नानस्यायं प्रतिषेधः । नैमित्तिकं तु, कर्तव्यं, तत्र दण्डवदाप्लवनम् । नाप्सु श्लाघमानः स्नायादित्यापस्तम्बस्मरणात् ॥ १५ ॥

---

१ ग. °दर्श हरणं क° ।

बहिःसंध्यत्वं च ॥ १६ ॥

सायंप्रातर्द्वे संध्ये यस्य ग्रामाद्बहिर्भवतः स बहिःसंध्यस्तस्य भावः। ग्रामाद्बहिरेव संध्योपासनं कर्तव्यमिति ॥ १६ ॥

तत्कदा कथं चेत्याह—

तिष्ठेत्पूर्वामासीतोत्तरां सज्योतिष्याज्योतिषो दर्शनाद्वाग्यतः ॥ १७ ॥

प्रातःसंध्यां तिष्ठेत्सायंसंध्यामासीत। अत्यन्तसंयोगे द्वितीया। स्थानासनयोरुपक्रमोपसंहारौ कथयति सज्योतिषि काले समारभ्याऽऽज्योतिरन्तरदर्शनात्। प्रातर्नक्षत्रज्योतिराऽरभ्याऽऽसूर्यज्योतिर्दर्शनात्सायमादित्यज्योतिराऽरभ्याऽऽनक्षत्रदर्शनादिति। तावन्तं कालं वाग्यतश्च स्यात्। तथा च मनुः—

पूर्वां संध्यां जपंस्तिष्ठेत्सावित्रीमार्कदर्शनात्।
पश्चिमां तु समासीत सम्यगृक्षविभावनात्॥ इति ॥ १७ ॥

नाऽऽदित्यमीक्षेत ॥ १८ ॥

ब्रह्मचारिणोऽयं सदाऽऽदित्यदर्शने प्रतिषेधः। स्नातकस्य तु—
मानवी०—नेक्षेतोद्यन्तमादित्यं नास्तं यान्तं कदाचन।
नोपरक्तं न वारिस्थं न मध्यं नभसो गतम्॥ इति॥ १८ ॥

वर्जयेन्मधुमांसगन्धमाल्यदिवास्वप्नाभ्यञ्जनयानोपानच्छत्रकामक्रोधलोभमोहवादवादनस्नानदन्तधावनहर्षनृत्यगीतपरिवादभयानि ॥ १९ ॥

मध्वादीनि वर्जयेत्। मधु माक्षिकम्। मांसं मृगादेः। गन्धश्चन्दनादिः। माल्यानि पुष्पाणि। दिवास्वप्नो दिवानिद्रा। अञ्जनमक्ष्णोः। अभ्यञ्जनं तैलाभ्यङ्गः। यानं शकटादि। उपानच्छत्रे प्रसिद्धे। कामः स्त्रीसङ्गः। क्रोधः कोपः। लोभो द्रव्याभिलाषः। मोहो विवेकशून्यता। वादो बहुजल्पः। वादनं वीणादीनाम्। स्नानं सुखार्थमुष्णतोयादिना कण्ठादधः प्रक्षालनम्। दन्तधावनं दन्तमलापकर्षणम्। हर्षोऽभिमतलाभाच्चित्तोद्रेकः। नृत्यगीते प्रसिद्धे। परिवादः परदोषकथनम्। भयं भयहेतुः कान्तारप्रवेशादिः। इदं हर्षेऽपि द्रष्टव्यम्॥ १९ ॥

---

१ क. घ. ङ मद।

गुरुदर्शने कण्ठप्रावृतावसक्थिकापा-
श्रयणपादप्रसारणानि ॥ २० ॥

गुरवः पित्राचार्यादयः । तेषां दर्शनयोग्ये देशे कण्ठप्रावृतादीनि वर्जयेत् । कण्ठप्रावृतं कण्ठप्रावरणं वस्त्रादिना । अवसक्थिका, गुरौ पादमारोप्यावस्थानम् । अपाश्रयणं कुड्यस्तम्भाद्याश्रित्याऽऽसनम् । पादप्रसारणं प्रसिद्धम् । गुरुजनसकाशे विनयसंकोचेन तिष्ठेदित्यर्थः ॥ २० ॥

निष्ठीवितहसितविज्कम्भितावस्फोटनानि ॥ २१ ॥

वर्जयेदिति । निष्ठीवितं कण्ठाच्छ्लेष्मणः सशब्दं बहिर्निरसनम् । हसितं हासः । विजृम्भितं जृम्भिका । अवस्फोटनमङ्गुलीनां सशब्दमुपमर्दनम् ॥ २१ ॥

स्त्रीप्रेक्षणालम्भने मैथुनशङ्कायाम् ॥ २२ ॥

स्त्रीणां प्रेक्षणमवयवशो निरूपणं न याहच्छिकं दर्शनम् । आलम्भनं स्पर्शनं ते अपि वर्जयेत् । मैथुनशङ्कायामितिवचनाद्बालवृद्धातुरासु स्वयं च तथाविधस्य न दोषः ॥ २२ ॥

द्यूतं हीनसेवामदत्तादानं हिंसाम् ॥ २३ ॥

द्यूतं वर्जयेदिति । द्विविधं प्राण्यप्राणिभेदात् । प्राणिद्यूतं मेषयुद्धाद्यप्राणिद्यूतमक्षक्रीडादि । हीनसेवां हीनस्य सेवामधोजातिप्रभृतेः । हीना चासौ सेवा च शौचादिजलाहरणम् । अदत्तादानं केनाप्यदत्तस्योत्सृष्टस्याप्यस्वामिकस्याऽऽदानम् । हिंसा प्राणिपीडा ॥ २३ ॥

आचार्यतत्पुत्रस्त्रीदीक्षितनामानि ॥ २४ ॥

आचार्यस्य तत्पुत्रस्य तत्स्त्रिया दीक्षितस्य नामानि वर्जयेत् । परोक्षेऽप्यौपाधिकनामग्रहणं कर्तव्यमिति ॥ २४ ॥

मधुमांसाद्येतत्पर्यन्तं वर्जयेदिति क्रियान्वयोऽस्यापि सूत्रस्य—

शुक्रवाचो मद्यं नित्यं ब्राह्मणः ॥ २५ ॥

ब्राह्मणः शुक्रा अश्लीलाः परोद्वेगकारिण्यः । मद्यं मदकरं द्रव्यं ताश्च तच्च नित्यं वर्जयेत् । नित्यं ब्राह्मण इति वचनात्क्षत्रियवैश्ययोर्गृहस्थयोः पैष्टीव्यतिरिक्तमद्योपयोगे न प्रत्यवाय इति ॥ २५ ॥

१ ग. 'ष्ठीवन रि' । २ ग. भुजा या' । ३ ग. भुजाः ।

अधःशय्यासनी पूर्वोत्थायी जघन्यसंवेशी ॥ २६ ॥

अस्यार्थो मानवे स्पष्टः—
नीचं शय्यासनं चास्य नित्यं स्याद्गुरुसंनिधौ।
उत्तिष्ठेत्प्रथमं चास्य चरमं चैव संविशेत्॥ इति ॥ २६ ॥

वाग्बाहूदरसंयतः ॥ २७ ॥

वाक्संयमो बहुप्रलापविरहः। बाहुसंयमो लोष्टमर्दनाद्यभावः। उदरसंयमो मितभोजनम् ॥ २७ ॥

नामगोत्रे गुरोः समानतो निर्दिशेत् ॥ २८ ॥

आत्मनो नामगोत्रे गुरोः समानतो निर्दिशेत्। समानतो यथावदपलापरहितमित्यर्थः। अपर आह—गुरोर्नामगोत्रे समानतः सम्यगानतः प्रह्वो भूत्वा निर्दिशेदिति ॥ २८ ॥

अर्चिते श्रेयसि चैवम् ॥ २९ ॥

अर्चितो लोके पूजितः। श्रेयान्विद्यादिभिरधिकः। तयोरप्येवमेव सम्यगानत इति। अत्र स्मृत्यन्तरम्—
आचार्यं चैव तत्पुत्रं तद्भार्यां दीक्षितं गुरुम्।
पितरं वा पितृव्यं च मातुलं मातरं तथा ॥
हितैषिणं च विद्वांसं श्वशुरं पतिमेव च।
न ब्रूयान्नामतो विद्वान्मातुश्च भगिनीं तथा ॥

अर्चिते श्रेयसि चेत्येवंशब्दो यच्च यावच्च गुरावुक्तं तत्सर्वमतिदिशति। तेन शय्यासनादिकमपि तयोः संनिधौ नीचं भवतीति ॥ २९ ॥

शय्यासनस्थानानि विहाय प्रतिश्रवणम् ॥ ३० ॥

गुरावाज्ञापयति सति प्रतिश्रवणं प्रतिवचनं कुर्वञ्शय्यासनस्थानानि विहायाभिगच्छन्कुर्यात् ॥ ३० ॥

अभिक्रमणं वचनाददृष्टेन ॥ ३१ ॥

यदि बहिः स्थितो गुरुरपश्यन्नेव शिष्यं ब्रवीति तदा शिष्येणाभिक्रमणमुपसर्पणं कर्तव्यं न पुनरदृष्टोऽस्मीत्यनादरः कर्तव्यः ॥ ३१ ॥

अधस्थानासनस्तिर्यग्वातसेवायां गुरुदर्शने चोत्तिष्ठेत् ॥ ३२ ॥

यदा गुरुर्नीचैः स्थानमासनं चाधितिष्ठति स्वयमुच्चैःस्थानासनस्थस्तदा

गुरुं वृद्धोत्तिष्ठेत्। तिर्यग्वातसेवायां मूत्रपुरीषोत्सर्गादौ च गुरुं वृद्धोत्तिष्ठेत्। चकारः पूर्वापेक्षया समुच्चयार्थः ॥ ३२ ॥

गच्छन्तमनुव्रजेत् ॥ ३३ ॥

गच्छन्तं गुरुमनुगच्छेत् ॥ ३३ ॥

कर्म विज्ञाप्याऽऽख्याय ॥ ३४ ॥

यत्किंचिदस्य शिष्यस्य कर्तव्यं तस्य निष्कृतिरिदं करिष्यामीत्याचार्याय विज्ञाप्य पश्चाऽऽचार्यो(र्यै)पयिकमुदकुम्भहरणादि तत्स्वयमेव ज्ञात्वा कृत्वा च तस्मै कृतमित्याख्याय वर्तितव्यमित्यर्थः ॥ ३४ ॥

आहूतोऽध्यायी ॥ ३५ ॥

गुरुणाऽऽहूतः सन्नधीयीत न तु स्वयं चोदयेदिति ॥ ३५ ॥

युक्तः प्रियहितयोः ॥ ३६ ॥

आचार्यस्य यत्प्रियं हितं च तत्र युक्तस्तत्परः स्यात्। प्रियं तत्कालप्रीतिकरम्। हितं कालान्तरे * तत्करम् ॥ ३६ ॥

तद्भार्यापुत्रेषु चैवम् ॥ ३७ ॥

तस्याऽऽचार्यस्य भार्यापुत्राश्च तेषु चैवमाचार्यवद्वर्तितव्यम् ॥ ३७ ॥

अस्यापवादः—

नोच्छिष्टाशनस्नापनप्रसाधनपादप्रक्षालनोन्मर्दनोपसंग्रहणानि ॥ ३८ ॥

उच्छिष्टाशनं भुक्तशेषाशनम्। स्नापनं स्नानीयादिभिः शिरोङ्गमर्दनपूर्वकमभिषेकः। प्रसाधनमलंकरणम्। पादप्रक्षालनं प्रसिद्धम्। उन्मर्दनमभ्यङ्गशरीरसंवाहनादि। उपसंग्रहणं व्यत्यस्तपाणिनेत्यादि पूर्वोक्तम्। एतानि गुरोर्भार्यापुत्रेषु च न कर्तव्यानि। अत एवाऽऽचार्ये कर्तव्यानीति सिद्धम् ॥ ३८ ॥

अथोपसंग्रहणस्य प्रतिप्रसवः—

---

* ग. पुस्तके समासे—प्रियकरम्।

---

१ ग. घ. °हूताध्या°।

विप्रोष्योपसंग्रहणं गुरुभार्याणाम् ॥ ३९ ॥

विप्रोष्य प्रवासं गत्वा प्रत्यागतेन गुरुभार्याणामुपसंग्रहणं कार्यम् ॥३९॥ तत्रापि—

नैके युवतीनां व्यवहारप्राप्तेन ॥ ४० ॥

एके त्वाचार्या युवतीनां गुरुभार्याणां व्यवहारप्राप्तेन षोडशवर्षप्रायेण शिष्येण विप्रोष्याप्युपसंग्रहणं न कार्यमिति मन्यन्ते ॥ ४० ॥

अग्नीन्धनभैक्ष्यचरणे इत्युक्तम् ।

तत्राग्नीन्धनस्य प्रतिगृह्यं व्यवस्थितत्वात्साधारणभैक्ष्यचरणे विधिमाह—

सार्ववर्णिकभैक्ष्यचरणमभिशस्तपतितवर्जम् ॥ ४१ ॥

सर्वेषु वर्णेषु भवं सार्ववर्णिकम् । अभिशस्तान्पतितांश्च वर्जयित्वा सर्वेषु वर्णेषु भैक्ष्यं चरितव्यम् । अभिशस्ता उपपातकिनः ॥ ४१ ॥

आदिमध्यान्तेषु भवच्छब्दः प्रयोज्यो वर्णानुक्रमेण ॥ ४२ ॥

भिक्षां देहीति पदद्वयस्याऽऽदिमध्यान्तेषु वर्णक्रमेण भवच्छब्दः संबुद्ध्यन्तः प्रयोक्तव्यः । स्त्रीषु स्त्रीलिङ्गः । ब्राह्मणस्य भवन्भिक्षां देहि । ब्राह्मण्यां भवति भिक्षां देहि । क्षत्रियस्य भिक्षां भवन्देहि भिक्षां भवति देहि । वैश्यस्य भिक्षां देहि भवन् । भिक्षां देहि भवति ॥ ४२ ॥

आचार्यज्ञातिगुरु[स्वे]ष्वलाभेऽन्यत्र ॥ ४३ ॥

आचार्य उक्तः । ज्ञातिः पितृव्यादिः सपिण्डः । गुरुर्मातुलादिः । स्वमात्मीयग्रहणम् । अन्यत्र भिक्षाया अभावे, आचार्यादिगृहेषु भैक्ष्यं चरितव्यम् ॥ ४३ ॥

तेषां पूर्वं पूर्वं परिहरेत् ॥ ४४ ॥

तेषामाचार्यादीनां यो यः प्रथमनिर्दिष्टस्तं तं परिहरेत् । अन्यत्रालाभे स्वगृहे, तत्रालाभे गुरुषु, तत्रालाभे ज्ञातिषु, तत्रालाभ आचार्यगृह इति ॥ ४४ ॥

निवेद्य गुरवेऽनुज्ञातो भुञ्जीत ॥ ४५ ॥

इदमानीतं भैक्ष्यमिति गुरवे निवेद्य तदनुज्ञातो भुञ्जीत । यदि गुरुः स्वयं गृह्णीयात्ततोऽन्यदाहरेत् ॥ ४५ ॥

---

१ ग. 'धरिष्ठ वा'।

असंनिधौ तद्भार्यापुत्रसब्रह्मचारिभ्यः ॥ ४६ ॥

आचार्यासंनिधाने तद्भार्यादिभ्यो यथासंमर्थ निवेद्य तैरनुज्ञातो भुञ्जीत ॥ ४६ ॥

वाग्यतस्तृप्यन्नलोलुप्यमानः संनिधायोदकम् ॥ ४७ ॥

यावद्भुक्ति वाचंयमः । तृप्यन्नन्नदर्शनेन हृष्यन् । अलोलुप्यमानोऽतिस्पृहामकुर्वन् । संनिधायान्तर्भावितण्यर्थः संनिधाप्येति । उदकमुदकभाजनमिति ॥ ४७ ॥

शिष्यशासनप्रकारमाह—

शिष्याशिष्टिरवधेन ॥ ४८ ॥

वधस्ताडनम् । अताडयता गुरुणा भर्त्सनादिभिः शिष्यः शास्यः ॥४८॥

अशक्तौ रज्जुवेणुविदलाभ्यां तनुभ्याम् ॥ ४९ ॥

यदि भर्त्सनादिभिः शासितुमशक्यस्ततो रज्ज्वा तन्वा, तनुना वेणुविदलेन वेति । द्वंद्वनिर्दिष्टयोरपि विकल्पो रज्ज्वा वेणुदलेन वेति मानवे दर्शनात् । ताभ्यां दुर्बलाभ्यां ताडयित्वाऽपि शासनीयः ॥ ४९ ॥

अन्येन घ्नन्राज्ञा शास्यः ॥ ५० ॥

हस्तादिना क्रोधवशेन ताडयन्राज्ञा शास्य आचार्यः । एवं शिष्यस्य गुरुकुले वास उक्तः ॥ ५० ॥

कियन्तं कालमित्यत आह—

द्वादश वर्षाण्येकवेदे ब्रह्मचर्यं चरेत् ॥ ५१ ॥

यद्यप्येकैकस्य वेदस्य बह्व्यः शाखाः । एकविंशतिधा बह्वृच एकशतं यजुःशाखाः सहस्रवर्त्मा सामवेदो नवधाऽऽथर्वणो वेद इति । तथाऽपि तत्र तत्र वेदे पूर्वैरध्ययनानुष्ठानाभ्यां परिगृहीता यावती शाखा तावत्यत्र वेदशब्देन विवक्षिता । य एकं वेदमधीते स द्वादश वर्षाणि गुरुकुले ब्रह्मचर्यं चरेत् ॥ ५१ ॥

प्रतिद्वादश वा सर्वेषु ॥ ५२ ॥

यस्तु चतुरो वेदानध्येतुं शक्तः स प्रतिद्वादश प्रतिवेदे द्वादश वर्षाणीत्यर्थः । यथाऽऽहाऽऽपस्तम्बः—

---

१ ख. ग. घ °रिसन्ध ।

उपेतस्याऽऽचार्यकुले ब्रह्मचारिवासोऽष्टाचत्वारिंशद्वत्सराणीति ॥५२॥

ग्रहणान्तं वा ॥ ५३ ॥

यावता कालेनैको वेदो द्वौ त्रयश्चतुरो वा ग्रहीतुं शक्यास्तावन्तं कालमिति ॥ ५३ ॥

विद्यान्ते गुरुरर्थेन निमन्त्र्यः ॥ ५४ ॥

विद्यासमाप्तौ गुरुरर्थेन प्रयोजनेन निमन्त्र्यः प्रष्टव्यः । गुरो, इदं धनमाहराणीति ॥ ५४ ॥

कृत्वाऽनुज्ञातस्य वा स्नानम् ॥ ५५ ॥

तत आहरेत्याचार्योक्तं कृत्वा स्नानं कर्तव्यम् । यद्वा त्वद्गुणैरेवाहमस्मि तोषितो धनेनालमिति तेनानुज्ञातस्य वा, स्नानं समावर्तनं कर्तव्यमिति ॥ ५५ ॥

आचार्यः श्रेष्ठो गुरूणां मातेत्येके [मातेत्येके] ॥ ५६ ॥

गुरूणां पित्रादीनां मध्य उक्तलक्षण आचार्यः श्रेष्ठः । स हि विद्यातस्तं जनयति तच्छ्रेष्ठं जन्म । तेनानेकगुरुसमवाये स एव प्रथमं पूज्यः । एके त्वाचार्या माता श्रेष्ठेति मन्यन्ते । तथा च वसिष्ठः—

उपाध्यायाद्दशाऽऽचार्य आचार्याणां शतं पिता ।
पितुर्दशगुणं माता गौरवेणातिरिच्यते ॥

आपस्तम्बोऽपि—

माता पुत्रत्वस्य भूयाँसि कर्माण्यारमते तस्याँ शुश्रूषा नित्या पतितायामपि ॥

द्विरुक्तिरध्यायपरिसमाप्त्यर्था ॥ ५६ ॥

इति श्रीगौतमीयवृत्तौ हरदत्तविरचितायां मिताक्षराटीकायां द्वितीयोऽध्यायः ॥ २ ॥

---

अथ तृतीयोऽध्यायः ।

---

तस्याऽऽश्रमविकल्पमेके ब्रुवते ॥ १ ॥

तस्यैवमधीतवेदस्य ब्रह्मचारिणो वक्ष्यमाणाश्चत्वार आश्रमा विक-

---

१ ग. 'तोषित । २ क. ख. घ. 'म विकल्पमे' ।

ल्पन्त इत्येक आचार्या ब्रुवते । अन्ये तु समुच्चीयन्त इति । तत्राऽऽपस्तम्बः—

तेषु सर्वेषु यथोपदेशमव्यग्रो वर्तमानः क्षेमं गच्छतीति । बुद्ध्वा कर्माणि यत्कामयेत तदारभेतेति च । तथा च ब्रह्मचर्याश्रममुक्त्वा "अत एव ब्रह्मचर्यवान्प्रव्रजति" इति बौधायनः ।

मनुना तु समुच्चयो दर्शितः—

ऋणानि त्रीण्यपाकृत्य मनो मोक्षे निवेशयेत् ।
अनपाकृत्य मोक्षं तु व्रजमानः पतत्यधः ॥
सर्वेऽपि क्रमशस्त्वेते यथाशास्त्रं निषेविताः ।
यथोक्तकारिणं विप्रं नयन्ति परमां गतिम् । इति ॥ १ ॥

के पुनस्त आश्रमाः—

ब्रह्मचारी गृहस्थो भिक्षुर्वैखानसः ॥ २ ॥

यद्यप्यसौ पूर्वमपि ब्रह्मचर्याश्रम उक्तस्तथाऽपि प्रपित्सितनैष्ठिकब्रह्मचारित्वमत्र विवक्षितम् । भिक्षुः संन्यासी, वैखानसो वानप्रस्थः । वैखानसप्रोक्तेन मार्गेण वर्तत इति । तेन स आश्रमः प्राधान्येन दर्शितः । शास्त्रान्तरेषु वैखानसस्तृतीयो भिक्षुश्चतुर्थ आश्रमः । इह तु क्रमभेदः प्रागुक्ताश्च आश्रमिण इत्यत्र वैखानसवर्जनार्थः ॥ २ ॥

तेषां गृहस्थो योनिरप्रजनत्वादितरेषाम् ॥ ३ ॥

तेषां चतुर्ण्वाश्रमेषु वर्तमानानां गृहस्थो योनिरुत्पत्तिस्थानम् । गृहस्थेनैवोत्पादिताश्चतुर्भिराश्रमैरधिक्रियन्ते गृहस्थव्यतिरिक्ताश्रमस्थानां प्रजोत्पादनस्य निषिद्धत्वात् । तत्र शातातपः—

चण्डालाः प्रत्यवसिताः परिव्राजकतापसाः ।
तेषां जातान्यपत्यानि चण्डालैः सह वासयेत् ॥ इति ॥ ३ ॥

इदानीमाश्रमधर्मान्वक्ष्यन्प्रथमनिर्दिष्टस्य ब्रह्मचारिण आह—

तत्रोक्तं ब्रह्मचारिणः ॥ ४ ॥

तत्र तेषां मध्ये ब्रह्मचारिणो नैष्ठिकस्य यदुपकुर्वाणस्योपनयनादिर्नियम इत्यारभ्योक्तं तद्देवास्यापीत्युक्तं भवति ॥ ४ ॥

१ क. ख. घ. 'मुच्चीय॰'।

तत्र विशेषः—

आचार्याधीनत्वमान्तम् ॥ ४ ॥

आन्तमादेहपातम् । आचार्यकुल एव तच्छुश्रूषया वर्तेत ॥ ५ ॥

गुरोः कर्मशेषेण जपेत् ॥ ६ ॥

आचार्ये प्रकृते गुरुशब्दः पित्रोरपि ग्रहणार्थः । ततश्चाऽऽचार्यं पितरौ च शुश्रूषमाणस्तद्व्यतिरिक्ते काले जपेत् । वेदमधीयीत । न तु स्वाधीनो भवेत् ॥ ६ ॥

गुर्वभावे तदपत्यवृत्तिस्तदभावे वृद्धे सब्रह्मचारिण्यग्नौ वा ॥ ७ ॥

आचार्ये या वृत्तिरभिहिता सा तदभावे तत्पुत्रे, तत्पुत्राभावे वृद्धे विद्यया च वयसा वाऽधिके, वृद्धाभावे तथाभूते सब्रह्मचारिणि, सब्रह्मचार्यभावेऽग्नौ वा कर्तव्या । समिदाधानादिभिरग्नौ वृत्तिः ॥ ७ ॥

एवंवृत्तो ब्रह्मलोकमवाप्नोति जितेन्द्रियः ॥ ८ ॥

स्पष्टोऽर्थः । जितेन्द्रियत्वं मनुना दर्शितम्—

श्रुत्वा स्पृष्ट्वा च दृष्ट्वा च भुक्त्वा घ्रात्वा च यो नरः ।
न हृष्यति ग्लायति वा स विज्ञेयो जितेन्द्रियः ॥ इति ॥ ८ ॥

उत्तरेषां चैतदविरोधि ॥ ९ ॥

उत्तरेषामप्याश्रमाणामस्मिन्वृत्ते यदविरुद्धं तत्समानं यथा द्यूतादिवर्जनम् । विरुद्धं यथा—अग्निकार्यं प्रव्रजितस्य, गुरुकुलवासो वैखानसस्य, ब्रह्मचर्यं गृहस्थस्येत्यपरा वृत्तिः । उत्तरेषां चाऽऽश्रमाणां धर्मजातमेतस्य द्रष्टव्यम् । किमविशेषेण । न । एतदविरोधि । एतदाश्रमधर्माविरोधि न म्लेच्छाशुच्यधार्मिकैः सह संभाषेतेत्येवमाद्यस्यापि भवति ॥ ९ ॥

बहुवक्तव्यत्वात्क्रमप्राप्तमपि गृहस्थमुल्लङ्घ्य भिक्षोर्धर्मानाह—

अनिचयो भिक्षुः ॥ १० ॥

निचयो द्रव्यसंग्रहस्तद्रहितः स्यात् ॥ १० ॥

ऊर्ध्वरेताः ॥ ११ ॥

उत्तरेषां चैतदविरोधीति जितेन्द्रियत्वे सिद्धेऽपि पुनरूर्ध्वरेता इति रेतसः स्रोतो मङ्गो यथा भवेत्तथा प्रयतेतेत्येवमर्थम् ॥ ११ ॥

---

१ क. ख घ. °व भिक्षो । ग. °दं भक्षो । २ ग. आचरेत् । ३ क. ख. घ. देह । ४ ग. मानवीयपद्याऽहतारिशाभिन्नं वि° ।

ध्रुवशीलो वर्षासु ॥ १२ ॥

वर्षाशब्दो नित्यं बहुवचनान्तः । वर्षर्तौ सति ध्रुवशीलः स्यादेकत्र तिष्ठेदिति ॥ १२ ॥

भिक्षार्थी ग्राममियात् ॥ १३ ॥

भिक्षाकाल एव ग्रामं प्रविशेत् । शेषकालं देवालयादौ वृक्षमूलेषु वा वसेत् ॥ १३ ॥

जघन्यमनिवृत्तं चरेत् ॥ १४ ॥

भिक्षाकाले यद्गृहमनुपपत्त्या विलम्बितं न तद्भूयस्तदहः प्रविशेत् । तत्र मनुः—

विधूमे सन्नमुसले व्यङ्गारेऽभुक्तवज्जने ।
वृत्ते शरावसंपाते भिक्षां नित्यं यतिश्चरेत् ॥ १४ ॥

निवृत्ताशीः ॥ १५ ॥

अधिकभिक्षालाभार्थं गृहेष्वाशीर्वादपरो न स्यात् ॥ १५ ॥

वाक्चक्षुःकर्मसंयतः ॥ १६ ॥

वाक्संयमो मौनम् । चक्षुःसंयमः पादविक्षेपप्रदेशादन्यत्र चक्षुषोरप्रवर्तनम् । कर्मसंयमो भिक्षोश्चोदितकर्मानतिक्रमः । अत्र वाक्संयमविरोधे तु स्मृत्यन्तरम्—

धर्मयोगं पथि प्रश्नं स्वाध्यायं च तथैव च ।
भिक्षार्थं देहि वचनं न निन्दति यतेरपि ॥ इति ॥ १६ ॥

कौपीनाच्छादनार्थं वासो बिभृयात् ॥ १७ ॥

कौपीनमिति गुह्यप्रदेशस्य नाम । तदाच्छाद्यते यावता तावदेव वासो बिभृयात् । अधिकं तु प्रावरणादि न बिभृयात् ॥ १७ ॥

प्रहीणमेके निर्णिज्य ॥ १८ ॥

एके मन्यन्ते तदपि कौपीनाच्छादनं प्रहीणं जीर्णं तथाऽन्यैस्त्यक्तं प्रक्षाल्य बिभृयात् ॥ १८ ॥

---

१ क °मभिवर्षं च । २ क. ङ. क. °शीय । ३ क. यम ॥ १६ ॥ ग. यमा वि° । ४ ग. प्रोक्ष्य ।

नाविप्रयुक्तमोषधिवनस्पतीनामङ्गमुपाददीत ॥ १९ ॥

वृक्षलतादीनामङ्गं फलपत्राद्यविप्रयुक्तं ततोऽप्रच्युतं नोपाददीत न गृह्णीयात्। स्वयं पतितं तु गृह्णीयात् ॥ १९ ॥

न द्वितीयामपर्तु रात्रिं ग्रामे वसेत् ॥ २० ॥

यत्र वर्षर्तौ ध्रुवशीलतोक्ता तमृतुं वर्जयित्वा, ऋत्वन्तरेषु यत्रैकां रात्रिमुषितस्तत्र ग्रामे न द्वितीयां वसेत्। ग्रामैकरात्रः स्यादिति ॥२०॥

मुण्डः शिखी वा ॥ २१ ॥

सर्वानेव केशान्सह शिखया वापयेत्। शिखावर्जं वापयेद्वा। मुण्डः शिखी वेति विकल्पेनैकदण्डत्रिदण्डग्रहणविकल्पोऽप्युक्तः। अत्र श्रुतिस्मृती—

अग्नेरिव शिखा नान्या यस्य ज्ञानमयी शिखा।
स शिखीत्युच्यते विद्वान्नेतरे केशधारिणः ॥ इति।
सशिखं वपनं कृत्वा बहिः सूत्रं त्यजेद्बुधः।
एकदण्डं गृहीत्वा च भिक्षुधर्मं समाचरेत् ॥
शिखी यज्ञोपवीती च यद्वा सम्यक्प्रबोधितः।
त्रिदण्डग्रहणं कृत्वा भिक्षुधर्मं समाचरेत् ॥ २१ ॥

वर्जयेद्बीजवधम् ॥ २२ ॥

बीजानि व्रीह्यादीनि तेषां वधो मुसलादिनाऽवघातस्तं न कुर्यात्। तेन तण्डुलस्यौदनीकरणमप्युपलक्षितम्। पक्वान्नस्यैव स्वामित्वादस्य ॥ २२ ॥

समो भूतेषु हिंसानुग्रहयोः ॥ २३ ॥

हिंसायामनुग्रहे च भूतेषु समो यो हिनस्ति यो वाऽनुगृह्णाति तत्र तत्र निर्विकार इति ॥ २३ ॥

अनारम्भी ॥ २४ ॥

ऐहिकं पारत्रिकं च न कंचिदारम्भं कुर्यात्। यथाऽऽहाऽऽपस्तवः—
अनिहोऽनमुत्रश्चरेत्। इति ॥ २४ ॥

अथ वैखानसस्याऽऽह—

---

१ प. 'द्वा यद्वात्र°'।

वैखानसो वने मूलफलाशी तपःशीलः ॥ २५ ॥

वैखानसो वानप्रस्थो वने वसन्मूलानि फलानि च पक्वानि चाऽश्नीयान्न पुनरोदनम् । तपः कायपरिशोषणम् । ततश्च मूलफलान्यपि स्वल्पान्येवाश्नीयादिति ॥ २५ ॥

श्रावणकेनाग्निमाधाय ॥ २६ ॥

श्रावणकं नाम वैखानसं शास्त्रं तदुक्तेन प्रकारेणाग्निमाधाय सायं प्रातर्जुहुयादिति शेषः ॥ २६ ॥

अग्राम्यभोजी ॥ २७ ॥

फलमूलान्यपि ग्राम्याणि न भुञ्जीत ॥ २७ ॥

देवपितृमनुष्यभूतर्षिपूजकः ॥ २८ ॥

वन्यैरेव फलमूलैरहरहः पञ्च महायज्ञान्कुर्यात् । अत्र मनुः—

आरण्यैर्विविधैर्मेध्यैः शाकमूलफलेन वा ।
एतानेव महायज्ञान्निर्वपेद्विधिपूर्वकम् । इति ॥ २८ ॥

सर्वातिथिः प्रतिषिद्धवर्जम् ॥ २९ ॥

य एनमुपागच्छन्ति ते सर्व(र्वे)स्यातिथयः । न पुनर्ब्राह्मणस्यानतिथिरब्राह्मण इत्ययं नियमोऽस्ति । तत्रापि स्तेनपतितादीन्वर्जयेत्प्रतिषिद्धवर्जम् ॥ २९ ॥

वैष्कमप्युपयुञ्जीत ॥ ३० ॥

विष्का दुष्टमृगा व्याघ्रादयस्तैर्हतं मांसं वैष्कं तदप्युपयुञ्जीत । अपिशब्दो गौणार्थः । फलमूलाद्यभावे तदपि भक्ष्यमिति । तत्रापि पञ्च पञ्चनखा भक्ष्या इत्येतद्व्यतिरिक्तं वर्जयित्वा । प्रतिषिद्धवर्जमिति पदं काकाक्षिन्यायेनोभयत्र संबध्यते ॥ ३० ॥

न फालकृष्टमधितिष्ठेत् ॥ ३१ ॥

अरण्ये वसन्हलेन कृष्टं प्रदेशं नाधिवसेत् ॥ ३१ ॥

ग्रामं च न प्रविशेत् ॥ ३२ ॥

वने वसतोऽपि याद्दच्छिकोपग्रामप्रवेशो निषिद्धः ॥ ३२ ॥

---

१ ङ. छ. घ. 'षिद्ध ग्रा' ।

जटिलश्चीराजिनवासाः ॥ ३३ ॥

जटिलः केशश्मश्रुलोमनखधारी । चीरं दर्भादिनिर्मितं वासः । अजिनमुत्तरीयम् । तथा च स्मृत्यन्तरे व्यवस्थादर्शनात् ॥ ३३ ॥

नातिसंवत्सरं भुञ्जीत ॥ ३४ ॥

संवत्सरमतिक्रान्तमतिसंवत्सरं तदारण्यमपि नाश्नीयात् । अत्र मनुः—

त्यजेदाश्वयुजे मासि ह्युत्पन्नं पूर्वसंचितम् ।
जीर्णानि चैव वासांसि पुष्पमूलफलानि च ॥ इति ॥ ३४ ॥

उक्ता आश्रमास्तेषां विकल्पसमुच्चयावपि दर्शितौ तेषां प्राधान्यं दर्शयति—

ऐकाश्रम्यं त्वाचार्याः प्रत्यक्षविधाना-
द्गार्हस्थ्यस्य गार्हस्थ्यस्य ॥ ३५ ॥

तुशब्दो विशेषवाची । सर्वेषु वेदशास्त्रेतिहासपुराणेषु गृहस्थधर्म एवाग्निहोत्रादयः प्राचुर्येण विधीयन्ते । ततः सर्व एवाऽऽचार्या गार्हस्थस्यैकाश्रम्यं प्राधान्यं मन्यन्ते । तत्राशक्तानामितराश्रमधर्मा विधीयन्ते । प्रत्यक्षविधानादितराश्रमाणां प्रत्यक्षेणोपजीव्यत्वात् । द्विरुक्तिर्व्याख्याता ॥ ३५ ॥

इति श्रीहरदत्तविरचितायां गौतमविवृतौ मिताक्षरायां
तृतीयोऽध्यायः ॥ ३ ॥

---

अथ चतुर्थोऽध्यायः ।

---

गृहस्थधर्मा उच्यन्ते—

गृहस्थः सदृशीं भार्यां विन्देता-
नन्यपूर्वां यवीयसीम् ॥ १ ॥

गृहस्थ इति भाविसंज्ञाव्यपदेशः । अथवा गृहस्थस्य ये धर्मास्ते विवाहात्प्रागपि स्नातकस्यापि समा इति दर्शनार्थं च । जात्या कुलेन

---

१ ग 'ति स्नात्वर्ने ।

च सदृशीम् । अन्यस्मै वाचाऽप्यदत्ताम् । अवरवयसीमेवं भूतां भार्यां विन्देतोद्वहेत् ॥ १ ॥

असमानप्रवरैर्विवाहः ॥ २ ॥

समान एकः प्रवरो येषां तैः सह न विवाहः । तद्यथा हरितकुत्सपिङ्गशङ्खदर्भहैमकर्भवानामाङ्गिरसाम्बरीषयौवनाश्वेति । हारीतः कौत्सीं नोद्वहेदित्यादिप्रवरप्रपञ्च आपस्तम्बीये द्रष्टव्यः ॥ २ ॥

ऊर्ध्वं सप्तमात्पितृबन्धुभ्यो बीजिनश्च

मातृबन्धुभ्यः पञ्चमात् ॥ ३ ॥

पितरमारभ्य तद्बन्धुवर्गे गण्यमाने सप्तमाच्छिरस ऊर्ध्वं जातां कन्यकामुद्वहेत् । मातरमारभ्य तद्बन्धुवर्गे गण्यमाने पञ्चमाच्छिरस ऊर्ध्वं जातामुद्वहेत् । बीजिनश्च सप्तमादूर्ध्वमिति चकारात्सिध्यति । यथा क्षेत्री वन्ध्यो रुग्णो वा देवरं प्रार्थयते मम क्षेत्रे पुत्रमुत्पादयेति । यद्वा संतानक्षये विधवां गुरवो नियुञ्जते, इदं विचित्रवीर्यक्षेत्रे सत्यवतीवाक्याद्व्यासो धृतराष्ट्रादीनुत्पादितवानिति । यथाऽऽह याज्ञवल्क्यः—

अपुत्रेण परक्षेत्रे नियोगोत्पादितः सुतः ।
उभयोरप्यसौ रिक्थी पिण्डदाता च धर्मतः ॥ इति ।

तद्विषयमेतद्बीजिनश्चेति ॥ ३ ॥

अथ विवाहभेदाः—

ब्राह्मो विद्याचारित्रबन्धुशीलसंपन्नाय दद्यादाच्छाद्यालंकृताम् ॥४॥

विद्या वेदविद्या । चारित्रं चोदितकर्मानुष्ठानम् । बन्धवो ज्ञातयो मातुलादयश्च शीलं विहितेषु श्रद्धा । एतैर्गुणैः संपन्नाय वस्त्रयुगुलेनाऽऽच्छाद्य यथाविभवमलंकृतां कन्यां दद्यात् । एवंविधस्य विवाहस्य ब्राह्मसंज्ञा ॥ ४ ॥

संयोगमन्त्रः प्राजापत्ये सह धर्मश्चर्यतामिति ॥ ५ ॥

प्राजापत्यसंज्ञके विवाहे सह धर्मश्चर्यतामिति प्रदानमन्त्रः । यद्यपि ब्राह्मादिष्वपि सह धर्मचर्या भवति तथाऽप्यान्तादनया सह धर्मश्चरितव्यः । नाश्रमान्तरं प्रवेष्टव्यं नापि रूपान्तरमुपपन्तव्यमिति

१ क. ख. घ. [illegible] ।

मन्त्रेण समयः क्रियते । एष ब्राह्मादेः प्राजापत्यस्य विशेषः । आच्छाद्यालंकृतामिति समानम् ॥ ५ ॥

आर्षे गोमिथुनं कन्यावते दद्यात् ॥ ६ ॥

आर्षसंज्ञके विवाहे गोमिथुनं स्त्रीपुंरूपं कन्यावते दद्याद्वरस्तद्बन्धुर्वा कश्चित् । आच्छाद्यालंकृतामिति समानम् ॥ ६ ॥

अन्तर्वेद्यृत्विजे दानं दैवोऽलंकृत्य ॥ ७ ॥

अन्तर्वेदि, वेद्या दक्षिणाकाल ऋत्विजे कर्म कुर्वते यदलंकृत्य कन्याया दानं स दैवो विवाहः । आच्छाद्यालंकृतामिति । प्रकृते पुनरलंकृत्येति वचनं वरस्याप्यङ्गुलीयकादिभिरलंकारार्थम् ॥ ७ ॥

इच्छन्त्याः स्वयं संयोगो गान्धर्वः ॥ ८ ॥

इच्छन्त्या वध्वा इच्छतो वरस्य संयोगो गान्धर्वो विवाहः । स्वयमिति वचनाद्वरेच्छा गम्यते ॥ ८ ॥

वित्तेनाऽऽनतिः स्त्रीमतामासुरः ॥ ९ ॥

यत्र स्त्रीमतां कन्यावतां पित्रादीनां वित्तेन धनप्रदानेनाऽऽनतिरार्जनं क्रियते स आसुरो विवाहः । अत्र याज्ञवल्क्यः—

आसुरो द्रविणादानादिति । मनुश्च—

ज्ञातिभ्यो द्रविणं दत्त्वा कन्यायै च स्वशक्तितः ।
कन्याप्रदानं स्वाच्छन्द्यादासुरो धर्म उच्यते ॥

स्त्रीमतामितिवचनान्न केवलं कन्यायै धनप्रदानमासुरत्वनिबन्धनम् । तथा च स्मृत्यन्तरम्—

यासां नाऽऽददते शुल्कं ज्ञातयो न स विक्रयः ।
अर्हणं तत्कुमारीणामानृशंस्यान्न केवलम् ॥ इति ॥ ९ ॥

प्रसह्याऽऽदानाद्राक्षसः ॥ १० ॥

बलात्कारेण कन्यायतो निर्जित्य यदादानं स राक्षसो विवाहः ॥१०॥

असंविज्ञातोपसंगमात्पैशाचः ॥ ११ ॥

सुप्ता मत्ता प्रमत्ता वा यत्रासंविज्ञातमुपगम्यते स पैशाचो विवाहः॥११॥

---

१ क. ख. घ. मन्त्रो नैव । २ क. ख. घ. °न्नादत्तेव° ।

एवमष्टौ विवाहा उक्तास्तेषु—

चत्वारो धर्म्याः प्रथमाः ॥ १२ ॥

आदितश्चत्वारो विवाहाः सर्ववर्णानां धर्म्या धर्मादनपेताः प्रशस्ता भवन्ति ॥ १२ ॥

षडित्येके ॥ १३ ॥

एके स्मर्तारः षड्धर्म्या इत्याहुः । गान्धर्वासुरयोरपि धर्मादनपेतत्वमिच्छन्ति ॥ १३ ॥

क्रयविवाहे क्षत्रियादिषु स्त्रीषु ब्राह्मणादिभ्यो जातानां पुत्राणां शास्त्रेषु संकेतितं संज्ञाभेदमाह—

अनुलोमानन्तरैकान्तरद्व्यन्तरासु जाताः सवर्णाम्बष्ठोग्रनिषाददौष्मन्तपारशवाः ॥ १४ ॥

ब्राह्मणस्यानन्तरा क्षत्रिया तस्यां जातः सवर्णः । क्षत्रियस्य वैश्या तस्यां तस्मादम्बष्ठः । वैश्यस्यानन्तरा शूद्रा तस्यां तस्मादुग्रः । ब्राह्मणस्यैकान्तरा वैश्या तस्यां तस्मान्निषादः । क्षत्रियस्यैकान्तरा शूद्रा तस्यां तस्माद्दौष्मन्तः । ब्राह्मणस्य द्व्यन्तरा शूद्रा तस्यां तस्मात्पारशवः । प्रपञ्चो जातिनिर्णयस्य स्मृत्यन्तरे द्रष्टव्यः ॥ १४ ॥

प्रातिलोम्येन जातानाह—

प्रतिलोमास्तु सूतमागधायोगवक्तृवैदेहकचण्डालाः ॥ १५ ॥

अनन्तरैकान्तद्व्यन्तरासु जाता इत्यनुवर्तते । क्षत्रियस्यानन्तरा ब्राह्मणी तस्यां तस्मात्सूतः । वैश्यस्यानन्तरा क्षत्रिया तस्यां तस्मान्मागधः । शूद्रस्यानन्तरा वैश्या तस्यां तस्मादायोगवः । वैश्यस्यैकान्तरा ब्राह्मणी तस्यां तस्मात्क्तृतः । शूद्रस्यैकान्तरा क्षत्रिया तस्यां तस्माद्वैदेहकः । शूद्रस्य द्व्यन्तरा ब्राह्मणी तस्यां तस्माच्चण्डाल इति ॥ १५ ॥

अन्येषां मतेन तेषामेव प्रतिवर्णं संगृह्य संज्ञाभेदानाह—

ब्राह्मण्यजीजनत्पुत्रान्वर्णेभ्य आनुपूर्व्याद्ब्राह्मणसूतमागधचण्डालान् ॥ १६ ॥

स्पष्टोऽर्थः । अत्राऽऽनुपूर्व्यग्रहणं वर्णक्रमविवक्षापरम् । नत्वनुलोमपरम् ॥ १६ ॥

तेभ्य एव क्षत्रिया मूर्धावसिक्थक्षत्रियधीवरपुल्कसां-
स्तेभ्य एव वैश्या भृज्जकण्ठमाहिष्यवैश्यवैदेहान्पा-
रशवयवनकरणंशूद्राञ्छूद्रेत्येके ॥ १७ ॥

एके स्मर्तार इत्युक्तक्रमेण ब्राह्मण्यजीजनदित्यारभ्य ब्राह्मणीक्षत्रियावैश्याशूद्रास्तु ब्राह्मणादिवर्णेभ्यः क्रमेण जातानां संज्ञाभेदान्मन्यन्ते ॥ १७ ॥

वर्णान्तरगमनमुत्कर्षापकर्षाभ्यां
सप्तमे पञ्चमे वाऽऽचार्याः॥१८॥

मन्यन्त इति वाक्यशेषः । तेषामेव सवर्णादीनामनुलोमजातानामुत्कर्षेण पितृद्वारा सप्तमपुरुषादुत्कृष्टवर्णान्तरप्राप्तिर्भवति । अपकर्षेण मातृद्वारा पञ्चमपुरुषादपकृष्टवर्णान्तरप्राप्तिर्भवति । तद्यथा—ब्राह्मणेनोढायां क्षत्रियायामुत्पादिता सवर्णा साऽपि ब्राह्मणेनोढा तस्यामुत्पादिता चेत्येवमा सप्तम्याः सप्तमी तु ब्राह्मणेनोढा यदपत्यं सूते तद्ब्राह्मणजातीयमेव भवति । एवं ब्राह्मणेन क्षत्रियायामुत्पादितः पुत्रः सवर्णः सोऽपि क्षत्रियामुद्वाह्य पुत्रमुत्पादयति सोऽपि क्षत्रियामित्येवमापञ्चमात्पञ्चमस्तु क्षत्रियायां यदपत्यमुत्पादयति तत्क्षत्रियजातीयमेव भवति । विकल्पस्यैवं चार्थः । तत्रापि वर्णान्तरगमने वृत्तस्वाध्यायबाहुल्ये सति पञ्चमेनोत्कृष्टं भवति । हीनवृत्तया पञ्चमेनापकृष्टं च भवतीति । एवं क्षत्रियस्य वैश्यायां वैश्यस्य शूद्रायामपि द्रष्टव्यम् ॥ १८ ॥

सृष्ट्यन्तरजातानां च ॥ १९ ॥

चातुर्वर्ण्यमनन्तरेण चानुलोमजातानां सवर्णाम्बष्ठादीनामप्युत्कर्षापकर्षाभ्यामन्योन्यवर्णान्तरगमनं भवति । तद्यथा—सवर्णेनोढायामम्बष्ठयामुत्पादिता दुहिता पुनः सवर्णेनोह्यते तस्यामप्युत्पादिता सवर्णेनेत्यासप्तमात्सप्तमी तु सवर्णेनोढा यदपत्यं स एव भवति । एवं सैवाम्बष्ठेनोढायां दुहितरं सूते साऽप्यम्बष्ठेनेति सप्तमी त्वम्बष्ठेनोढा यदपत्यमुत्पादयति सोऽम्बष्ठ एव भवति ।

(?)एवमम्बष्ठयोरपि द्रष्टव्यम् ॥ १९ ॥

---

१ ग घ. ग सप्त°। २ ग मवष्ठयो°।

प्रतिलोमास्तु धर्महीनाः ॥ २० ॥

प्रतिलोमाज्जाताः सूतादयो धर्महीना उपनयनादिधर्महीनाः । तत्र सूतस्यैकस्योपनयनमात्रं शास्त्रान्तरेऽङ्गीकृतम् ॥ २० ॥

शूद्रायां च ॥ २१ ॥

आनुलोम्येनापि शूद्रायामुत्पन्नः पारशवादिधर्महीनः । एवं च सवर्णादीनामनुलोमानां सिद्धो धर्माङ्गीकारः । तथा च मनुः—

स्वजातिजात्यन्तरजाः पट्सुता द्विजधर्मिणः ।
शूद्राणां तु सधर्माणः सर्वेऽपध्वंसजाः स्मृताः ॥ २१ ॥

असमानायां तु शूद्रात्पतितवृत्तिः ॥ २२ ॥

शूद्रादसमानायां वैश्यादिस्त्रियामुत्पादित आयोगवादिः पतितवृत्तिः पतितवद्दर्शनस्पर्शनप्रतिग्रहादौ वर्जनीयः । एवं च वैश्यात्क्षत्रियायां क्षत्रियाद्ब्राह्मण्यां जातो न पतितवृत्तिः ॥ २२ ॥

अन्त्यः पापिष्ठः ॥ २३ ॥

शूद्रादसमानाज्जनितेषु तेषु योऽन्त्यो ब्राह्मण्यां जातश्चण्डालः पापिष्ठोऽत्यन्तं वर्जनीयः । तथा च स्मृत्यन्तरम्—

चण्डालमाजेगोवालव्यजनान्परिहरेदिति ॥ २३ ॥

अथ प्रकृतान्विवाहान्स्तौति—

पुनन्ति साधवः पुत्राः ॥ २४ ॥

अच्छा(अस्मा)सु जाताः साधवः साधुवृत्तयः पुत्रा जनयितुः कुलं पुनन्ति ॥ २४ ॥

तत्र विशेषः—

त्रिपुरुषमार्षात् ॥ २५ ॥

आर्षविवाहोढायां जातः पुत्रस्त्रीन्पुरुषान्पुनाति नरकादुद्धरति ॥२५॥

दश देवाद्दशैव प्राजापत्यात् ॥ २६ ॥

उपसमस्तमपि पुरुषपदमत्र दशशब्देन संबध्यते । एवकारो निर्धारणपरः ॥ २६ ॥

---

१ क. ख. °जनो गो° । २ क. ख. शास्त्रा शु° । न. एतेषु° । ३ क. ख. प °पमूत्रगतम° ।

दश पूर्वान्दश परानात्मानं च ब्राह्मीपुत्रो ब्राह्मीपुत्रः ॥ २७ ॥

ब्राह्मविवाहेनोढा ब्राह्मी तस्यां जातः पुत्रः पित्रादीन्दश पूर्वान्दश परान्भविष्यतः पुत्रादींश्च दशाऽऽत्मानं चैकविंशं पुनाति तस्माद्ब्राह्मो विवाहः प्रशस्ततमः ॥ २७ ॥

इति श्रीहरदत्तविरचितायां गौतमविवृतौ मिताक्षरायां
चतुर्थोऽध्यायः ॥ ४ ॥

---

अथ पञ्चमोऽध्यायः ।

---

गर्भाधानकालं प्रस्तौति—

ऋतावुपेयात् ॥ १ ॥

रजोदर्शनादारभ्य षोडशाहोरात्रा ऋतुः स्त्रीणां गर्भग्रहणकालस्तत्रोपगच्छेद्भार्याम् । तत्राऽऽपस्तम्बीये विशेषः—

चतुर्थीप्रभृत्याषोडशीमुत्तरामुत्तरां युग्मां प्रजानिःश्रेयसमृतुगमनमित्युपदिशन्ति ।

मानवं तु—

ऋतुः स्वाभाविकः स्त्रीणां रात्रयः षोडश स्मृताः ।
चतुर्भिरितरैः सार्धमहोभिः सद्विगर्हितैः ॥
तासामाद्याश्चतस्रस्तु निन्द्या एकादशी तु या ।
त्रयोदशी च शेषास्तु प्रशस्ता दश रात्रयः ॥
अमावास्यामष्टमीं च पौर्णमासीं चतुर्दशीम् ।
ब्रह्मचारी भवेन्नित्यमप्यृतौ स्नातको द्विजः ॥ इति ।

याज्ञवल्क्यस्तु—

एवं गच्छन्स्त्रियं क्षामां मघां मूलं च वर्जयेत् ।
*युग्मासु पुत्रा जायन्ते स्त्रियोऽयुग्मासु रात्रिषु ॥ इति च ।

तदिह षोडशसु रात्रिष्वादितस्तिस्रः सर्वथा वर्ज्याः । इतरासु गच्छेदिति सर्वस्मृतिचोदितनिषेधान्परित्यज्य गच्छन्नृतुकृतं पुत्रं जनयति । द्वेषादिना ऋतावनुपयन्प्रत्यवेयादिति । तथा च देवलः—

---

* मुद्रितपुस्तकेष्वयम्—युग्म [illegible] जनयत्पुमान् । इति पाठो दृश्यते ।

यः स्वदारानृतुस्नातान्स्वस्थः सन्नोपगच्छति ।
भ्रूणहत्यामवाप्नोति गर्भं प्राप्तं विनाश्य सः । इति ॥

स्मृत्यन्तरं च—

ऋतुस्नातां तु यो भार्यां संनिधौ नोपगच्छति ।
तस्या रजसि तं मासं पितरस्तस्य शेरते ॥ इति ।

अयं तु रागतः प्राप्तत्वे सत्यप्यकरणे प्रत्यवायश्रवणाद्विधिश्च भवति । ऋतावेवोपेयादेवेति कस्यचिन्मतेन नियमश्च भवति ॥ १ ॥

आचार्यस्तु परिसंख्यानं च प्रतिपादयति—

सर्वत्र वा प्रतिषिद्धवर्जम् ॥ २ ॥

सर्वेषु वा कालेषूपेयादृतावनृतौ च प्रतिषिद्धदिवसान्वर्जयित्वा ।

यथाकामी भवेद्वाऽपि स्त्रीणां वरमनुस्मरन् । इति ॥

वरश्च—कामम् विजनितोः संभवामेति । यद्यप्यात्मनो जितेन्द्रियत्वे सत्यपि धर्मदाराः सर्वदा रक्षणीया इति स्मर्यते । अप्रमत्ता रक्षत तन्तुमेनं मा वः क्षेत्रे परबीजानि वाप्सुरिति ॥ २ ॥

अथ पञ्च महायज्ञाः—

देवपितृमनुष्यभूतर्षिपूजकः ॥ ३ ॥

अत्र पूजकशब्दो देवादिषु प्रत्येकं संबध्यते । द्वंद्वान्त्यं श्रूयमाणं प्रत्येकमभिसंबध्यते । गृहस्थो नित्यं देवादिपूजकः स्यात् । तत्र देवपूजा वैश्वदेवसकलहोमाद्याग्निकार्यं च । पितृपूजां मनुराह—

एकमप्याशयेद्विप्रं पित्रर्थे पाञ्चयज्ञिके ।
न चैवात्राऽऽशयेत्कंचिद्वैश्वदेवं प्रति द्विजम् ॥ इति ।
दद्यादहरहः श्राद्धमन्नाद्येनोदकेन च ।
पयोमूलफलैर्वाऽपि पितृभ्यः प्रीतिमावहन् ॥ इति च ।

मनुष्यपूजाऽतिथिपूजा । भूतपूजा बलिहरणम् । ऋषिपूजा ब्रह्मयज्ञः । ऋषियज्ञो ब्रह्मयज्ञ इति पर्यायः ॥ ३ ॥

ते च प्रतिपाद्यन्ते । अत्र क्रमो न विवक्षितः । ब्रह्मयज्ञस्तु—

नित्यस्वाध्यायः ॥ ४ ॥

बहुव्रीहिरयम् । तत्प्रकारश्च ब्रह्मयज्ञेन यक्ष्यमाण इत्यारभ्य तैत्ति-

रीयकेऽभिहितः। अत्र नित्यशब्दाद्ब्रह्मयज्ञव्यतिरिक्तकालेऽपि यथावसरमधीयीतेति दर्शितम्॥ ४॥

पितृयज्ञस्तु—

पितृभ्यश्चोदकदानं यथोत्साहमन्यत्॥ ५॥

पितृभ्यो नित्यमुदकं दद्यात्। अन्यद्भोजनफलमूलादि यथोत्साहं यथाशक्ति दद्यात्। अत्र चकारान्नित्यं देवर्षीणामपि तर्पणं कर्तव्यमिति दर्शितम्। तत्र मनुर्ब्रह्मचारिणं प्रकृत्याऽऽह—

नित्यं स्नात्वा शुचिः कुर्याद्देवर्षिपितृतर्पणम्॥ इति।

कात्यायनः—

देवतानां पितॄणां च जले दद्याज्जलाञ्जलिम्।
असंस्कृतप्रमीतानां स्थले दद्याज्जलाञ्जलिम्॥ इति।

भृगुः—

नोदकेषु न पात्रेषु न क्रुद्धो नैकपाणिना।
नोपतिष्ठति तत्तोयं यद्भूम्यां न प्रदीयते॥

उशना—

आपो देवगणाः सर्व आपः पितृगणाः स्मृताः।
तस्मादप्सु जलं देयं पितॄणां दत्तमक्षयम्॥ इति।

भृगुः प्रकारान्तरमाह—

नाभिमात्रे जले स्थित्वा चिन्तयन्नूर्ध्वमानसः।
आगच्छन्तु मे पितर इमं गृह्णन्त्वपोऽञ्जलिम्॥
त्रींस्त्रिरञ्जलिमाकाशमुच्चैरुच्चतरं बुधः।
उक्त्वा चोक्त्वा क्षिपन्वारि यायतो दक्षिणामुखः॥ इति॥ ५॥

देवयज्ञस्याग्निकार्यमूलत्वादग्निपरिग्रहकालं तावदाह—

भार्यादिरग्निर्दायादिर्वा॥ ६॥

भार्याशब्देन विवाहो लक्ष्यते। यस्मिन्नग्नौ भार्यांह्वते तमग्निमारभ्य या यस्मिन्नहनि पितृभ्राञादिभिर्दायविभागः क्रियते तददारभ्य

१ ग. प्रकृत्याऽऽह°। २ छ. ग. घ. द्विज। ३ ग. कर्णान्। ४ ग. कर्णान्। ५ क. ख. 'रुक्त्वा [illegible]'। ६ ग. [illegible]। ६ ग. [illegible]'।

धा सायमुपक्रममग्निं परिचरेत् । दायविभागात्पूर्वं पितुर्ज्येष्ठभ्रातुर्वा कर्मण्युपजीवतो न प्रत्यवायः ॥ ६ ॥

तस्मिन्गृह्याणि कर्माणि ॥ ७ ॥

तस्मिन्नेवं परिगृहीतेऽग्नौ गृह्ये मनुष्यभूतानि पुंसवनादीनि कर्माणि कर्तव्यानीति ॥ ७ ॥

देवपितृमनुष्ययज्ञाः स्वाध्यायश्च बलिकर्म ॥ ८ ॥

तस्मिन्नित्यनुवर्तते । तत्र देवयज्ञस्याग्निसंबन्धः प्रसिद्धः । पितृमनुष्यभूतयज्ञानां तु तदर्थमन्नमस्मिन्गृह्याग्नौ पच्यत इति । ब्रह्मयज्ञस्याग्निसंबन्ध उशनसा पक्षे दर्शितः—अग्निसमीप इत्येकेषामिति । अपरिगृहीताग्नेरपि पञ्चमहायज्ञविधानादेते लौकिकेऽग्नौ कर्तव्याः ॥ ८ ॥

अथ देवयज्ञवैश्वदेवप्रयोगमाह—

अग्नावग्निर्धन्वन्तरिर्विश्वे देवाः प्रजापतिः स्विष्टकृदिति होमः॥९॥

अत्र "जुहोतिचोदनाः स्वाहाकारप्रदानाः" इत्यापस्तम्बस्मरणाद्धोमशब्देन स्वाहाकार उक्तः । अग्न्यादिभिः स्वाहाकारान्तैरग्नौ जुहुयात् । स्विष्टकृच्चाग्न्युपपदो द्रष्टव्यः । होमत्वादेवाग्निसिद्धावग्नाविति वचनं बलिहरणवद्भूमौ न कर्तव्यमिति वचनार्थम् । तस्माद्धोमधर्मः स्वाहाकारो बलिहरणेष्वपि भवति । तथा चाऽऽश्वलायनः—

स्वाहेत्यथ बलिहरणमिति ।

आपस्तम्बीयानां स्वाहाकारान्ता एव मन्त्राः पठिताः ॥ ९ ॥

अथ भूतयज्ञबलिहरणमाह—

दिग्देवताभ्यश्च यथास्वम् ॥ १० ॥

यस्या देवताया या दिक्तस्यां दिशि तस्यै देवतायै बलिर्हर्तव्यः । इन्द्राय स्वाहेतीशानपर्यन्तं प्रागादि प्रदक्षिणं कर्तव्यम् ॥ १० ॥

द्वार्षु मरुद्भ्यः ॥ ११ ॥

गृहस्य यावन्तो द्वारस्तासु मरुद्भ्यः स्वाहेति बलिहरणम् ॥ ११ ॥

१ क. ध. प. कर्मणु'। २ ग. गृह्येषु व'। ३ ग. नित्यार्थं। ४ ग. 'भेऽपि।

गृहदेवताभ्यः प्रविश्य ॥ १२ ॥

अन्तः प्रविश्य गृहदेवताभ्यः स्वाहेति बलिहरणम् । प्रविश्येतिवचनाद्द्वारबहिष्ठेन न कर्तव्यम् ॥ १२ ॥

ब्रह्मणे मध्ये ॥ १३ ॥

गृहस्य मध्ये ब्रह्मणे स्वाहेति बलिर्हर्तव्यः । दिग्देवताभ्यश्चेति चकारात्पृथिवी वायुः प्रजापतिर्विश्वे देवा इति सूत्रकारोक्तदेवताभ्यश्च ब्रह्मणोऽनन्तरं बलिर्हर्तव्यः ॥ १३ ॥

आकाशायेत्यन्तरिक्षे बलिरुत्क्षेप्यः ॥ १४ ॥

विश्वेभ्यश्चैव देवेभ्यो बलिराकाश उत्क्षिपेत् ।
दिवाचरेभ्यो भूतेभ्यो नक्तंचारिभ्य एव च ॥ इति मनुः ॥ १४ ॥

नक्तंचरेभ्यश्च सायम् ॥ १५ ॥

सायं बलिहरणेऽयं विशेषः । नक्तंचरेभ्यः स्वाहेति बलिर्हर्तव्यः । चकारात्पूर्वोक्ताभ्यश्च भवति ॥ १५ ॥

स्वस्तिवाच्य भिक्षादानमप्पूर्वम् ॥ १६ ॥

बलिहरणानन्तरं भिक्षादानं कर्तव्यं स्वस्त्यस्त्विति[1] स्वस्तिवचनमुक्त्वा भिक्षोर्हस्ते पूर्वमपो दत्त्वा चेति । परिव्राजके विशेषः—

यतिहस्ते जलं दत्त्वा भैक्षं दत्त्वा पुनर्जलम् ।
भैक्षं पर्वतमात्रं स्यात्तज्जलं सागरोपमम् ॥ इति ।

एतद्भिक्षादानमतिथिपूजाभावे मनुष्ययज्ञः स्यात् । एते पञ्च महायज्ञा ब्रह्मयज्ञवर्जाः कर्तव्याः सायं प्रातश्च । कस्मात् ।

अथ सायं प्रातः सिद्धस्य हविष्यस्य जुहुयादित्याश्वलायनस्मरणात् । सायं प्रातर्भूतमित्युक्त इत्यादिकात्यायनसूत्रवचनाच्च ॥ १६ ॥

ददातिषु चैवं धर्म्येषु ॥ १७ ॥

ददातयो दानानि यानि दानानि धर्म्याणि न भयादिनिमित्तानि तेषु चैवमप्पूर्वदानमिति ॥ १७ ॥

दानमसद्भावफलविशेषमाह—

---

१ ग. स्विति वाचयत्वा ।

समद्विगुणसाहस्रानन्त्यानि फलान्यब्राह्म-
णब्राह्मणश्रोत्रियवेदपारगेभ्यः ॥ १८ ॥

अब्राह्मणः क्षत्रियादिः। ब्राह्मणो जातिमात्रम्। श्रोत्रियोऽधीतवेदः। साङ्गं सकल्पं सरहस्यं चाधीतवेदो वेदपारगः। एभ्यो दत्तं यथाक्रमं समद्विगुणसाहस्रमानन्त्यं च फलं ददाति।

तथा च मनुः—

सममब्राह्मणे दानं द्विगुणं ब्राह्मणब्रुवे।
श्रोत्रिये शतसाहस्रमनन्तं वेदपारगे ॥ इति ॥ १८ ॥

दानप्रसङ्गाद्यत्रावश्यदेयमदाने च प्रत्यवायस्तं विषयमाह—

गुर्वर्थनिवेशौषधार्थवृत्तिक्षीणयक्ष्यमाणाध्ययनाध्वसं-
योगवैश्वजितेषु द्रव्यसंविभागो बहिर्वेदि ॥ १९ ॥

यज्ञे दक्षिणाकाले सदस्येभ्यो यद्दानं तदन्तर्वेदि। ततोऽन्यत्र बहिर्वेदि। द्रव्यसंविभागो हिरण्यादेर्दानं तद्गुर्वादिविषयेऽवश्यं दानं कर्तव्यम्। अधीतवेदस्य दक्षिणार्थं गुर्वर्थम्। निवेशौषधार्थं निवेशो विवाहः स च प्रथमस्तदर्थम्। औषधार्थं रुग्णस्य भेषजार्थम्। वृत्त्या तदहर्जीवनेन हीनो वृत्तिक्षीणः। यक्ष्यमाणो यज्ञं करिष्यन्। अध्ययनाध्वसंयोगः। अध्ययनेन संयोगो यस्य सोऽध्ययनसंयोगः। अध्वना संयोगो यस्य सोऽध्वसंयोगः। बहुव्रीहिः। वैश्वजितः कृतविश्वजिद्यागः। सर्वस्वदानेन निर्द्रव्यः। एतैर्याचितोऽवश्यं यथाशक्ति हिरण्यादि दद्यात्। अददत्प्रत्यवेयादिति। बहिर्वेदिग्रहणेन सदीक्षितविषयमिदमन्तर्वेद्यन्येभ्योऽपि देयम् ॥ १९ ॥

भिक्षमाणेषु कृतान्नमितरेषु ॥ २० ॥

इतरेषूक्तव्यतिरिक्तेषु भिक्षमाणेषु कृतान्नं पक्वान्नमवश्यं देयम्। द्रव्यादेरदाने न दोषः। कृतान्नविषयेऽपि वसिष्ठः—

अव्रता ह्यनधीयाना यत्र भैक्षचरा द्विजाः।
तं ग्रामं दण्डयेद्राजा चोरदण्डेनतो हि सः ॥ इति ॥ २० ॥

अथ दानापवादः—

१ ग 'ण ब्राह्मणे मनेद्। २ ग. सहस्र श्रोत्रिये दिवादन°। ३ ग. °भयरो हि।

प्रतिश्रुत्याप्यधर्मसंयुक्ताय न दद्यात् ॥ २१ ॥

दास्यामीति प्रतिश्रुत्याप्यधर्मसंयुक्तविषये न दद्यात् । यदि तेन द्रव्येणाधर्मसंयुक्तं वेश्यागमनाद्यसौ करिष्यतीति विजानीयात् । अधर्मसंयुक्त इतिवचनादन्यत्र प्रतिश्रुतमददत्प्रत्यवेयादिति दर्शयति ॥ २१ ॥

प्रतिश्रवणविषये विशेषमाह—

क्रुद्धहृष्टभीतार्तलुब्धबालस्थविरमूढमत्तोन्मत्तवाक्यान्यनृतान्यपातकानि ॥ २२ ॥

क्रुद्धादिवाक्यान्यनृतान्ययथार्थान्यप्यपातकानि न पापं जनयन्ति । क्रुद्धः क्रोधाविष्टः । हृष्टो हर्षाविष्टः । भीतो भयाविष्टः । एतेषां गुणान्तरैराविष्टत्वाद्वाक्यमप्रमाणम् । तस्मात्प्रतिश्रुत्यादानेऽपि तेषामदोषः ॥ २२ ॥

अथ गृहस्थपूर्वभोज्यानाह—

भोजयेत्पूर्वमतिथिकुमारव्याधितगर्भिणीस्ववासिनीस्थविराञ्जघन्यांश्च ॥ २३ ॥

अतिथिर्वक्ष्यमाणः । कुमारा बालाः । व्याधितः संजातव्याधिः । गर्भिण्यः प्रसिद्धाः । स्ववासिन्यो दुहितरो भगिन्यश्च । स्थविरा वृद्धाः । जघन्याः परिचारकादयः । एतानात्मनः पूर्वं भोजयेत्पश्चात्स्वयं भुञ्जीत । जघन्यानां पृथक्पदत्वं तेषामानन्तर्यसूचनार्थम् ॥ २३ ॥

आचार्यपितृसखीनां च निवेद्य वचनक्रिया ॥ २४ ॥

यदि भोजनकाल आचार्यादय आगच्छेयुस्तदा सिद्धमन्नं तेभ्यो निवेद्य तदन्नक्रिया तदिच्छातः कर्तव्या । न तेषु संनिहितेषु स्वतन्त्रो भवेदित्यर्थः ॥ २४ ॥

ऋत्विगाचार्यश्वशुरपितृव्यमातुलानामुपस्थाने मधुपर्कः ॥ २५ ॥

ऋत्विगादिषु गृहमागतेषु मधुपर्को देयः ॥ २५ ॥

संवत्सरे पुनः ॥ २६ ॥

पूजितास्ते यदि संवत्सरात्पुनरागच्छेयुः पुनरपि मधुपर्को देयो नार्वागिति ॥ २६ ॥

---

१ क. ग. °तेषु पु° ।

यज्ञविवाहयोरर्वाक् ॥ २७ ॥

संवत्सरादर्वागपि यज्ञविवाहयोरागतेभ्यस्तेभ्यो मधुपर्को देयः। मधुपर्कविधिर्गृह्योक्तो द्रष्टव्यः ॥ २७ ॥

राज्ञश्च श्रोत्रियस्य ॥ २८ ॥

श्रोत्रियस्य सतो राज्ञश्चैवं मधुपर्को देयः ॥ २८ ॥

अश्रोत्रियस्याऽऽसनोदके ॥ २९ ॥

अश्रोत्रियस्य राज्ञ आसनोदकमात्रेण पूजनं मधुपर्कः ॥ २९ ॥

श्रोत्रियस्य तु पाद्यमर्घ्यमन्नविशेषांश्च प्रकारयेत् ॥ ३० ॥

तुशब्दो न ब्राह्मणं व्यावर्तयति श्रोत्रियस्य ब्राह्मणस्यातिथेः। पाद्यं पादोदकम्। अर्घ्यं फलोपहारताम्बूलादि। अन्नविशेषाः पायसापूपाद्यस्तांश्च प्रकर्षेण कारयेत्समर्थः ॥ ३० ॥

असमर्थस्तु—

नित्यं वा संस्कारविशिष्टम् ॥ ३१ ॥

यदस्य गृहे नित्यं विद्यमानं तदेव मरीचजीरकादिसंस्कारविशिष्टं साधयेत् ॥ ३१ ॥

मध्यतोऽन्नदानमवैद्ये साधुवृत्ते ॥ ३२ ॥

यस्त्वतिथिर्विद्यारहितोऽपि साधुवृत्तो भवति तस्मिन्नुपस्थिते मध्यमेन संस्कारेणान्नं देयम् ॥ ३२ ॥

विपरीतेषु तृणोदकभूमिस्वागतमन्ततः पूजाऽनत्याशश्च ॥ ३३ ॥

विपरीतो विद्यायुक्तोऽपि न साधुवृत्तः। तस्मिन्निहाऽऽस्यतामिति भूमिं तृणमासनमुदकं च दद्यात्। स्वागतमन्ततोऽनन्तरं स्वागतं च प्रयुञ्जीत। संभाषणेन पूजा कर्तव्या। अनत्याशश्च। अत्याशः पायसापूपादिविशिष्टक्रमस्तदन्यो मध्यमरीत्या कर्तव्यः। आशोऽशनमिति यावत् ॥ ३३ ॥

---

१ क. ख. घ. शब्देन ब्रा°। २ क. ख. घ. °चभक्षतादि°। ३ क. ख घ. °तो ह्यवि°।

शय्यासनावसथानुव्रज्योपासनानि
सदृक्श्रेयसोः समानानि ॥ ३४ ॥

योऽतिथिर्विद्यावृत्तादिनाऽऽत्मना सदृशो यश्च श्रेयांस्तयोर्द्वयोरप्यात्मना तुल्यानि शय्यासनादीनि देयानि । आवसथो गृहे स्थानविशेषः । अनुव्रज्योपासनयोरात्मन्यसंभवात्तुल्यत्वं न संभवति ते अपि कार्ये इत्यर्थः ॥ ३४ ॥

अल्पशोऽपि हीने ॥ ३५ ॥

आत्मना किंचिदूनेऽप्यतिथावागते समान्येव शय्यादीनि देयानीत्येके । वयं तु ब्रूमः । हीनेऽतिथावागतेऽल्पशोऽपि शय्यादीनि देयानि न तु हीन इति कृत्वाऽत्यन्तलोपः कर्तव्यः ॥ ३५ ॥

अतिथिलक्षणमाह—

असमानग्रामोऽतिथिरैकरात्रिकोऽ-
धिवृक्षसूर्योपस्थायी ॥ ३६ ॥

असमानग्रामोऽन्यग्रामवासी । ऐकरात्रिक एकां रात्रिं वसतीत्यैकरात्रिकः । *वृक्षाणामुपरि यदा सूर्यः सोऽधिवृक्षसूर्यः कालो मध्याह्नः ।* अथ वा वृक्षाणामुपरि सूर्यरश्मयो यदा भवन्ति स कालः सायं वा । तस्मिन्काल उपस्थितोऽतिथिः सर्वथा मान्यतमः ॥ ३६ ॥

कुशलानामयारोग्याणामनुप्रश्नः ॥ ३७ ॥

ब्राह्मणादिषु त्रिषु वर्णेषु पथ्यादिसंगतेषु कुशलादीनामानुपूर्व्येण प्रश्नः कर्तव्यः । अपि कुशलमायुष्मन्निति ब्राह्मणः प्रष्टव्यः । अप्यनामयं तत्र भवत इति क्षत्रियः । अप्यरोगो भवानिति वैश्यः ॥ ३७ ॥

अन्त्यं शूद्रस्य ॥३८॥

कुशलादिषु यदन्त्यं तच्छूद्रस्य प्रयोक्तव्यमप्यरोगोऽसीति ॥ ३८ ॥

ब्राह्मणस्यानतिथिरब्राह्मणः ॥ ३९ ॥

अब्राह्मणः क्षत्रियादिर्ब्राह्मणस्यातिथिर्न भवति । पूर्वोक्ता अतिथिधर्मास्तत्र न प्रयोज्याः । केवलमुदकान्नदानादिनाऽङ्गीकार्यः ॥ ३९ ॥

यज्ञे संवृतश्चेत् ॥ ४० ॥

यज्ञकाल आहुतश्चेदतिथिवत्पूज्यः ॥ ४० ॥

तत्रापि—

भोजनं तु क्षत्रियस्योर्ध्वं ब्राह्मणेभ्यः ॥ ४१ ॥

तस्यातिथिपक्षेऽपि ब्राह्मणेषु भुक्तवत्सु पश्चाद्भोजनं देयम् ॥ ४१ ॥

अन्यान्भृत्यैः सहाऽऽनृशंस्यार्थमानृशंस्यार्थम् ॥ ४२ ॥

अन्यान्शूद्रादीनातिथ्यकाल आगतान्भृत्यैः कर्मकरादिभिः सह सति विभवे भोजयेत् । यद्यपि तेषामतिथित्वं न भवति तथाऽप्यानृशंस्यार्थं नृशंसता प्रत्यक्षक्रौर्यं तद्राहित्याय । आनृशंस्यं परो धर्म इत्यानृशंस्यमपि परो धर्म एवेति ॥ ४२ ॥

इति श्रीहरदत्तविरचितायां गौतमविवृतौ मिताक्षरायां पञ्चमोऽध्यायः ॥ ५ ॥

---

अथ षष्ठोऽध्यायः ।

---

उक्ताऽतिथिपूजा । अन्येषामपि पूजाप्रकारमाह—

पादोपसंग्रहणं समवायेऽन्वहम् ॥ १ ॥

वक्ष्यमाणानां मात्रादीनां समवाये संगमे प्रतिदिनं पादोपसंग्रहणं कार्यम् । व्यत्यस्तपाणिना कार्यमिति पूर्वोक्तप्रकारेण ॥ १ ॥

अभिगम्य तु विप्रोष्य ॥ २ ॥

तुशब्दः प्रकृतव्यावृत्तौ । विप्रोष्य स्वयं विप्रवासं कृत्वा तेषां विप्रवासे वा ते मातृपित्रादयो यत्राऽऽस्थितास्तत्राभिगम्य पादोपसंग्रहणं कार्यमिति ॥ २ ॥

तन्मातृपित्रादीनाह—

मातृपितृतद्बन्धूनां पूर्वजानां विद्यागुरूणां तद्गुरूणां च ॥ ३ ॥

मातापितरौ प्रसिद्धौ तद्बन्धवो मातुलमातृष्वसृपितृव्यपितृष्वस्रादयः । पूर्वजा ज्येष्ठभ्रातरः । विद्यागुरव आचार्योपाध्यायादयः । तद्गुरव आचार्यादयः । तद्विषयं पूर्वसूत्रद्वयमिति ॥ ३ ॥

---

१ क. ग. च °क्षेषु ब्रा° ।

संनिपाते परस्य ॥ ४ ॥

मात्रादीनां युगपत्संनिपाते समागमे परस्योत्कृष्टस्य प्रथममुपसंग्रहणं कार्यम् । आचार्यः श्रेष्ठो गुरूणां मातेत्येके इत्युत्कर्षः पूर्वोक्तः । आपस्तम्बेन तु—

आचार्यप्राचार्यसंनिपाते प्राचार्यायोपसंगृह्योपसंजिघृक्षेदाचार्यमित्यादिनोपसंग्रहणमुक्तम् ॥ ४ ॥

अभिवादनविधिमाह—

स्वनाम प्रोच्याहमयमित्यभिवादो ज्ञसमवाये ॥ ५ ॥

यः प्रत्यभिवादनाभिज्ञस्तेन संगमे स्वनाम प्रोच्य व्यावहारिकं प्रसिद्धं नाम प्रोच्याहमयमिति प्रकर्षेणोच्चैरुक्त्वाऽभिवादः कार्यः । अभिवादोऽभिवादनं ण्यन्तादेरच् । एवं चार्थज्ञानां ज्ञातवरसमवायेऽभिवादनक्रमेणायमहमिति स्वनाम गुह्यं प्रोच्याभिवादनं कार्यं हीनैर्व्यतिरिक्ताभिवाद्यविषयम् । तद्यथा । अभिवादये हरदत्तशर्मा नामाहमस्मि भो इति । तत्र प्रत्यभिवादनविधिर्मनुना दर्शितः—

आयुष्मान्भव सौम्येति वाच्यो विप्रोऽभिवादने ।
अकारश्चास्य नाम्नोऽन्ते वाच्यः पूर्वाक्षरः प्लुतः ॥

अस्यार्थः । विप्रशब्देन ब्राह्मणविषयमिदम् । अभिवादयिता विप्र आयुष्मान्भव सौम्येतिवाच्यः । अस्य नाम्नोऽन्ते पूर्वाक्षरप्लुतोऽकारश्च वाच्यः । पूर्वाक्षरप्लुत इत्यकारस्य विशेषणं यस्मात्पूर्वमक्षरं प्लुतरूपं स तथोक्तः । अक्षरमित्यचोऽभिधानम् । अकारात्पूर्वो योऽन्त्यः स प्लुतो वाच्यः । तेन व्यञ्जनव्यवधानेऽपि भवति । आयुष्मान्भव सौम्य हरदत्ता ३ अ । अञ्जनव्यवधानेन यथाऽऽयुष्मान्भव सौम्याग्निचि ३ त् । इति प्रयोगः । वसिष्ठस्तु सन्ध्यक्षरे विशेषमाह—

आमन्त्रिते योऽन्त्यः स्वरः स प्लवते सन्ध्यक्षरमप्रगृह्यमाद्यः [इ]आउभावं चाऽऽपद्यत इति ।

एचोऽप्रगृह्यस्यादूराद्धूते पूर्वस्यार्धस्यादुत्तरस्येदुताविति वैयाकरणाः । तत्रान्तेऽकारे प्रयुक्ते तयोर्यावाचि संहितायामिति यकारवकारौ ।

---

१ ग इति पूर्वोक्त क्रम । आ० । २ ग चार्यागता न्तरणं म० । ३ ग °नव्रणो-ष्ठिरि° । ४ ग °इमा ३ भाव उभाव व पद्यत इ ।

आयुष्मान्भव सौम्य पिनाकपाणा३येति विष्णा३वेति च प्रयोगः। अज्ञसमवाय इतिपक्षे नायमभिवादनप्रकारः। तत्र स्मृत्यन्तरम्—

अविद्वांसः प्रत्यभिवादे नाम्नो ये न प्लुतिं विदुः।
कामं तेषु तु विप्रोष्य स्त्रीष्विवायमहं वदेत् ॥ इति।

यथा स्त्रीपूक्तप्रकारं विना तादात्मिकेन वेशभाषादिना येन केनापि शब्देनाभिवादनं तद्वत्तेष्वपि भवति। अभिवादनमिति सामान्योपलक्षणम्। प्रकारवर्जितस्य रूयादिप्रयुक्तस्याप्यभिधानात्। अभिवादनप्रकारे त्वापस्तम्बः—

दक्षिणं बाहुं श्रोत्रसमं प्रसार्य ब्राह्मणोऽभिवादयीतोरःसमं राजन्यो मध्यसमं वैश्यो नीचैः शूद्रः प्राञ्जलिरिति ॥ ५ ॥

## स्त्रीपुंयोगेऽभिवादतोऽनियममेके ॥ ६ ॥

स्त्रीपुंयोगे जायापतिसमवायेऽभिवादतः सार्वविभक्तिकस्तसिः। अभिवादने प्राप्तेऽनियममेके मन्यन्ते। यद्यपि भर्ता प्रत्यभिवादज्ञस्तथाऽपि तदभिवादने भार्याया नियमं नेच्छन्ति। अभिवादयेऽहमियमित्यादिक्रमो नियमस्तं नेच्छन्ति। सामान्याभिवादनमात्रमेव। एवं च भार्यया भर्तुरहरहर्नमस्कारः कार्यः। एक इति वचनाद्गौतमस्य पक्षे नियम एव ॥ ६ ॥

## नाविप्रोष्य स्त्रीणाममातृपितृव्यभार्याभगिनीनाम् ॥ ७ ॥

समवायेऽन्वहमित्यस्यापवादोऽयम्। मातृपितृव्यभार्याभगिनीव्यतिरिक्तानां स्त्रीणामविप्रोष्योपसंग्रहणमभिवादनं च न कार्यं किं तु विप्रोष्य प्रत्यागमन एव कार्यम्। मात्रादीनां त्वविप्रोष्यापि प्रत्यहम्। तथाच स्मृत्यन्तरम्—

उपसंग्रहणं कुर्याद्भगिन्या मातुरेव च।
तथा पितृव्यभार्याणां समवायेऽन्वहं द्विजः। इति ॥ ७ ॥

## नोपसंग्रहणं भ्रातृभार्याणां स्वसॄणाम् ॥ ८ ॥

विप्रोष्य प्रत्यागतेनाऽऽसामुपसंग्रहणं न कार्यम्। अभिवादनं तु भवत्येव। तत्रात्यन्तगुरुस्थानीयानां मातुलान्यादीनामुपसंग्रहणमन्यासामभिवादनमिति ॥ ८ ॥

---

१ ग. त्वगुष।

ऋत्विक्छ्वशुरपितृव्यमातुलानां तु यवीयसां प्रत्युत्थानमभिवाद्याः ॥ ९ ॥

ऋत्विगादीनामात्मनो यवीयसां प्रत्युत्थानमात्रेण पूजा कार्या न पुनस्तेऽभिवाद्याः ॥ ९ ॥

तथाऽन्यः पूर्वः पौरोऽशीतिकावरः शूद्रोऽप्यपत्यसमेन ॥ १० ॥

ऋत्विगादयो यथा प्रत्युत्थेया नाभिवाद्यास्तथाऽयमपि । अन्यस्तेभ्योऽन्यः । पूर्वो वयसाऽधिकः[1] । पौरः पुरवासी । वयसाऽऽधिक्येऽपि पुरवासोदपकर्ष[2] उक्तः । अशीतिरेवाशीतिका तयाऽवरोऽशीतिकावरः[3] । न्यूनाशीतिक इत्यर्थः । एवंविधः शूद्रोऽप्यपत्यसमेन प्रत्युत्थेयो नाभिवाद्यः । अपत्यसमेनेत्यत्यन्त यवीयस्ता दर्शिता । शूद्रग्रहणमवरवर्णोपलक्षणम् । ततश्च शूद्रस्त्रिभिरपि वर्णैर्वैश्यो द्वाभ्यां क्षत्रियस्तु ब्राह्मणेनेति सिध्यति ॥ १० ॥

अवरोऽप्यार्यः शूद्रेण ॥ ११ ॥

न्यूनाशीतिकेन शूद्रेणावरोऽप्यार्यो यवीयानप्यार्यस्त्रैवर्णिकः प्रत्युत्थेयो नाभिवाद्यः । अत्रापि शूद्रग्रहणमवरवर्णोपलक्षणम् । ततश्च शूद्रेण त्रयो वर्णाः । वैश्येन द्वौ । क्षत्रियेण ब्राह्मण इत्यवरवयसः प्रत्युत्थेया नाभिवाद्या इति सिध्यति ॥ ११ ॥

नाम[4] वाऽस्य वर्जयेत् ॥ १२ ॥

अस्येत्यत्र वीप्सालोपः । अस्यास्योत्कृष्टोत्कृष्टस्यापकृष्टो न नाम गृह्णीयात् । किं त्वौपचारिकं नाम गृह्णीयात् ॥ १२ ॥

राज्ञश्चाजपः प्रेष्यः ॥ १३ ॥

अजपोऽश्रोत्रियः । प्रेष्यः प्रेषकरः । स उत्कृष्टवर्णो ब्राह्मणोऽपि राज्ञोऽभिषिक्तस्य नाम वर्जयेत् ॥ १३ ॥

भो भवन्निति वयस्यः समानेऽहनि जातः ॥ १४ ॥

वयसा तुल्यो वयस्यः । समानेऽहनि जातः । अत्राहःशब्दः संवत्सरवाचकः । एकस्मिन्संवत्सरे जातः स भो भवन्नित्यनयोरन्यतरेण शब्देन संभाष्यः ॥ १४ ॥

१ क. ख. प. धिषोऽपि । २ घ. °शादपकृष्टः । ३ ग. °रः । कन्तु° । ४ ग. °म चास्य ।

दशवर्षवृद्धः पौरः पञ्चभिः कलाभरः
श्रोत्रियश्चारणस्त्रिभिः ॥ १५ ॥

पुरे वसन्गुणहीनो दशवर्षवृद्धश्च । तत्रापि कलाभरश्चतुःषष्टिकलास्वन्यतमया; जीवन्पञ्चभिर्वर्षैर्वृद्धश्च । श्रोत्रियोऽधीतवेदः । चारणः सहाध्यायी । एते सर्वेऽपि भो भवन्तिति संभाष्याः । आपस्तम्बस्तु—
सर्वत्राभिवादनमिच्छन्ति । दशवर्षं पौरसख्यं पञ्चवर्षं तु चारणम् ।
त्रिवर्षपूर्वः श्रोत्रियोऽभिवादनमर्हति ॥ इति ॥ १५ ॥

राजन्यवैश्यकर्मा विद्याहीनाः ॥ १६ ॥

कर्मशब्दः प्रत्येकमभिसंबध्यते । राजन्यकर्मा वैश्यकर्मा ब्राह्मणोऽपि राजन्यकर्मणा वैश्यकर्मणा वा जीवन्नत्यन्तवृद्धोऽपि भो भवन्तिति संभाष्यः । विद्याहीनश्च वृद्धोऽपि विद्याधिकेन तथा भाष्यः ॥ १६ ॥

दीक्षितश्च प्राक्क्रयात् ॥ १७ ॥

वयस्यविषयमिदम् । दीक्षितश्च वयस्यः सोमक्रयात्पूर्वं तथा भाष्यः । ततः परं वृद्धवन्मान्यः । उत्तमाश्रमविषय उशना—
श्रोत्रियवत्प्राशितः सर्वेषां गुरुर्भवतीति ॥ १७ ॥

वित्तबन्धुकर्मजातिविद्यावयांसि
मान्यानि परबलीयांसि ॥ १८ ॥

वित्तादीनां साक्षान्मान्यत्वासंभवात्तद्वन्तो मान्या इत्युपलक्ष्यन्ते । वित्तवानाढ्यः । बन्धुमान्विशिष्टैः सोदर्यादिभिर्युक्तः । कर्मवान्यथोक्तकर्मकारी । जातिमानभिजनयुक्तः । विद्यावानधीतवेदशास्त्रः । वयस्वान्वयसाऽधिकः । एतादृशा अतादृशैर्मान्याः । परस्परसमवाये तु परः परो बलीयान्प्रथममान्यः । मान्येऽभिवादनादिसंमानः ॥ १८ ॥

श्रुतं तु सर्वेभ्यो गरीयः ॥ १९ ॥

श्रुतं मन्त्रब्राह्मणविभागेन वेदार्थपरिज्ञानं तत्सर्वेभ्यो वित्तादिभ्यो गरीयो गुरुतरम् । पूर्वसूत्रे परबलीयांसीति श्रुतमपरमुपन्यस्तं तद्व्यावृत्त्यर्थं पृथक्सूत्रम् ॥ १९ ॥

---

१ ग. °भरः । २ क. ख. घ. °वर्षैर्° । ३ क ख. घ ङ. च. प्राक्क्रयात् । ४ ग. °र्दत्ववे° । ५ क. ख. घ. ङ. च. °ति प्रामा° । ६ क. ख च °णा एते° । ७ क. ख. घ. श्रुतं च° ।

कुतः पुनः श्रुतं सर्वेभ्यो गरीय इत्यत आह—

तन्मूलत्वाद्धर्मस्य श्रुतेश्च ॥ २० ॥

श्रुतमूलमनुष्ठानमनुष्ठानमूलो धर्म इति श्रुतेश्चाप्यनुच्छिन्नसंप्रदायो मूलं तस्माच्छ्रुतस्य गरीयस्त्वम् । श्रुतस्य गरीयस्त्वं छान्दोग्ये प्रतिपादितम्—ब्राह्मणं शैशवं भवति शिशुर्वै आङ्गिरसो मन्त्रकृतां मन्त्रकृदासीदिति । मनुरपि—

अध्यापयामास पितॄञ्शिशुराङ्गिरसः कविः ।
पुत्रका इति होवाच ज्ञानेन परिगृह्य तान् ॥ इति ॥ २० ॥

चक्रिदशमीस्थानुग्राह्यवधूस्नातकराजभ्यः पथो दानम् ॥ २१ ॥

चक्रि चक्रवच्छकटादि तत्स्थश्चक्रिस्थः । दशम्यां दशायां स्थितो दशमीस्थो वृद्धः । अनुग्राह्यो रोगार्तः । वधूर्गर्भिणी । स्नातको विद्याव्रतस्नातः । राजाऽभिषिक्तः । पथि संगम एतेभ्योऽन्यैः पन्था देयः ॥२१॥

तत्र विशेषः—

राज्ञा तु श्रोत्रियाय श्रोत्रियाय ॥ २२ ॥

श्रोत्रियसमागमे राज्ञैव पन्था देयः ॥ २२ ॥

इति श्रीहरदत्तविरचितायां गौतमवृत्तौ मिताक्षरायां षष्ठोऽध्यायः ॥ ६ ॥

---

अथ सप्तमोऽध्यायः ।

---

श्रुतं तु सर्वेभ्यो गरीय इति विद्याप्राधान्यमुक्तम् । सा विद्या ब्राह्मणादधिगन्तव्येति प्रथमः कल्पः । तदभावे विद्याया अवश्याधिगन्तव्यत्वादापत्कल्पमाह—

आपत्कल्पो ब्राह्मणस्याब्राह्मणाद्विद्योपयोगः ॥ १ ॥

अङ्गानि वेदाश्चत्वारो मीमांसा न्यायविस्तरः ।
पुराणं धर्मशास्त्रं च विद्या ह्येताश्चतुर्दश ॥

---

१ क. ख. ग. ङ. नास्तीदं पु०।

उपयोगो नियमपूर्वकं ग्रहणम् । अब्राह्मणः क्षत्रियो वैश्यः । तस्मात् । ब्राह्मणेन विद्योपयोगः कार्यः स आपत्कल्पः । आपद्विधिर्ब्राह्मणस्ये- त्युपलक्षणं तेन क्षत्रियेणापि वैश्याद्विद्योपयोगः कार्य इति सिध्यति । आपत्कल्प इत्यध्यायपरिसमाप्तेरधिक्रियते ॥ १ ॥

अनुगमनं शुश्रूषा ॥ २ ॥

तत्र पावदध्ययनकालमनुगमनमेव शुश्रूषा नान्यत्पादसंवाह- नादि ॥ २ ॥

समाप्ते ब्राह्मणो गुरुः ॥ ३ ॥

समाप्ते त्वध्ययने ब्राह्मण एव गुरुः ॥ ३ ॥

याजनाध्यापनप्रतिग्रहाः सर्वेषाम् ॥ ४ ॥

याजनादयो ब्राह्मणस्य वृत्तयस्ता आपदि सर्वेषामनुज्ञायन्ते न तु ब्राह्मणस्यैवेति । अपर आह—आपदि सर्वे याजयितव्याः सर्वेऽध्याप्याः सर्वतश्च प्रतिग्राह्यं न तु गर्हादोषोऽस्तीति । तथा च मनुः—

नाध्यापनाद्याजनाद्वा गर्हिताद्वा प्रतिग्रहात् ।

दोषो भवति विप्राणां ज्वलनाम्बुसमो हि सः ॥ इति ॥ ४ ॥

पूर्वः पूर्वो गुरुः ॥ ५ ॥

एतेषां याजनादीनां यो यः पूर्वनिर्दिष्टः स स उत्तरस्माद्गुरु- र्ज्ञेयः । आपदि प्रतिग्रहेण जीवेत्तदसंभवेऽध्यापनेन तदसंभवे याजने- नेति ॥ ५ ॥

तदलाभे क्षत्रवृत्तिः ॥ ६ ॥

इदं ब्राह्मणविषयम् । गर्हितयाजनादेरप्यलाभे क्षत्रवृत्तिः स्यात् । ब्राह्मणः सेवादिना जीवेत् । आपदि निवृत्तायां नारदः—

आपदं ब्राह्मणस्तीर्त्वा क्षत्रवृत्त्या मृते जने ।

उत्सृजेत्क्षात्रवृत्तिं तां कृत्वा पावनमात्मनः ॥ ६ ॥

तदलाभे वैश्यवृत्तिः ॥ ७ ॥

क्षत्रवृत्तेरप्यलाभे वैश्यवृत्त्याऽपि जीवेद्ब्राह्मणः । अलाभग्रहणं वृत्ति- संकरो मा भूदिति । क्षत्रियस्य वैश्यवृत्त्युपजीवनं दण्डापूपन्यायेन सिद्धम् ॥ ७ ॥

तस्यापण्यम् ॥ ८ ॥

तस्य वैश्यवृत्तेर्ब्राह्मणस्यापण्येन विक्रेयं वक्ष्यते । तस्येति वचनात्क्षत्रियस्य वैश्यवृत्त्युपजीविनो वक्ष्यमाणमपण्यं न भवति ॥ ८ ॥

गन्धरसकृतान्नतिलशाणक्षौमाजिनानि ॥ ९ ॥

गन्धश्चन्दनादिः । रसस्तैलघृतलवणगुडादिः । कृतान्नं मोदकापूपादि । तिलाः प्रसिद्धाः । शाणं शणविकारो गोण्यादिः । क्षौमं क्षुमोद्भूतं पट्टवस्त्रविशेषः । अजिनं चर्म कटादि । एतान्यविक्रेयाणि । शाणक्षौमयोर्विकारनिषेधात्प्रकृतेरप्रतिषेधः ॥ ९ ॥

रक्तनिर्णिक्ते वाससी ॥ १० ॥

रक्तं लाक्षादिना विकृतं, निर्णिक्तं रजकादिना धौतमेवंभूते अपि वाससी अपण्ये ॥ १० ॥

क्षीरं सविकारम् ॥ ११ ॥

दध्यादिभिर्विकारैः सह क्षीरमपण्यम् ॥ ११ ॥

मूलफलपुष्पौषधमधुमांसतृणोदकापथ्यानि ॥ १२ ॥

मूलमार्द्रकहरिद्रादि । फलं पूगादि । पुष्पं चम्पकादि । औषधं पिप्पल्यादि । मधु माक्षिकम् । मांसतृणोदकानि प्रसिद्धानि । अपथ्यं विषादि । एतान्यपण्यानि । रसशब्देन पूर्वमेव निषिद्धेऽपि पुनर्मधुग्रहणं सर्वथा वृत्तिरशक्तावित्यादिपक्षे निषेधार्थम् ॥ १२ ॥

पशवश्च हिंसासंयोगे ॥ १३ ॥

पशवोऽजादयः । हिंसासंयोगे सौनिकादिभ्यो हिंसार्थं न विक्रेयाः ॥ १३ ॥

पुरुषवशाकुमारीवेहतश्च नित्यम् ॥ १४ ॥

पुरुषा दासादयः । वशा वन्ध्या गौः । कुमारी वत्सतरी । वेहद्गर्भोपघातिनी । एते नित्यमपण्याः । नित्यमित्युक्तत्वाद्धिंसासंयोगादन्यत्रापि निषेधः । अपर आह—इह नित्यग्रहणात्पूर्वेषु तिलादिष्वनित्यः प्रतिषेध इति । तत्र वसिष्ठः—

कामं वा स्वयमुत्पाद्य तिलान्विक्रीणीरन् । इति ॥ १४ ॥

---

१ ग. °व प्रमाणेन'°तस्तदर्थ ।

भूमिव्रीहियवाजाव्यश्वर्षभधेन्वनडुहश्चैके ॥ १५ ॥

भूमिर्गृहम् । व्रीहियवाजाव्यश्वाः प्रसिद्धाः । ऋषभः सेचनसमर्थो गौः । धेनुः सकृत्प्रसूता । अनड्वाननोवाहनयोग्यो बलीवर्दः । एते चापण्या इत्येके मन्यन्ते । एकशब्दाद्वयं त्वनुजानीमः । अत्राप्यजाविग्रहणं हिंसासंयोगविषयपरम् ॥ १५ ॥

नियमस्तु ॥ १६ ॥

नियमो विनिमयः परिवर्तनं तुशब्देन नियमोऽनुज्ञायत इति ॥ १६ ॥

रसानां रसैः ॥ १७ ॥

तैलघृतगुडादीनां रसैरेव विनिमयः कार्यः । तद्यथा—

तैलं दत्त्वा घृतं ग्राह्यमिति रसैः समतो हीनतो वेति वसिष्ठः ॥ १७ ॥

पशूनां च ॥ १८ ॥

पशूनां चतुष्पदां पशुभिर्विनिमयः कार्यः ॥ १८ ॥

न लवणकृतान्नयोः ॥ १९ ॥

लवणस्य कृतान्नस्य च विनिमयोऽपि प्रतिषिद्धः ॥ १९ ॥

तिलानां च ॥ २० ॥

तिलानां च विनिमयो न कार्यः । लवणकृतान्नतिलानां द्रव्यान्तरस्वीकारेण प्रदानं निषिद्धं समानद्रव्यविषये प्रवृत्त्यसंभवात् ॥ २० ॥

समेनाऽऽमेन तु पक्वस्य संप्रत्यर्थे ॥ २१ ॥

समेन समपरिमाणेनाऽऽमेन तण्डुलेन संप्रत्यर्थे तादात्मिकोपयोगार्थे पक्वान्नस्य नियमः कार्यः । मनुस्तु तिलाधान्येन तत्समा इति समेन धान्येन तिलानां नियममनुजानाति । अपण्यमिति विक्रयनिषेधो रसवच्च यावदुपयोगक्रये निषेधो न स्यात् । रसादीनामपि नियमशब्देन प्रदानमेव विवक्षितम् । अन्यथा त्वविद्यमानेन रसान्तरादेर्द्रव्याणामावृत्त्यसंभवात् ॥ २१ ॥

सर्वथा वृत्तिरशक्तावशौद्रेण ॥ २२ ॥

उक्तेन प्रकारेण कुटुम्बधारणस्यासंभवोऽशक्तिः । तस्यां सत्यां सर्वथा

---

१ ग. चात्रापि यत्र यावदुपयुक्तं निषेधो नास्ति र° । २ ग. °नै रसान्तरादिद्रव्यस्य प्रवृ° । ३ क. ख च. °थाऽनुगृ° ।

वृत्तिः । प्रकारवचने थाल्, उक्तेन सर्वप्रकारेण निषिद्धेनापि जीवेत् । तत्रापि न शौद्रेण कर्मणा जीवेदिति ॥ २२ ॥

तदप्येके प्राणसंशये ॥ २३ ॥

एके त्वाचार्याः प्राणसंशये सति तदपि शौद्रं कर्माप्यनुमन्यन्ते । यथाऽऽह व्यासः—

धर्मार्थकाममोक्षाणां प्राणाः संस्थितिहेतवः ।
तान्निघ्नता किं न हृतं रक्षता किं न रक्षितम् ॥ इति ॥ २३ ॥

तद्वर्णसंकराभक्ष्यनियमस्तु ॥ २४ ॥

नियमो वर्जनम् । शूद्रवृत्तिस्थितेनापि ब्राह्मणेन तेन शूद्रवर्णेन सहाऽऽसनाङ्गसंमेलनादिः संकरः । अभक्ष्यं च लशुनादि । तदुभय-वर्जनं कर्तव्यं न तु शूद्रवृत्तिरस्मीति यथाकाम्यमिति ॥ २४ ॥

प्राणसंशये ब्राह्मणोऽपि शस्त्रमाददीत ॥ २५ ॥

प्राणसंशये सति ब्राह्मणोऽपि रक्षार्थं शस्त्रमाददीत । तदलाभे क्षत्रवृत्तिरिति शस्त्रग्रहणे सिद्धे पुनरुपादानं ब्राह्मणवृत्तेः सतोऽप्य-निषेधार्थम् । अपिशब्दात्किं पुनर्वैश्यशूद्रौ ॥ २५ ॥

राजन्यो वैश्यकर्म [वैश्यकर्म] ॥ २६ ॥

प्राणसंशये राजन्यो वैश्यकर्माऽऽददीत । तेनाऽऽत्मानं रक्षेत् ॥ २६ ॥

इति श्रीहरदत्तविरचितायां गौतमविवृतौ मिताक्षरायां सप्तमोऽध्यायः ॥ ७ ॥

---

## अथाष्टमोऽध्यायः ।

---

आपद्वृत्तिमाश्रितो यदि तत्रैव रमेत केनासौ निवार्यत इत्याह—

द्वौ लोके धृतव्रतौ राजा ब्राह्मणश्च बहुश्रुतः ॥ १ ॥

लोके राष्ट्रे वीप्सालोपश्चात्र द्रष्टव्यः । लोके लोके धृतव्रतौ व्रतानां कर्मणां धारयितारौ द्वौ राजा बहुश्रुतश्च ब्राह्मणस्तौ सर्वस्य सर्वापद्गो दण्डोपदेशाभ्यां निवारयितारौ ॥ १ ॥

तपोश्चतुर्विधस्य मनुष्यजातस्यान्तःसंज्ञानां चलनपतनसर्पणानामायत्तं जीवनम् ॥ २ ॥

चतुर्विधस्य मनुष्यजातस्य चातुर्वर्ण्यस्यान्तरप्रभवास्त्वनुलोमादयस्तन्मूलत्वात्पृथङ्नोक्ताः । अन्तःसंज्ञा वृक्षादयः स्थावरा वृद्धिक्षयवन्तो येषामन्तःसंज्ञा न बहिस्ते तथोक्ताः । तथा च मनुः—

तमसा बहुरूपेण वेष्टिताः कर्महेतुना ।
अन्तःसंज्ञा भवन्त्येते सुखदुःखसमन्विताः ॥ इति ।

चलनाः पश्वादयः । पतनाः पक्षिणः । सर्पणाः सरीसृपा भुजगादयः । एषां मनुष्यादीनां जीवनं तयो राजब्राह्मणयोरायत्तं तदधीनम् । राजा तु परिपन्थिनिग्रहादिना तेषां जीवनहेतुः । इतरस्तु कथं बहुश्रुत इत्यत आह—

अग्नौ प्रास्ताहुतिः सम्यगादित्यमुपतिष्ठते ।
आदित्याज्जायते वृष्टिर्वृष्टेरन्नं ततः प्रजाः ॥

इत्यादिन्यायेन जीवने हेतुः ॥ २ ॥

न च जीवनमात्रमेव तदधीनं किं तर्हि—

प्रसूतिरक्षणमसंकरो धर्मः ॥ ३ ॥

प्रसूतिरभिवृद्धिः । दण्डोपदेशाभ्यां यथोक्तकारितया वृष्ट्यादिद्वारेण रोगाद्युपद्रवशान्त्या चाभिवृद्धिर्भवति । चोरनिग्रहाद्रक्षणमपि । दण्डप्रायश्चित्तोपदेशाभ्यां भवति वर्णानामसंकरोऽसंमेलनमपि । विहितोपदेशात् प्रतिषिद्धसेवायां दण्डधारणाच्च धर्मोऽपि भवति । एतत्सर्वं तयोरायत्तम् ॥ ३ ॥

बहुश्रुत इत्युक्तं प्रतिपादयति—

स एव बहुश्रुतो भवति ॥ ४ ॥

स एष इति वक्ष्यमाणनिर्देशः ॥ ४ ॥

लोकवेदवेदाङ्गवित् ॥ ५ ॥

लोकशब्देन लोकव्यवहारसिद्धा जनपदादिधर्मा उच्यन्ते तेषां वेदाश्चत्वार ऋग्यजुःसामाथर्वाणः । अङ्गानि षट् । व्याकरणं शिक्षा छन्दो ज्योतिषं कल्पसूत्राणि निरुक्तमपि तेषां वेत्ता पाठतोऽर्थतश्च ॥ ५ ॥

वाकोवाक्येतिहासपुराणकुशलः ॥ ६ ॥

वेदशास्त्रोपयोगीनि तर्कोक्तिप्रत्युक्तिरूपाणि वाक्यानि यथा महाभारते कःस्विदेकाकी चरति सूर्य एकाकी चरतीत्यादीनि वाकोवाक्यम्। भारतरामायणादीनीतिहासः । पुराणं विष्णुपुराणशिवपुराणाद्यष्टादशविधम् । तेषु कुशलः समर्थः ॥ ६ ॥

तदपेक्षस्तद्वृत्तिः ॥ ७ ॥

यान्येतानि लोकादीन्यनूक्तानि तान्यपेक्षत इति । तद्वृत्तिस्तदभिहितानां कर्मणामनुष्ठाता ॥ ७ ॥

चत्वारिंशत्संस्कारैः संस्कृतः ॥ ८ ॥

चत्वारिंशत्संस्कारा गर्भाधानादयो वक्ष्यन्ते तैः संस्कृतः ॥ ८ ॥

त्रिषु कर्मस्वभिरतः ॥ ९ ॥

इज्याध्ययनदानानि त्रीणि कर्माणि तेष्वभिरतः । तेषां सातत्येनानुष्ठाता । तद्वृत्तिरित्यनेनैव सिद्धे पुनर्वचनमतिदार्ढ्यार्थम् ॥ ९ ॥

षट्सु वा ॥ १० ॥

याजनाध्यापनप्रतिग्रहैः सह षट् कर्माणि तेष्वभिरतः । वाशब्देन पूर्वोक्तेषु नियमः ॥ १० ॥

सामयाचारिकेष्वभिविनीतः ॥ ११ ॥

पौरुषेयी व्यवस्था समयः । तन्मूला आचाराः समयाचारास्तेषु भवाः सामयाचारिकाः स्मार्ता धर्मास्तेष्वभिविनीतः पित्रादिभिः सम्यग्शिक्षितः ॥ ११ ॥

स एवंरूपो ब्राह्मणः—

षड्भिः परिहार्यो राज्ञा ॥ १२ ॥

षड्भिर्वक्ष्यमाणैर्वधादिभिः परिहार्यो राज्ञा भवति । परिहारो वर्जनम् ॥ १२ ॥

तान्यधादीनाह—

अवध्यश्चाबन्ध्यश्चादण्ड्यश्चाबहिष्कार्यश्चापरिवाद्यश्चापरिहार्यश्चेति ॥ १३ ॥

---

१ ग. 'न्यनुक्तान्यपेक्षि । २ क. ख. ग. 'मविहा' । ३ क. ख. ग. विदान्द' । ४ क. ग. 'गविहा' ।

वधस्ताडनं बन्धो निगडनं दण्डोऽर्थापहारः । बहिष्कारो ग्रामादिभ्यो निरसनं परिवादो दोषसंकीर्तनं परिहारस्त्यागः । एडेते वधादय एवंभूते बहुश्रुते ब्राह्मणे सत्यबुद्धिपूर्वापराधे राज्ञा वर्ज्याः । बुद्धिपूर्वस्य तु प्रसङ्गाभावात् । इतिशब्दः प्रकारवचने । यच्चान्यदेवंरूपसंभाषादि तदपि वर्ज्यमिति ॥ १३ ॥

चत्वारिंशत्संस्कारैरित्युक्तं तानाह—

गर्भाधानपुंसवनसीमन्तोन्नयनजातकर्मनाम-
करणान्नप्राशनचौलोपनयनम् ॥ १४ ॥

समाहारद्वंद्वः । गर्भाधानमृतावुपेयादित्यादिकालनियमेन सूत्रकारोक्तविधाननिषेकः । गर्भाधानादयः संस्कारास्तत्तद्गृह्येषूक्ताः । इह तु संस्कारगणनार्थं स्वरूपनिर्देशमात्रं कृतम् ॥ १४ ॥

चत्वारि वेदव्रतानि ॥ १५ ॥

एतानि प्रतिवेदं प्रतिशाखं च गृह्येषूक्तानि ॥ १५ ॥

स्नानं सहधर्मचारिणीसंयोगः ॥ १६ ॥

स्नानं समावर्तनं सहधर्मचारिणीसंयोगो विवाहः ॥ १६ ॥

पञ्चानां यज्ञानामनुष्ठानं देवपितृ-
मनुष्यभूतब्रह्मणाम् ॥ १७ ॥

पञ्चानां देवानां यज्ञास्तेषामनुष्ठानम् । एतत्पञ्चमहायज्ञानुष्ठानमहरहः कर्तव्यम् । न तु सकृत्कृतेन संस्कारसिद्धिः । पञ्चग्रहणात्पञ्चैते पृथक्संस्कारा न पुनः समुदिता एकः संस्कारः ॥ १७ ॥

एतेषां च ॥ १८ ॥

वक्ष्यमाणानामष्टकादीनां च पाकयज्ञानामनुष्ठानं संस्कार इति ॥ १८ ॥ तानाह—

अष्टका पार्वणः श्राद्धं श्रावण्याग्रहायणी
चैत्र्याश्वयुजीति सप्त पाकयज्ञसंस्थाः ॥ १९ ॥

ऊर्ध्वमाग्रहायण्यास्त्रयोऽपरपक्षास्तेष्वेकैकस्मिन्नेकाऽष्टका भवतीति च्छन्दोगाः । हेमन्तशिशिरयोश्चतुर्णामपरपक्षाणामष्टमीष्वष्टकैकस्यां

चेत्याश्वलायनः । या माध्याः पौर्णमास्या उपरिष्टान्मध्याष्टका तस्यामष्टमी ज्येष्ठया संपद्यते तामेकाष्टकेत्याचक्षत इत्यापस्तम्बः । एवं भूताष्टका । पर्वणि भवः स्थालीपाकः पार्वणः । श्राद्धं मासि श्राद्धम् । श्रावणी सर्पबलिः श्रावण्यां पौर्णमास्यां गृह्यमग्निमतिप्रणीयेत्यादिच्छन्दोगाभिहितः । श्रावण्यां पौर्णमास्यामस्तमिते स्थालीपाक इत्यापस्तम्बः । आग्रहायणी मार्गशीर्ष्यां पौर्णमास्यां क्रियमाणः सर्पबलिरुत्सर्गहोमः । हेमन्ते प्रत्यवरोहणाख्यं च कर्माऽऽग्रहायणीशब्देनोच्यते । चैत्री शूलगव ईशानबलिरित्यापस्तम्बीयानां प्रसिद्धः । स चैत्र्यां पौर्णमास्यां भवति । अथ शूलगवः शरदि वसन्ते चेत्याश्वलायनः । आश्वयुजीं रुद्राय स इति च्छन्दोगाः । आश्वयुज्यां पौर्णमास्यां तत्कर्मनिवेशनमलंकृत्य स्नाताः शुचिवाससः पशुपतये स्थालीपाकं निरूप्य जुहुयुरित्याश्वलायनः । अनाहिताग्नेराग्रयणमपि तत्रैव भवति । तदिदं द्वयमाश्वयुजीशब्देन विवक्षितम् । पाकयज्ञ इति गार्ह्याणां कर्मणामाख्या । यथाऽऽहाऽऽपस्तम्बः—लौकिकानां पाकयज्ञशब्द इति । संस्था विधाः पाकयज्ञविधाः सप्तेत्यर्थः ॥ १९ ॥

अग्न्याधेयमग्निहोत्रं दर्शपूर्णमासा वा-
ग्रयणं चातुर्मास्यानि निरूढपशुबन्धः सौ-
त्रामणीति सप्त हविर्यज्ञसंस्थाः ॥ २० ॥

अग्न्याधेयादयः श्रुतिसिद्धाः संस्कारेषु गण्यन्ते । सप्तग्रहणाद्दर्शपूर्णमासौ समुदायतयैकः संस्कारः । सोमसंबन्धाभावाद्धविर्यज्ञा इति ॥२०॥

अग्निष्टोमोऽत्यग्निष्टोम उक्थ्यः षोडशी वाजपेयोऽ-
तिरात्रोऽप्तोर्याम इति सप्त सोमसंस्थाः ॥ २१ ॥

अग्निष्टोमो राजन्यस्य । षोडशिग्रहो गृह्यते यत्र सोऽत्यग्निष्टोमः । ब्राह्मणस्य कथमयं संस्कार इति चिन्त्यम् । अन्ये प्रसिद्धाः ॥ २१ ॥

इत्येते चत्वारिंशत्संस्काराः ॥ २२ ॥

इत्युक्तोपसंहारः । चत्वारिंशद्ग्रहणादेव तावन्त एव संस्काराः । नान्यानि स्मार्तकर्माणि काम्यादीनि चेति ॥ २२ ॥

---

१ ग. 'इत्यापस्तम्बी ॰चे' । २ग. ॰हि॰ । ३ ग ॰द द ॰ । ४ ग. ॰ः । ॰सदन्स॰ ।

अथाष्टावात्मगुणाः ॥ २३ ॥

वक्ष्यन्त इति शेषः ॥ २३ ॥

दया सर्वभूतेषु क्षान्तिरनसूया शौचमना-
यासो मङ्गलमकार्पण्यमस्पृहेति ॥ २४ ॥

आत्मवत्सर्वभूतेषु यद्धिताय शिवाय च ।
वर्तते सततं हृष्टः कृत्स्ना ह्येषा दया स्मृता ॥
आक्रुष्टोऽभिहतो वाऽपि न क्रोशेन्न च ताडयेत् ।
अदुष्टो वाङ्मनःकायैः सा तितिक्षा क्षमा स्मृता ॥
यो धर्ममर्थं कामं च लभते मोक्षमेव च ।
न द्विष्यात्तं सदा प्राज्ञः साऽनसूया स्मृता बुधैः ॥
द्रव्यशौचं मनःशौचं वाचिकं कायिकं तथा ।
शौचं चतुर्विधं प्रोक्तमृषिभिस्तत्त्वदर्शिभिः ॥
यदारम्भे भवेत्पीडा नित्यमत्यन्तमात्मनः ।
तद्वर्जयेद्धर्म्यमपि सोऽनायासः प्रकीर्तितः ॥
प्रशस्ताचरणं नित्यमप्रशस्तविवर्जनम् ।
एतद्धि मङ्गलं प्रोक्तं मुनिभिस्तत्त्वदर्शिभिः ॥
आपद्यपि च कष्टायां भवेद्दीनो न कस्यचित् ।
संविभागरुचिश्च स्यात्तदकार्पण्यमुच्यते ॥
विवर्जयेदसंतोषं विषयेषु सदा नरः ।
परद्रव्याभिलाषं च साऽस्पृहा कथ्यते बुधैः ॥

इत्युक्तप्रकारेणाष्टावात्मगुणाः । अथ शब्दः संभावनायाम् ॥ २४ ॥

एषामुत्कर्षमाह—

यस्यैते चत्वारिंशत्संस्कारा न चाष्टावात्मगुणा न
स ब्रह्मणः सायुज्यं सालोक्यं गच्छति ॥ २५ ॥

सालोक्यं समानलोकवासित्वम् । एकदेशसंयोगात्सालोक्यं सम-
स्तयोगात्सायुज्यमिति ॥ २५ ॥

१ ग. °मन्ते सथाऽऽम° ।

यस्य तु खलु संस्काराणामेकदेशोऽप्यष्टावात्मगुणा अथ स ब्रह्मणः सायुज्यं सालोक्यं च गच्छति [गच्छति]॥ २६ ॥

तुशब्दो विशेषवाची । खलुशब्दः प्रसिद्धौ । यस्य चत्वारिंशत्संस्कारेषु द्विजत्वमूलकतिपयसंस्कारसंबन्धेऽप्यष्टावात्मगुणाः सन्ति । अथशब्दो निर्धारणे । ब्रह्मणः सायुज्यं सालोक्यं च गच्छत्येव ।

इति श्रीहरदत्तविरचितायां गौतमविवृतौ मिताक्षरायामष्टमोऽध्यायः ॥ ८ ॥

---

## अथ नवमोऽध्यायः ।

---

स विधिपूर्वकं स्नात्वा भार्यामधिगम्य यथोक्तान्गृहस्थधर्मान्प्रयुञ्जान इमानि व्रतान्यनुकर्षेत् ॥ १ ॥

तच्छब्देन पूर्वाध्यायोक्तराजा ब्राह्मणश्च परामृश्यते । वैश्यस्य तु स्नातकविषये विशेषं वक्ष्यति । विधिपूर्वं विधिं पुरस्कृत्य स्नात्वा वेदव्रतानि पारं नीत्वा समावर्तनं कृत्वा भार्यामधिगम्य विवाहं कृत्वा तदनन्तरं यथोक्तानतिथिपूजादिगृहस्थधर्माननुतिष्ठन्निमान्यपि वक्ष्यमाणानि व्रतान्यनुकर्षेत् । आत्मानं प्रापयेदनुतिष्ठेदिति ॥ १ ॥

स्नातकः ॥ २ ॥

चलोपो द्रष्टव्यः । स्नातकश्चैतानि गृहस्थव्रतान्यनुतिष्ठेत् । ब्रह्मचर्यान्निवृत्तत्वाद्गार्हस्थ्यव्यतिरिक्ताश्रमान्तराभावाच्च भार्याधिगमादूर्ध्वमिति पूर्वसूत्रमारब्धम् । स्नातकस्य तु भार्याधिगमासंभवे यावज्जीवं गृहस्थधर्मा एवानुष्ठेया इति सूत्रान्तरमारब्धम् । एतच्च राजब्राह्मणयोरेव स्नातकव्रतानुष्ठानं तदतिक्रमे प्रायश्चित्तं च विधीयते । तथा च स्मृत्यन्तरम्—राजब्राह्मणयोरेव नेतरेषां कथंचनेति ॥ २ ॥

कानि पुनस्तानि व्रतानि—

---

१ क. ख. ग. ब्राह्मणं । २ क. ख. ग. ब्राह्मणः । ३ क. च. °कुर्यात् ।

नित्यं शुचिः सुगन्धिः स्नानशीलः ॥ ३ ॥

आचमनादिना नित्यं शुचिः शक्तिविषये न मुहूर्तमप्यप्रयतः स्यात्। सुगन्धिश्चन्दनाद्यनुलिप्तेन सुरभिताङ्गः। यद्वा गन्धः शीलं सुशीलः स्यादिति। स्नानशीलो नित्यस्नायी स्यात्। अत्र स्नातकविषये वसिष्ठः—

स्नातकानां तु नित्यं स्यादन्तर्वासस्तथोत्तरम्।
यज्ञोपवीते द्वे यष्टिः सोदकश्च कमण्डलुः॥ इति॥

मनुः—

वैणवीं धारयेद्यष्टिं सोदकं च कमण्डलुम्।
यज्ञोपवीतं वेदं च शुभे रौक्मे च कुण्डले॥ इति।

वेदो दर्भमुष्टिः ॥ ३ ॥

सति विभवे न जीर्णमलवद्वासाः स्यात् ॥ ४ ॥

विभवेऽन्यस्य संभवे सति जीर्णं मलवच्च वासो न धारयेत् ॥ ४ ॥

न रक्तमुल्बणमन्यधृतं वासो बिभृयात् ॥ ५ ॥

कुसुम्भादिरागयुक्तमुल्बणं बहुमूल्यमन्यधृतं गुरुवर्जमन्यैः पूर्वधृतमेवंविधानि वासांसि न धारयेत्। सति विभव इत्यनुवर्तते ॥ ५ ॥

न स्रगुपानहौ ॥ ६ ॥

स्रगुपानहावप्यन्यधृते न धारयेत् ॥ ६ ॥

निर्णिक्तमशक्तौ ॥ ७ ॥

अन्यस्यालाभोऽशक्तिः। अशक्तावन्यधृतं वासः स्रगुपानहौ च निर्णिज्य धारयेत्। तत्र वासोनिर्णेजनं ऊषरोदके पक्षं कार्यम् ॥ ७ ॥

न रूढश्मश्रुरकस्मात् ॥ ८ ॥

श्मश्रुग्रहणं नखादीनामप्युपलक्षणार्थम्। अकारणान्न रूढश्मश्रुः स्यात्। कारणे सति रूढश्मश्रुः स्यात्। कारणं तु स्मृत्यन्तरे पठितम्[1]—

षष्ठाब्दे षोडशाब्दे च विवाहाब्दे तथैव च।
अन्तर्वत्न्यां च जायायां क्षौरकर्म विवर्जयेत्॥ इति।

वपनस्यापि गङ्गायां भास्करक्षेत्र इत्यादिना चोदितकालत्वात्कथं तर्हि स्यात्तत्र मनुः—

क्लृप्तकेशनखश्मश्रुरिति कल्पना कर्तनेन समीकरणम्। याज्ञवल्क्यश्च—

[1] ग हस्तकं°।

शुक्लाम्बरधरो नीचकेशश्मश्रुनखः शुचिः । इति ॥ ८ ॥

नाग्निमपश्च युगपद्धारयेत् ॥ ९ ॥

एकेन हस्तेनाग्निमपरेणापश्च युगपन्न धारयेत् । अत्र व्याघ्रो विशेषमाह—

न धारयेदपश्चाग्निमपश्चान्नं तथैव च ।
युगपत्स्नातको नित्यं तद्भार्याऽपि तथैव चेति ॥ ९ ॥

नाञ्जलिना पिबेत् ॥ १० ॥

यत्किंचित्क्षीरोदकादि पेयमञ्जलिना न पिबेत् । संयुक्तौ हस्तावञ्जलिः ॥ १० ॥

न तिष्ठन्नुद्धृतोदकेनाऽऽचामेत् ॥ ११ ॥

उद्धृतोदकेन तिष्ठन्नाऽऽचामेत् । आसीन एवाऽऽचामेत् । उद्धृतोदकेनेति वचनात्तटाकादिषु तीरप्रदेशस्याशुचित्वे जानुदघ्ने जले तिष्ठतोऽप्याचमनमप्रतिषिद्धम् । आचारोऽप्येवमेव शिष्टानाम् ॥ ११ ॥

न शूद्राशुच्येकपाण्यावर्जितेन ॥ १२ ॥

शूद्रेणाशुचिनाऽप्यस्पृश्यस्पर्शादिदूषितेन द्विजेनाप्येकेन पाणिना च यदावर्जितं तेनोदकेन नाऽऽचामेत् । स्वयं तु वामहस्तावर्जितेनोदकेनाऽऽचमनविषय एकपाण्यावर्जितत्वं समानमिति चेन्न । हस्तद्वयस्याप्याचमनकर्मसंबन्धात्तथा च शिष्टाचारदर्शनात् ॥ १२ ॥

न वाय्वग्निविप्रादित्यापो देवता गाश्च प्रति
पश्यन्वा मूत्रपुरीषामेध्यान्व्युदस्येत् ॥ १३ ॥

अप्शब्दान्ते द्वन्द्व आर्षत्वात्समासान्तो न कृतः । अनित्याः समासान्ता इति केषांचित्पक्षः । देवताः प्रतिमाः । वाय्वादीन्प्रति मूत्रादीनि न व्युदस्येत्पश्यन्वा न कुर्यादिति प्रतिपश्यन्वेत्यर्थः । प्रति न कुर्यादित्याभिमुख्यवर्जनम् । पश्यन्न कुर्यादिति नियमादाभिमुख्येऽप्यनवलोकनम् । मूत्रपुरीषयोः पृथगुपादानादमेध्यशब्देन निष्ठीवनोच्छिष्टादि विवक्षितं तदर्थमेध्यशब्देनैवालम् । मूत्रपुरीषग्रहणं तु तयोरतिशयेन वर्जनार्थम् ॥ १३ ॥

---

१०. दक्षो । २ ६. ख ग. 'दिखेतं ।

नैता देवताः प्रति पादौ प्रसारयेत् ॥ १४ ॥

एता वाय्वाद्या देवताः प्रति पादौ न प्रसारयेत् । पादावित्युपलक्षणं पादं च न प्रसारयेत् । गोषु विप्रेषु च देवतापदप्रयोगस्तद्वदुपचारार्थः ॥ १४ ॥

न पर्णलोष्टाश्मभिर्मूत्रपुरीषापकर्षणं कुर्यात् ॥ १५ ॥

न पर्णादिभिर्मूत्रपुरीषयोरपकर्षणमपमार्जनं कुर्यात् । अन्यैस्तु कुर्यादिति ॥ १५ ॥

न भस्मकेशनखतुषकपालमेध्यान्यधितिष्ठेत् ॥ १६ ॥

भस्मादीनि नाऽऽक्रामेत् । तुषा व्रीह्यादीनां त्वचः । अन्ये प्रसिद्धाः । तेषामुपरि न तिष्ठेत् । अधितिष्ठेदित्यनेन यादृच्छिकस्पर्शमात्रे न दोषः ॥ १६ ॥

न म्लेच्छाशुच्यधार्मिकैः सह संभाषेत ॥ १७ ॥

वर्णाश्रमधर्मरहिते देशे सिंहलद्वीपादौ ये वसन्ति ते म्लेच्छाः । अशुचय आर्या अपि विहितानि संध्यावन्दनादीनि ये न कुर्वन्ति ते तथोक्ताः । अधार्मिकाः पतितादयस्तैः सह न संभाषेत । संशब्दप्रयोगादेव सिद्धे सहग्रहणं तैः सहैककार्यो भूत्वा न संभाषेतेत्येवमर्थम् । तेन मार्गप्रश्नादौ न दोषः ॥ १७ ॥

संभाष्य पुण्यकृतो मनसा ध्यायेत् ॥ १८ ॥

यदि कारणवशात्तैः सह संभाषेत ततः पुण्यकृतो वसिष्ठादीन्मनसा ध्यायेत् । मनसेति ध्यानस्वभावानुवादः ॥ १८ ॥

ब्राह्मणेन वा सह संभाषेत ॥ १९ ॥

प्रकरणाद्ब्राह्मणोऽपि पुण्यकृदेव ॥ १९ ॥

अधेनुं *धेनुभव्येति ब्रूयात् ॥ २० ॥

धेनुः पयस्विनी गौः । अधेनुस्तद्विपरीता । तामपि धेनुभव्येति ब्रूयान्न पुनरधेनुरिति ॥ २० ॥

---

* अत्र धेनोर्भव्य इति मुम्तु न भवति ६०यन्तत्वेनाव्ययत्वात् ।

अभद्रं भद्रमिति ॥ २१ ॥

अभद्रमपि वस्तु भद्रमित्येव ब्रूयात् ॥ २१ ॥

कपालं भगालमिति ॥ २२ ॥

कपालं ब्रुवन्भगालमिति ब्रूयात् ॥ २२ ॥

मणिधनुरितीन्द्रधनुः ॥ २३ ॥

इन्द्रधनुरिति ब्रुवन्मणिधनुरिति ब्रूयात् ॥ २३ ॥

गां धयन्तीं परस्मै नाऽऽचक्षीत ॥ २४ ॥

धेट्पाने । व्यत्ययेनात्र कर्मणि कर्तृप्रत्ययः । वत्सेन पीयमानां गां परस्मै स्वामिने न ब्रूयात् । यस्य हविषे वत्सा अपाकृता धयेयुरित्यादिके निमित्ते त्वाख्यातव्यमेव संसृष्टां च वत्सेनेत्यापस्तम्बीये विशेषात्॥२४॥

न चैनां वारयेत् ॥ २५ ॥

न च स्वयमप्येनां वारयेदिति ॥ २५ ॥

न मिथुनी भूत्वा शौचं प्रति विलम्बेत ॥ २६ ॥

मिथुनीभूय स्त्रियमुपगम्य शौचं प्रति न विलम्बेत । तत्क्षण एव कुर्यात् । शौचं त्वापस्तम्बेनाभिहितम्—उदकोपस्पर्शनमपि वा लेपा-न्प्रक्षाल्याऽऽचम्य प्रोक्षणमङ्गानामिति ॥ २६ ॥

न च तस्मिन्शयने स्वाध्यायमधीयीत ॥ २७ ॥

यस्मिन्मिथुनमाचरितम् ॥ २७ ॥

न चापररात्रमधीत्य पुनः प्रतिसंविशेत् ॥ २८ ॥

यः पूर्वरात्रे सुप्त्वाऽपररात्र उत्थायाधीते । न स पुनः प्रतिसंविशेत् । कालदैर्घ्ये सति पुनर्न स्वप्याच्छेषां रात्रिं जागृयादेवेति पुनर्ग्रहणात्पूर्वरा-त्रेऽसुप्तस्य स्वापे न दोषः ॥ २८ ॥

नाकल्पां नारीमभिरमयेत् ॥ २९ ॥

अकल्पां रोगादिनाऽस्वस्थां नारीं नाभिरमयेत् । नानया मिथुनी भवेत् ॥ २९ ॥

न रजस्वलाम् ॥ ३० ॥

रजस्वलामपि नारीं नाभिरमयेत् । उदक्यागमने त्रिरात्रमिति प्रायश्चित्तं वक्ष्यति तेनैव सिद्धे वचनमिदं त्रिरात्रादूर्ध्वमप्यनिवृत्ते रजसि गमनप्रतिषेधार्थम् ॥ ३० ॥

न चैनां श्लिष्येन्न कन्याम् ॥ ३१ ॥

एनां रजस्वलां कन्यामनूढामपि न श्लिष्येन्नाऽऽलिङ्गेत् ॥ ३१ ॥

अग्निमुखोपधमनविगृह्यवादबहिर्गन्धमाल्यधारणपापीयसावलेखनभार्यया सहभोजनाञ्जन्त्यवेक्षणकुद्वारप्रवेशनपादपादधावनासन्दीस्थभोजननदीबाहुतरणवृक्षविषमारोहणावरोहणप्राणव्यायच्छनानि वर्जयेत् ॥ ३२ ॥

उपधमनमुपध्मानं नाग्निं मुखेनोपधमेन्न ज्वलयेत् । विगृह्यवादो वाक्कलहः । गन्धमाल्ययोर्बहिर्धारणं प्रकाशधारणमिति । अनाविस्स्रगनुलेपनः स्यादित्यापस्तम्बः । पापीयसावलेखनमशुचिना काष्ठादिना शिरःप्रभृतेः कण्डूयनं तृतीयाया अलुक्छान्दसः । भार्यया सह भोजनं भार्यया सहैकस्मिन्भाजने भोजनम् । केषुचिद्देशेष्वाचारात्प्राप्तौ सत्यां निषेधः । अन्ये त्वेकस्मिन्काले भोजनं सहभोजनमिच्छन्ति । अञ्जन्त्यवेक्षणम् । अञ्जन्तीं तैलाभ्यङ्गं कुर्वत्यञ्जनादिभिरलंक्रियमाणा वा तस्या अवेक्षणं तच्च भार्याविषयमित्येके स्त्रीमात्रविषयमित्यन्ये । कुद्वारप्रवेशनं द्वारव्यतिरिक्तप्रदेशेन देवालयगृहादेः प्रवेशनमप्रसिद्धमार्गेण नगरग्रामादेः प्रवेशनमिति । यथा चाऽऽपस्तम्बः—न कुसृत्या ग्रामं प्रविशेद्यदि प्रविशेन्नमो रुद्राय वास्तोष्पतय इत्येतामृचं जपेदन्यां वा रौद्रीमिति । पादपादधावनं पादेन पादप्रक्षालनम् । आसन्दीस्थभोजनम्, आसन्दी पीठिका तत्रस्थस्यान्नस्य भोजनमासन्दीस्थभोजनम् । यद्वा यत्राऽऽसीनो भुङ्क्ते तत्राऽऽसने भोजनपात्रं निधाय यद्भोजनं तद्वा । नदीबाहुतरणं बाहुभ्यां नद्यास्तरणं पारगमनम् । बाहुतरणात्प्लवादौ न दोषः । नदीग्रहणं तडागादीनामप्युपलक्षणम् । वृक्षविषमारोहणावरोहणे वृक्षस्याऽऽरोहणं विषमस्य कूपादेरवरोहणं च । वृक्षविषमग्रहणे

नात्युन्नतनिम्नस्थलं लक्ष्यते । प्राणव्यायच्छनं प्राणोपरोध्युल्लङ्घनजलयन्त्राद्यधिरोहणम् । एतान्यग्निमुखोपयमनादीनि वर्जयेत् ॥ ३२ ॥

न संदिग्धां नावमधिरोहेत् ॥ ३३ ॥

पारगमने संदिग्धामसमर्थां नावं नाधितिष्ठेत् ॥ ३३ ॥

प्रतिपदपाठस्याशक्यत्वात्संक्षिप्याऽऽह—

सर्वत एवाऽऽत्मानं गोपायेत् ॥ ३४ ॥

सर्वेभ्य उपायेभ्य आत्मानं रक्षयेत् । एको न गच्छेदध्वानमित्यादिभ्यः ॥ ३४ ॥

न प्रावृत्य शिरोऽहनि पर्यटेत् ॥ ३५ ॥

प्रावृत्याऽऽशिरसो दिवा चङ्क्रमणप्रतिषेधः । आसीनस्य यथारुचि । मार्गे वर्षातपादिबाधे प्रावृत्यापि चङ्क्रमणे न दोषः । सर्वत एवाऽऽत्मानं गोपायेदित्युक्तत्वात् ॥ ३५ ॥

प्रावृत्य रात्रौ ॥ ३६ ॥

रात्रौ तु शिरः प्रावृत्यैव पर्यटेत ॥ ३६ ॥

मूत्रोच्चारे च ॥ ३७ ॥

मूत्रणं मूत्र उच्चारः पुरीषकर्म तयोः समाहारद्वंद्वः । तत्र च शिरः प्रावृत्य प्रावृतशिराः कर्म कुर्यादिति शेषः ॥ ३७ ॥

न भूमावनन्तर्धाय ॥ ३८ ॥

मूत्रपुरीषकर्मणी भूमौ तृणादिभिरन्तर्धायैव कुर्यात । अपक्षिपेन्मृदैरिति स्मृत्यन्तरे ॥ ३८ ॥

नाऽऽराचाऽऽवसथात् ॥ ३९ ॥

आवसथो गृहम् । तत्समीपे न कुर्यात् ॥ ३९ ॥

न भस्मकरीषकृष्टच्छायापथिकाम्येषु ॥ ४० ॥

करीषं गोमयम् । छायोपजीव्या. पथिकाश्रयो यत्र विश्राम्यन्ति । काम्यं कमनीयः प्रदेशः । भस्मादिष्वेतेषु मूत्रपुरीषकर्मणी न कुर्यात् ॥ ४० ॥

उभे मूत्रपुरीषे तु दिवा कुर्यादुदङ्मुखः ॥ ४१ ॥

मूत्रपुरीषे दिवा चेदुदङ्मुख एव कुर्यात् ॥ ४१ ॥

संध्ययोश्च ॥ ४२ ॥

उदङ्मुखः कुर्यात् । इति ॥ ४२ ॥

रात्रौ दक्षिणामुखः ॥ ४३ ॥

स्पष्टम् ॥ ४३ ॥

पालाशमासनं पादुके दन्तधावनमिति च वर्जयेत् ॥ ४४ ॥

इतिकारार्थोर्थाद्यच्चान्यदेवं युक्तं रथादि तदपि पालाशं वर्जयेत्। अत्र पठन्ति—

आसनं शयनं यानं गृहोपकरणं तथा ।
वर्जयेत्पादुकां चैव पालाशं दन्तधावनम् ॥ इति ॥ ४४ ॥

सोपानत्करश्चाऽऽसनाभिवादननमस्कारान्वर्जयेत् ॥ ४५ ॥

अभिवादनं पूर्वोक्तं नमस्कारो देवताप्रणामः । अभिवादनादीनि सोपानत्को न कुर्यात् । उपानद्ग्रहणं पादुकादेरप्युपलक्षणम् ॥ ४५ ॥

न पूर्वाह्णमध्यंदिनापराह्णानफलान्कु-
र्याद्यथाशक्ति धर्मार्थकामेभ्यः ॥ ४६ ॥

तृतीयार्थे चतुर्थी पञ्चमी वा । पूर्वाह्णादीनह्नस्त्रीन्भागान्धर्मादिभिस्त्रिभिर्यथाशक्त्यफलान्न कुर्यात्किं तर्हि सफलानेव कुर्याद्यथासंख्यम् ॥ ४६ ॥

तेषु तु धर्मोत्तरः स्यात् ॥ ४७ ॥

तुशब्दोऽनवस्थां परिहरति । तेषु धर्मार्थकामेषु धर्मोत्तरः स्याद्धर्मप्रधानः स्यात् । धर्माविरोधेनार्थकामौ सेवेतेति । तथा च मनुः—

परित्यजेदर्थकामौ यौ स्यातां धर्मवर्जितौ । इति ॥ ४७ ॥

न नग्नां परयोषितमीक्षेत ॥ ४८ ॥

परा चासौ योषिच्च परयोषित् । अन्यथा विधवानूढावेश्यादयो न स्युः । तां नग्नां सतीं नेक्षेत ॥ ४८ ॥

---

१ ग. °नत्कोऽसनाभि° ।

न पदाऽऽसनमाकर्षेत् ॥ ४९ ॥

पादेनाऽऽसनमात्मसमीपं न प्रापयेत् ॥ ४९ ॥

न शिश्नोदरपाणिपादवाक्चक्षु-
श्चापलानि कुर्यात् ॥ ५० ॥

चापलशब्दः प्रत्येकं संबध्यते । शिश्नचापलमकाले मैथुनेच्छा । उदरचापलं सर्वदा विभक्षयिषा । पाणिचापलं शिल्पकर्म शिक्षाभिलापः । पादचापलं पर्यटनम् । वाक्चापलं नापृष्टः कस्यचिद्ब्रूयान्न चान्यायेन पृच्छत इत्येतदतिक्रमेण व्यवहारः । चक्षुश्चापलं नृत्यादिदिदृक्षा । एतानि न कुर्यात् ॥ ५० ॥

छेदनभेदनविलेखनविमर्दनावस्फोट-
नानि नाकस्मात्कुर्यात् ॥ ५१ ॥

छेदनं तृणादीनाम् । भेदनं घटादेः । विलेखनं कुड्यभूम्यादौ नखादिभिर्विलेखनम् । विमर्दनं लोष्टादीनां चूर्णीकरणम् । अवस्फोटनमङ्गुलीनां सशब्दं प्रसारणम् । एतदकस्मान्न कुर्यात् । कारणे त्ववस्फोटनादिषु न दोषः । छेदनादिष्वपि यथासंभवं सुगमम् ॥ ५१ ॥

नोपरि वत्सतन्त्रीं गच्छेत् ॥ ५२ ॥

वत्सबन्धनी रज्जुर्वत्सतन्त्री । तामुपरि न गच्छेत् । वत्सशब्दो गोजातेरुपलक्षणम् ॥ ५२ ॥

न कुलंकुलः स्यात् ॥ ५३ ॥

कुलमेव कुलं यस्य स कुलंकुलः । छान्दसो मुमागमः । एवंविधो न स्यात् । अन्यत्र गमनेऽध्ययनादिलाभे सति स्वकुल एव न तिष्ठेदिति । अपर आह—कुलात्कुलान्तरगामी कुलंकुलो दत्तादिरूपेण तथाविधो न स्यात् । स्वसूत्रपरित्यागेन परसूत्रं न भजेदिति । तत्र स्मृत्यन्तरम्—

यः स्वसूत्रं परित्यज्य परसूत्रं निषेवते ।
शाखारण्डः स विज्ञेयः सर्वकर्मबहिष्कृतः ॥ इति ॥ ५३ ॥

न यज्ञमवृतो गच्छेत् ॥ ५४ ॥

अवृतोऽनुपामन्त्रितो यज्ञं न गच्छेत् ॥ ५४ ॥

---

१ ग. °त्सबन्धिनी । २ ग. °वंधं° ।

दर्शनाय तु कामम् ॥ ५५ ॥

अवृतोऽपि कामं दर्शनाय यज्ञं गच्छेत् । न त्वार्विज्यादिलिप्सया ॥ ५५ ॥

न भेक्षानुत्सङ्गे भक्षयेत् ॥ ५६ ॥

भेक्षाः पृथुकादयस्तानुत्सङ्गे कृत्वा न भक्षयेत् ॥ ५६ ॥

न रात्रौ प्रेष्याहृतम् ॥ ५७ ॥

रात्रौ प्रेष्येण किंकरेण यदानीतं तद्यत्किंचिदपि न भक्षयेत् । न भक्षानेव । एकवचननिर्देशात् ॥ ५७ ॥

उद्धृतस्नेहविलपनपिण्याकमथितप्रभृतीनि चाऽऽत्तवीर्याणि नाश्नीयात् ॥५८॥

आत्तवीर्याण्युपात्तसारांशानि नाश्नीयात् । कानि पुनस्तानि तेषामुदाहरणप्रपञ्चः । उद्धृतस्नेहे उपात्ताग्रमण्डे दधिपयसी । विलपनं नवनीतमलम् । यन्त्रे पीडितानां तिलानां कल्कः पिण्याकम् । यस्य मथनमात्रं नाम्बुसंसर्गस्तदपि मथितम् । यदाहुर्नैघण्टिकाः—

तक्रं ह्युदश्विन्मथितं पादाम्ब्वर्धाम्बु निर्जलम् । इति ।

तच्च द्विविधम् । आत्तनवनीतमितरच्च । तत्राऽऽद्यस्येह ग्रहणं तथ्यात्तवीर्यस्योदाहरणम् । प्रभृतिग्रहणेन यच्चान्यदेवंविधं कल्करूपं तस्य ग्रहणम् । उद्धृतनवनीतं तक्रमाश्यमनाश्यमिति चिन्त्यम् । आचारस्त्वशनमेव । अभक्ष्यप्रकरणे वक्तव्य इह वचनात्स्नातकव्रतलोपे यत्प्रायश्चित्तं तदेवैषामशने भवति नाभक्ष्यभक्षणनिमित्तम् ॥ ५८ ॥

सायंप्रातस्त्वन्नमभिपूजितमनिन्दन्भुञ्जीत ॥ ५९ ॥

तुशब्दस्त्ववधारणे । सायं रात्रिः प्रातरहस्तयोर्द्वयोरेककालयोरशनं भुञ्जीत । नान्तरेति प्राप्तस्य भोजनस्य परिसंख्येयम् । तत्र गुणविधिरभिपूजितमनिन्दन्निति । अभिपूजितं रोचत इति । अनिन्दन्कदन्नत्वादिदोषेणाकुत्सयन् । सायं प्रातरशनान्यभिपूजयेदिति वसिष्ठः ॥ ५९ ॥

न कदाचिद्रात्रौ नग्नः स्वपेत् ॥ ६० ॥

गुप्यादात्रौ न तु नग्नः स्वपेत । तदेवं रात्रौ नग्नस्य स्वापप्रतिषेधो

१ ग. भक्षान्तु° । २ ग. भक्षाः । ३ ग. 'स्यान्नस्य°' । ४ ग. 'मित्युक्ते°' ।

दिवा तु सर्वथेति । कदाचिद्ग्रहणादिदं लभ्यते । अन्यथा रात्रौ न नग्नः स्वपेदित्येव वाच्यं स्यात् ॥ ६० ॥

स्नायाद्वा ॥ ६१ ॥

न नग्न इत्येव । नग्नो जलं नावतरेदिति स्मृत्यन्तरम् ॥ ६१ ॥

आनन्त्यादाचाराणां प्रतिपदपाठो न शक्य इति संक्षिप्याऽऽह—

यत्राऽऽत्मवन्तो वृद्धाः सम्यग्विनीता दम्भलोभमोह—
वियुक्ता वेदविद आचक्षते तत्समाचरेत् ॥ ६२ ॥

आत्मवन्तो जितेन्द्रियाः । वृद्धाः परिणतवयसो यौवने विषयवश्यतासंभवात् । सम्यग्विनीता गुरुभिः शिक्षिताः । दम्भो धर्मच्छलेन लोकवञ्चनम् । लोभोऽन्यायेन परद्रव्यादित्सा । मोहोऽज्ञानं लोकविरुद्धज्ञानं वा तेन त्यक्ताः । वेदविदः पाठतश्चार्थतश्च वेदानां चोदितारः । अत्र वृद्धा इति विशेष्यम् । एवंभूता वृद्धा यदाचक्षते तत्कर्तव्यमिति । बहुवचननिर्देशाद्बहूनामैकमत्ये तद्भवति ॥ ६२ ॥

योगक्षेमार्थमीश्वरमधिगच्छेत् ॥ ६३ ॥

अलब्धस्य लाभो योगः । लब्धस्य परिपालनं क्षेमं । तदर्थमीश्वरं राजानमधिगच्छेत् । अधिशब्दप्रयोगादधिरैश्वर्यं इत्यस्मादकार्पण्येन स्वतन्त्रो गच्छेदिति ॥ ६३ ॥

नान्यमन्यत्र देवगुरुधार्मिकेभ्यः ॥ ६४ ॥

अन्यं राजव्यतिरिक्तं योगक्षेमसमर्थमपि नाधिगच्छेदित्यनुवादः । देवा इन्द्रादयः । गुरवः पित्रादयः । धार्मिका धर्माचरणशीलाः । एतेभ्योऽन्यत्र । एतानधिगच्छेदेवेति ॥ ६४ ॥

प्रभूतैधोदकयवसकुशमाल्योपनिष्क्रमणमार्यजनभूयिष्ठमनलससमृद्धं धार्मिकाधिष्ठितं निकेतनमावसितुं यतेत ॥ ६५ ॥

एधः काष्ठमुदकं स्नानपानयोग्यं यवसं तृणानि गवार्थम् । कुशाः प्रसिद्धाः । माल्यानि पुष्पाणि देवाद्यर्चनार्थम् । उपनिष्क्रम्यते यत्र तदुपनिष्क्रमणं बहिरवकाशः संचाराद्यर्थम् । एवमादीनि प्रभूतानि यत्र ।

१ ग. °वियुक्ता । २ ग. °ता वेदि° । ३ ग. °क्षेमः ।

दर्शनाय तु कामम् ॥ ५५ ॥

अवृतोऽपि कामं दर्शनाय यज्ञं गच्छेत् । न त्वार्विज्यादिलिप्सया ॥ ५५ ॥

न भैक्षानुत्सङ्गे भक्षयेत् ॥ ५६ ॥

भैक्षाः पृथुकादयस्तानुत्सङ्गे कृत्वा न भक्षयेत् ॥ ५६ ॥

न रात्रौ प्रेष्याहृतम् ॥ ५७ ॥

रात्रौ प्रेष्येण किंकरेण यदानीतं तद्यत्किंचिदपि न भक्षयेत् । न भक्षानेव । एकवचननिर्देशात् ॥ ५७ ॥

उद्धृतस्नेहविलपनपिण्याकमथितप्रभृतीनि चाऽऽत्तवीर्याणि नाश्नीयात् ॥ ५८ ॥

आत्तवीर्याण्युपात्तसारांशानि नाश्नीयात् । कानि पुनस्तानि तेषामुदाहरणप्रपञ्चः । उद्धृतस्नेहे उपात्ताग्रमण्डे दधिपयसी । विलपनं नवनीतमलम् । यन्त्रे पीडितानां तिलानां कल्कः पिण्याकम् । यस्य मथनमात्रं नाम्बुसंसर्गस्तदपि मथितम् । यदाहुर्नैघण्टिकाः—

तक्रं ह्युदश्विन्मथितं पादाम्ब्वर्धाम्बु निर्जलम् । इति ।

तच्च द्विविधम् । आत्तनवनीतमितरच्च । तत्राऽऽद्यस्येह ग्रहणं तद्ध्यात्तवीर्यस्योदाहरणम् । प्रभृतिग्रहणेन यच्चान्यदेवंविधं कल्करूपं तस्य ग्रहणम् । उद्धृतनवनीतं तक्रमाश्यमनाश्यमिति चिन्त्यम् । आचारस्त्वशनमेव । अभक्ष्यप्रकरणे वक्तव्य इह वचनात्स्नातकव्रतलोपे यत्प्रायश्चित्तं तदेवैषामशने भवति नाभक्ष्यभक्षणनिमित्तम् ॥ ५८ ॥

सायंप्रातस्त्वन्नमभिपूजितमनिन्दन्भुञ्जीत ॥ ५९ ॥

तुशब्दस्त्ववधारणे । सायं रात्रिः प्रातरहस्तयोर्द्वयोरेककालयोरशनं भुञ्जीत । नान्तरेति प्राप्तस्य भोजनस्य परिसंख्येयम् । तत्र गुणविधिरभिपूजितमनिन्दन्निति । अभिपूजितं रोचत इति । अनिन्दन्कदन्नत्वादिदोषेणाकुत्सयन् । सायं प्रातरशनान्यभिपूजयेदिति वसिष्ठः ॥ ५९ ॥

न कदाचिद्रात्रौ नग्नः स्वपेत् ॥ ६० ॥

सुप्यादात्रौ न तु नग्नः स्वपेत् । तदेवं रात्रौ नग्नस्य स्वापप्रतिषेधो

१ ग. मश्यानु° । २ ग. भक्ष्याः । ३ ग. °स्त्वनाश्यमे° । ४ ग. °भिजुपेदि° ।

दिवा तु सर्वथेति । कदाचिद्ग्रहणादिदं लभ्यते । अन्यथा रात्रौ न नग्नः स्वपेदित्येव वाच्यं स्यात् ॥ ६० ॥

स्नायाद्वा ॥ ६१ ॥

न नग्न इत्येव । नग्नो जलं नावतरेदिति स्मृत्यन्तरम् ॥ ६१ ॥

आनन्त्यादाचाराणां प्रतिपदपाठो न शक्य इति संक्षिप्याऽऽह—

यचाऽऽत्मवन्तो वृद्धाः सम्यग्विनीता दम्भलोभमोह—
विमुक्ता वेदविद आचक्षते तत्समाचरेत् ॥ ६२ ॥

आत्मवन्तो जितेन्द्रियाः । वृद्धाः परिणतवयसो यौवने विषयवश्यतासंभवात् । सम्यग्विनीता गुरुभिः शिक्षिताः । दम्भो धर्मच्छलेन लोकवञ्चनम् । लोभोऽन्यायेन परद्रव्यादित्सा । मोहोऽज्ञानं लोकविरुद्धज्ञानं वा तेन त्यक्ताः । वेदविदः पाठतश्चार्थतश्च वेदानां चोदितारः । अत्र वृद्धा इति विशेष्यम् । एवंभूता वृद्धा यदाचक्षते तत्कर्तव्यमिति । बहुवचननिर्देशाद्बहूनामैकमत्ये तद्भवति ॥ ६२ ॥

योगक्षेमार्थमीश्वरमधिगच्छेत् ॥ ६३ ॥

अलब्धस्य लाभो योगः । लब्धस्य परिपालनं क्षेम[3] । तदर्थमीश्वरं राजानमधिगच्छेत् । अधिशब्दप्रयोगादधिरैश्वर्य इत्यस्मादकार्पण्येन स्वतन्त्रो गच्छेदिति ॥ ६३ ॥

नान्यमन्यत्र देवगुरुधार्मिकेभ्यः ॥ ६४ ॥

अन्यं राजव्यतिरिक्तं योगक्षेमसमर्थमपि नाधिगच्छेदित्यनुवादः । देवा इन्द्रादयः । गुरवः पित्रादयः । धार्मिका धर्माचरणशीलाः । एतेभ्योऽन्यत्र । एतानधिगच्छेदेवेति ॥ ६४ ॥

प्रभूतैधोदकयवसकुशमाल्योपनिष्क्रमणमार्यजनभूयिष्ठमनलससमृद्धं धार्मिकाधिष्ठितं निकेतनमावसितुं यतेत ॥ ६५ ॥

एधः काष्ठमुदकं स्नानपानयोग्यं यवसं तृणानि गवार्थम् । कुशाः प्रसिद्धाः । माल्यानि पुष्पाणि देवाद्यर्चनार्थम् । उपनिष्क्रम्यते यत्र तदुपनिष्क्रमणं बहिरवकाशः संचाराद्यर्थम् । एवमादीनि प्रभूतानि यत्र ।

१ ग. °विमुक्ता । २ ग. °नो वेदि° । ३ ग. °क्षेमः ।

आर्यास्त्रैवर्णिकास्त एव जनास्तैर्भूयिष्ठं व्याप्तम् । अलसाः कृत्येषु निरुद्यमास्तद्विपरीता अनलसास्तैः समृद्धम् । धार्मिका धर्मशीलास्तैरधिष्ठातृभिरधिष्ठितम् । एवंभूतं निकेतनमावसितुं यतेत । एवंभूते स्थाने यत्नेनापि वसेदिति ॥ ६५ ॥

प्रशस्तमङ्गल्यदेवतायतनचतुष्पदं प्रदक्षिणमावर्तेत ॥ ६६ ॥

निर्गमनप्रवेशादिषु यथा ते दक्षिणपार्श्वे भवन्ति तथा कुर्यादिति॥६६॥

मनसा वा तत्समग्रमाचारमनुपालयेदापत्कल्पः ॥ ६७ ॥

संभवे तु साक्षादनुष्ठानमेवेति ॥ ६७ ॥

सत्यधर्मा ॥ ६८॥

सत्यवचनस्वभावः । स्यादिति वक्ष्यमाणमपेक्षते ॥ ६८ ॥

आर्यवृत्तः ॥ ६९ ॥

पूर्वभाषी प्रियंवद इत्याद्यार्याणां वृत्तमिव वृत्तं यस्य स तथा । उष्ट्रमुखवन्मध्यमपदलोपः ॥ ६९ ॥

शिष्टाध्यापकः ॥ ७० ॥

सतामध्यापयिता नत्वयोग्यानाम् ॥ ७० ॥

शौचशिष्टः ॥ ७१ ॥

शिष्टं शास्त्रविहितं शौचं यस्यास्ति स तथा । निष्ठान्तस्य परनिपातः । शास्त्रविहितेन शौचेन तद्वान् । शौचस्य पुनः पुनर्वचनं तात्पर्यार्थम् ॥ ७१ ॥

श्रुतिनिरतः स्यात् ॥ ७२ ॥

वेदाभ्यासरतः ॥ ७२ ॥

नित्यमहिंस्रो मृदुर्दृढकारी दमदानशीलः ॥ ७३ ॥

नित्यं निमित्ते सत्यप्यहिंस्रोऽहिंसाशीलः । मृदुः कृतापराधेऽपि सहकः । दृढकारी प्रारब्धस्य समापयिता न प्राक्रमिकः । दम इन्द्रियनिग्रहः । दानं संविभागः । तच्छीलः स्यादिति सर्वत्रापेक्ष्यते ॥ ७३ ॥

एवमाचारो मातापितरौ पूर्वापरांश्च संबन्धान्दुरितेभ्यो मोक्ष-

१ [illegible]

यिष्यन्स्नातकः शश्वद्ब्रह्मलोकान्न च्यवते न च्यवते ॥ ७४ ॥

एवमुक्तप्रकार आचारो यस्य स एवमाचारः। एवंभूतः स्नातको मातापितरौ पूर्वसंबन्धाः पितामहादयः। अपरसंबन्धाः पुत्रादयः। तांश्च पूर्वापरसंबन्धान्दुरितेभ्यः पापेभ्यो मोक्षयिष्यन्ये पूर्वं भूतास्तांस्तदैव नरकादिभ्यो मोचयति ये तु भविष्यन्तः पुत्रादयस्तांश्च मोक्षयिष्यन्। स प्रत्ययस्यार्थो मुंग्य(?)मोचयिष्यन्भवति स एवंभूतः स्नातकः शश्वद्बहुकालं ब्रह्मलोकान्न च्यवते। द्विरुक्तिरध्यायसमाप्त्यर्था। पुनःस्नातकग्रहणं स्नातकधर्माणामेवैतत्फलं न गृहस्थधर्मसहितानामित्येवमर्थम् ॥७४॥

इति श्रीहरदत्तविरचितायां गौतमीयवृत्तौ मिताक्षरायां

नवमोऽध्यायः ॥ ९ ॥

प्रथमः प्रश्नः समाप्तः।

अथ द्वितीय. प्रश्न.।

[ तत्र प्रथमोऽध्याय. ]

उक्ताः प्रायश आश्रमधर्माः। अथ वर्णधर्मानाह—

द्विजातीनामध्ययनमिज्या दानम् ॥ १ ॥

यथासंख्यमत्र न भवति। उत्तरत्राधिकग्रहणात्तत्रैव वक्तव्यं भविष्यति। अध्ययनं वेदग्रहणाभ्यासरूपम्। इज्या यागो देवपितृपूजा। दानं पात्रे द्रव्यत्यागः। द्विजातीनामिति वचनाद्यदा द्विजातयः संपन्नाः कृतोपनयनास्तत आरभ्यैते धर्माः। तेनानुपनीतानां दानेऽप्यधिकारो नास्तीति केचित्। नेति च वयम्। द्विजातीनामित्युपलक्षणं येषां द्विजातिर्जन्म तेषामिति। तेनानुपनीतस्याप्यर्थवतो हितैषिभिः प्रवर्तितस्य दानं भवत्येव ॥ १ ॥

ब्राह्मणस्याधिकाः प्रवचनयाजनप्रतिग्रहाः ॥ २ ॥

प्रवचनमध्यापनम्। याजनमार्त्विज्यम्। प्रतिग्रहः प्रसिद्धः। एते ब्राह्मणस्याधिकाः पूर्वेभ्योऽध्ययनादिभ्यः। ते चामी च समुचिता इत्युक्तं भवति। अत्राप्यनुपनीतस्यापि प्रतिग्रहो भवति। याजनाध्यापने त्वसंभवान्न भवतः। ब्राह्मणस्य प्रवचनयाजनप्रतिग्रहा इत्येव सिद्धेऽधिकग्रहणं पूर्वत्र यथासंख्यं मा भूदिति पूर्वं तावद्व्याख्यातम् ॥२॥

१ ङ. घ. च. पु. स्तावदव°।

दण्डत्वम्। न्यायदण्डत्वमित्यपि पाठ एष एवार्थः। स च राज्ञो धर्मः। रागद्वेषादिना न्यूनाधिकदण्डः स्यादिति ॥ ८ ॥

विभृयाद्ब्राह्मणाञ्छ्रोत्रियान् ॥ ९ ॥

श्रोत्रिया अधीतवेदास्तान्ब्राह्मणानन्नादिदानेन विभृयात् ॥ ९ ॥

निरुत्साहांश्च ब्राह्मणान् ॥ १० ॥

जीवनार्थमुत्साहं कर्तुमसमर्था निरुत्साहास्तान्ब्राह्मणानपि विभृयात्। किं पुनर्ब्राह्मणान्। पूर्वसूत्रे सर्जने समर्थानपि श्रोत्रियान्समाहूय विभृयादिति ॥ १० ॥

अकरांश्च ॥ ११ ॥

ये पूर्वदत्ता अकरा ब्राह्मणादिभ्यस्तांश्च यथापूर्वं विभृयाद्बाधकादिनिरासेन। स्वयं च नापूर्वं करमुत्पादयेदिति ॥ ११ ॥

उपकुर्वाणांश्च ॥ १२ ॥

अधीयाना ब्रह्मचारिण उपकुर्वाणास्तांश्च विभृयादन्नादिदानेन। पर्यर्थिनः स्वयं जीवितवन्तो वनसूकरादिव्यावर्तनेन। अपर आह—उपकुर्वाणा लोकोपकुर्वाणा वैद्यादय इति ॥ १२ ॥

योगश्च विजये ॥ १३ ॥

योग उपायो विजयविषयश्च योगः कार्यः। अयमपि राज्ञोऽधिको धर्म इति ॥ १३ ॥

भये विशेषेण ॥ १४ ॥

अन्याभिभवादिनिमित्ते विशेषेण योगः कार्यः ॥ १४ ॥

चर्या च रथधनुर्भ्याम् ॥ १५ ॥

चरणं चर्या। बहिःप्रदेशे चरन्रथमारूढो धनुर्हस्तश्च चरेत्। रथग्रहणं हस्त्यश्वादेरुपलक्षणं धनुर्ग्रहणं च खड्गादेः ॥ १५ ॥

सङ्ग्रामे संस्थानमनिवृत्तिश्च ॥ १६ ॥

सङ्ग्रामो युद्धं तत्र संस्थानं प्राणात्ययः। निवृत्तिः पलायनं तदभावोऽनिवृत्तिः। एतौ च राज्ञोऽधिकौ धर्मौ ॥ १६ ॥

---

१ क ख घ. °दादिविनिरे° । २ ग. °जीवनार्थमु° । ३ क. ग. घ °मिभवादि° ।

पूर्वेषु नियमस्तु ॥ ३ ॥

नियमोऽवश्यकर्तव्यता । पूर्वाण्यध्ययनादीन्यवश्यकर्तव्यानि । अकुर्वन्प्रत्यवैति कुर्वंश्चाभ्युदेति । प्रवचनादीनि तु वृत्त्यर्थानि । अतोऽकरणे न प्रत्यवायः करणे नाभ्युदयः ॥ ३ ॥

आचार्यज्ञातिप्रियगुरुधनविद्यानियमेषु
ब्रह्मणः संप्रदानमन्यत्र यथोक्तात् ॥ ४ ॥

ब्रह्म: वेदः । तस्य संप्रदानं सम्यक्प्रदानम् । अनुज्ञात उपविशेदित्यारभ्य शुश्रूषवोऽध्याप्या इत्युक्तं स यथोक्तो नियमः । तस्मादन्यत्र विनाऽपीति तेनाऽऽचार्यादिभ्यो ब्रह्म प्रदेयमित्युच्यते । आचार्य उक्तः । ज्ञातयो भ्रातृपितृव्यादयः । प्रियः सखा । गुरवो मातुलादयः । एतेषु ब्रह्म सम्यक्प्रदेयम् । तथा धनविद्यानियमेषु । धनेन विद्यायाः परिवर्तनं धननियमः । विद्यान्तरेण परिवर्तनं विद्यानियमः । तेष्वपि ब्रह्म संप्रदेयम् । धनविद्यानियमोऽपि योग्यविषय एव । शिष्टाध्यापक इत्युक्तत्वात् । न च तस्याप्ययमपवादः । यथा गृहृहणविधिनाऽध्ययनमुक्त(क्तं त)स्यैवायमपवाद इति ॥ ४ ॥

कृषिवाणिज्ये वाऽस्वयंकृते ॥ ५ ॥

कृषिः कर्षणेन सस्योत्पादनं वाणिज्या क्रयविक्रयव्यवहारः । ते च ब्राह्मणस्याधिके यद्यस्वयंकृते । अन्येन कारयितुं शक्येते ॥ ५ ॥

कुसीदं च ॥ ६ ॥

कुसीदमुपचयार्थो धनप्रयोगः । तदप्यस्वयंकृतं चेद्ब्राह्मणस्याधिकम् ॥ ६ ॥

राज्ञोऽधिकं रक्षणं सर्वभूतानाम् ॥ ७ ॥

राज्ञोऽभिषिक्तस्य सर्वभूतानां रक्षणमधिकम् । सर्वग्रहणात्स्थावरादीनामप्यश्वत्थादीनां छेदननिरोधेन ॥ ७ ॥

न्याय्यदण्डत्वम् ॥ ८ ॥

न्यायादनपेतो न्याय्यः शास्त्राविरुद्धो दण्डो यस्य तद्भावो न्याय्य-

१ क. ख घ 'दमाः ॥३॥ २ क ख घ 'र्थानि चेत् । [illegible] । ३ ग 'दंड-[illegible]ः ।

यावद्धा शौर्यं तदनुरूपेण भाजयेत् । यथैते तदनुरूपं भजेरंस्तथा कारयेदिति ॥ २३ ॥

राज्ञो बलिदानं कर्षकैर्दशममष्टमं षष्ठं वा ॥ २४ ॥

कर्षकैः क्षेत्रे यल्लब्धं तस्य दशमभागोऽष्टमः षष्ठो वांऽशो राज्ञो बलिदानं कररूपेण देयः । अस्य राज्ञः कर्षकैः क्षेत्रे यल्लब्धं तद्रक्षणनिमित्ता वृत्तिरेषा । कृष्टाया भूमेरतिभोगमध्यमभोगाल्पभोगविषयोऽयं व्यवस्थितो विकल्पः । अतिभोगे दशमांशो मध्यमभोगेऽष्टमांशोऽल्पभोगे षष्ठांश इति ॥ २४ ॥

पशुहिरण्ययोरप्येके पञ्चाशद्भागः ॥ २५ ॥

ये पशुभिर्जीवन्ति ये वा हिरण्यप्रयोक्तारो वार्धुषिकास्तैः पञ्चाशत्तमो भागो राज्ञे देय इत्येके । तद्यथा यस्य पञ्चाशत्पशवः सन्ति स प्रतिसंवत्सरमेकं पशुं राज्ञे दद्यात् । यस्य वा पञ्चाशन्निष्कैर्वृद्धिप्रयोगः स प्रतिसंवत्सरमेकैकं निष्कं राज्ञे बलिरूपेण दद्यादिति ॥ २५ ॥

विंशतिभागः शुल्कः पण्ये ॥ २६ ॥

यद्वणिग्भिर्विक्रीयते तत्पण्यं तत्र विंशतितमो भागो राज्ञे देयस्तस्यैव दीयमानस्य शुल्क इति संज्ञा । शुल्कप्रदेशाः प्रतिमाव्यं वणिक्शुल्कमित्यादयः ॥ २६ ॥

मूलफलपुष्पौषधमधुमांसतृणेन्धनानां षष्ठः ॥ २७ ॥

मूलं हरिद्रादि । फलमाम्रादि । पुष्पमुत्पलादि । औषधं बिल्वादि । शिष्टानि प्रसिद्धानि । एतेषु पण्येषु षष्टितमो भागो राज्ञे देयो विक्रेत्रा ॥ २७ ॥

कस्मात्पुनरेवं राज्ञे देय इत्यत आह—

तद्रक्षणधर्मित्वात् ॥ २८ ॥

तेषां करदायिनां रक्षणरूपेण धर्मेण तद्वत्त्वात्तेषामयं रक्षक इति कृत्वेति ॥ २८ ॥

तेषु तु नित्ययुक्तः स्यात् ॥ २९ ॥

तेषु कर्षकादिषु नित्ययुक्तः स्याद्रक्षणे नित्यमवहितः स्यात् । अपर

न दोषो हिंसायामाहवे ॥ १७ ॥

यत्र परस्परं माह्वयन्ते स आहवः । तादृशे युद्धे शत्रूणां हिंसायामपि न दोषः । नित्यमहिंस्र इत्यस्यायमपवादः ॥ १७ ॥

अन्यत्र व्यश्वसारथ्यायुधकृताञ्जलिप्रकीर्णकेशपराङ्मुखोपविष्टस्थलवृक्षाधिरूढदूतगोब्राह्मणवादिभ्यः ॥ १८ ॥

विशब्दश्च त्रिभिः संबध्यते । व्यश्वो विसारथिर्व्यायुध इति यस्याश्वो हतः स व्यश्वः । यस्य सारथिर्हतः स विसारथिः । यस्याऽऽयुधं कृत्तं पतितं वा स व्यायुधः । कृताञ्जलिर्भयेन । प्रकीर्णकेशः केशानपि नियन्तुमक्षमः । पराङ्मुखो भयेन पृष्ठीकृत्य पलायमानः । उपविष्टः पलायितुमप्यसमर्थ आसीनः । स्थलवृक्षाधिरूढः । स्थलमुन्नतप्रदेशस्तं वृक्षं वाऽऽरूढः । दूतो वार्ताहरः । गौरस्मि ब्राह्मणोऽस्मीति ये वदन्ति ते गोब्राह्मणवादिनः । एतेभ्योऽन्यत्राऽऽहवे हिंसायां न दोषः । एतेषु दोष इति ॥ १८ ॥

क्षत्रियश्चेदन्यस्तमुपजीवेत्तद्वृत्त्या ॥ १९ ॥

अन्यश्चेत्क्षत्रियस्तं राजानं देशोपप्लवादिनोपजीवेत्तदा तद्वृत्त्या तस्य राज्ञो या वृत्तिश्चर्या रथधनुर्भ्यामित्यादिका तया युक्तः सञ्जीवेत् । तेन राज्ञैवमसौ संमत इति ॥ १९ ॥

जेता लभेत साङ्ग्रामिकं वित्तम् ॥ २० ॥

राज्ञा नियुक्तो राजभृत्यादिः सङ्ग्रामे शत्रून्निर्जित्य यद्वित्तं लभते तत्स एव जेता लभेत न राजा ॥ २० ॥

वाहनं तु राज्ञः ॥ २१ ॥

वाहनं हस्त्यश्वादिकं निर्जित्य लब्धं राज्ञो भवति न जेतुः ॥ २१ ॥

उद्धारश्चापृथग्जये ॥ २२ ॥

यदि सर्वे सैनिकाः संभूय जयेयुर्जित्वा च किमपि लभेरंस्तस्मिन्नपृथग्जये राज्ञ उद्धारो विशिष्टद्रव्यं स्वयं वृतो देयः ॥ २२ ॥

अन्यत्तु यथार्हं भाजयेद्राजा ॥ २३ ॥

यत्स्वयं वृतं मणिरत्नादि ततोऽन्यद्यथार्हं यस्य यावान्व्यापारो

१ घ. ब. च. °रथसू° । २ क. ख. ग. °गितृ° । ३ ग. °संभोगे म. १९° । ४ क. ख. °दर्थ मोक्ष° ।

यावद्वा शौर्यं तदनुरूपेण भाजयेत् । यथैते तदनुरूपं भजेरंस्तथा कारयेदिति ॥ २३ ॥

राज्ञो बलिदानं कर्षकैर्दशममष्टमं षष्ठं वा ॥ २४ ॥

कर्षकैः क्षेत्रे यल्लब्धं तस्य दशमभागोऽष्टमः षष्ठो वांऽशो राज्ञो बलिदानं कररूपेण देयः । अस्य राज्ञः कर्षकैः क्षेत्रे यल्लब्धं तद्रक्षणनिमित्ता वृत्तिरेषा । कृष्टाया भूमेरतिभोगमध्यमभोगाल्पभोगविषयोऽयं व्यवस्थितो विकल्पः । अतिभोगे दशमांशो मध्यमभोगेऽष्टमांशोऽल्पभोगे षष्ठांश इति ॥ २४ ॥

पशुहिरण्ययोरप्येके पञ्चाशद्भागः ॥ २५ ॥

ये पशुभिर्जीवन्ति ये वा हिरण्यप्रयोक्तारो वार्धुषिकास्तैः पञ्चाशत्तमो भागो राज्ञे देय इत्येके । तद्यथा यस्य पञ्चाशत्पशवः सन्ति स प्रतिसंवत्सरमेकं पशुं राज्ञे दद्यात् । यस्य वा पञ्चाशन्निष्कैर्वृद्धिप्रयोगः स प्रतिसंवत्सरमेकैकं निष्कं राज्ञे बलिरूपेण दद्यादिति ॥ २५ ॥

विंशतिभागः शुल्कः पण्ये ॥ २६ ॥

यद्वणिग्भिर्विक्रीयते तत्पण्यं तत्र विंशतितमो भागो राज्ञे देयस्तस्यैव दीयमानस्य शुल्क इति संज्ञा । शुल्कप्रदेशाः प्रतिमाव्यं वणिक्शुल्कमित्यादयः ॥ २६ ॥

मूलफलपुष्पौषधमधुमांसतृणेन्धनानां षष्ठः ॥ २७ ॥

मूलं हरिद्रादि । फलमाम्रादि । पुष्पमुत्पलादि । औषधं बिल्वादि । शिष्टानि प्रसिद्धानि । एतेषु पण्येषु षष्टितमो भागो राज्ञे देयो विक्रेत्रा ॥ २७ ॥

कस्मात्पुनरेवं राज्ञे देय इत्यत आह—

तद्रक्षणधर्मित्वात् ॥ २८ ॥

तेषां करदायिनां रक्षणरूपेण धर्मेण तद्वत्त्वात्तेषामयं रक्षक इति कृत्वेति ॥ २८ ॥

तेषु तु नित्ययुक्तः स्यात् ॥ २९ ॥

तेषु कर्षकादिषु नित्ययुक्तः स्याद्रक्षणे नित्यमवहितः स्यात् । अपर

आह—तेषु बल्यादिषु नित्ययुक्तः स्यात् । तात्पर्येणाऽऽददीत शुल्कं ह्यस्यै तद्धनमिति ॥ २९ ॥

अधिकेन वृत्तिः ॥ ३० ॥

राज्ञोऽधिकं रक्षणमिति यदुक्तं तद्द्वारेण यदागतं धनं तदधिकं तेनाऽऽत्मनः पोष्यवर्गस्य च हस्त्यश्वादीनां च वृत्तिः स्यात् । न तु पूर्वैर्यत्संचित्य खातं कोशरूपेण तेन जीवेत् । आपदि तु तेनापि जीवेत् । तथा च व्याघ्रः—

कुटुम्बपोषणं कुर्यान्नित्यं कोशं च धारयेत् ।
आपदोऽन्यत्र कोशात्तु न गृह्णीयात्कदाचन ॥ इति ॥ ३० ॥

शिल्पिनो मासि मास्येकैकं कर्म कुर्युः ॥ ३१ ॥

एकेनाह्ना साध्यमेकं कर्म । शिल्पिनो लोहकारादयः । तेऽपि प्रतिमासं राज्ञे स्वीयमेकमहःकर्म कुर्युः । एष एषां शुल्कः ॥ ३१ ॥

एतेनाऽऽत्मनोपजीविनो व्याख्याताः ॥ ३२ ॥

आत्मोपजीविनो ये शरीरायासेन जीवन्ति काष्ठवाहादयस्तेऽप्येते च शिल्पिप्रक्रमप्रकारेण व्याख्याता मासि मास्येकैकं कर्म कुर्यरिति । नर्तकादिष्वप्येषैव गतिः ॥ ३२ ॥

नौचक्रीवन्तश्च ॥ ३३ ॥

नौश्च चक्रं च नौचक्रे । चक्रशब्देन तद्वच्छकटं लक्ष्यते । तद्वन्तो नौचक्रीवन्तः । आसन्दीवदष्ठीवदित्यादिना कथंचिद्रूपसिद्धिः । नौवन्तो नौजीविनः । चक्रवन्तः शकटजीविनः । तेऽपि राज्ञ एकमहस्तत्कर्म कुर्युः ॥ ३३ ॥

भक्तं तेभ्यो दद्यात् ॥ ३४ ॥

शिल्पिनो मासि मासीत्यारभ्य येऽनुक्रान्तास्तेभ्यः कर्म कुर्वद्भ्यो भक्तमन्नं दिवा भोजनं दद्याद्राजा ॥ ३४ ॥

पण्यं वणिग्भिरर्थापचयेन देयम् ॥ ३५ ॥

मासि मास्येकैकमित्यनुवर्तते । विंशतिभागः शुल्कः पण्य इत्युक्तम् ।

---

१ क. ख. ग. स्यात्र तात्पर्येण माऽऽद° । २ क. ख. घ. °त् । भधिकोऽन्य° । ३ ग. °श्च गृ । ४ ग. °र्द्धेह° ।

ततः शुल्कादधिकमिदं मासि मास्येकं पण्यमर्घापचयेन प्राप्तस्य मूल्यस्य किंचिन्न्यूनतां कल्पयित्वा वणिजो राज्ञे दद्युः । तत्र बृहस्पतिः—

शुल्कं दद्युस्ततो मासमेकैकं पण्यमेव च ।
अर्घावरं च मूल्येन वणिजस्ते पृथक्पृथक् ॥ इति ॥ ३५ ॥

प्रनष्टमस्वामिकमधिगम्य राज्ञे प्रब्रूयुः ॥ ३६ ॥

प्रनष्टं स्वामिसकाशात्प्रभ्रष्टम् । अस्वामिकमज्ञायमानस्वामिकम् । अधिगम्य भूमौ पतितमुपलभ्य जनपदपालने नियुक्ता एते राज्ञे प्रब्रूयुः । अन्ये वा ये केचिद्द्रष्टवन्तस्तेऽपि ब्रूयुः ॥ ३६ ॥

ततः किं कर्तव्यं राज्ञा—

विख्याप्य संवत्सरं राज्ञा रक्ष्यम् ॥ ३७ ॥

विख्याप्य । इदमेवंजातीयकं वस्त्वासादितं रक्ष्यते यस्यैतस्य तत्स आगच्छत्विति नगरे पटहेन घोषयित्वा संवत्सरं रक्ष्यम् । प्राक्चेत्संवत्सरात्स्वाम्यागच्छति ततो लक्षणानि पृष्ट्वा साम्यं चेत्तत्तस्मै देयम् । वैषम्ये स दण्ड्यः । तथा च याज्ञवल्क्यः—

प्रनष्टाधिगतं देयं नृपेण धनिने धनम् ।
विभावयेन्न चेल्लिङ्गैस्तत्समं दण्डमर्हति ॥

एवमधिगम्याप्रब्रुवतो दण्ड्याः ॥ ३७ ॥

अथ संवत्सरादूर्ध्वं किं कार्यमित्याह—

ऊर्ध्वमधिगन्तुश्चतुर्थं राज्ञः शेषः ॥ ३८ ॥

येनाधिगम्याऽऽख्यातं तस्मै चतुर्थमंशं दत्त्वा शेषो राज्ञा ग्राह्यः॥३८॥

स्वामी रिक्थक्रयसंविभागपरिग्रहाधिगमेषु ॥ ३९ ॥

रिक्थं पित्रादीनामभावे प्राप्तम् । क्रयो मूल्येन स्वीकारः । संविभागो भ्रात्रादीनां साधारणस्य परस्परविभागः । परिग्रहो वन्येष्वस्वामिकेषु वृक्षादिषु पूर्वस्वीकारः । अधिगमः प्रनष्टस्याज्ञातस्वामिकस्य निध्यादेः स्वीकारः । एतेषु कारणेषु द्रव्यस्वीकर्ता स्वामी भवति । तेन प्रनष्टेऽधिगते राज्ञोऽधिगन्तुश्च स्वाम्यमुपपन्नमिति प्रकरणसंगतिः । क्षेत्रेपूत्पन्नानि सस्यादीनि क्षेत्रवदेव क्षेत्रवतः स्वानि ।

१ ग 'स्वाधृतिनो द'।

एतेनाऽऽकरेपूत्पन्नं लवणादि व्याख्यातम्। एतानि सर्ववर्णसाधारणानि स्वाम्यकारणानि ॥ ३९ ॥

ब्राह्मणस्याधिकं लब्धम् ॥ ४० ॥

यल्लब्धं दानरूपेण तद्ब्राह्मणस्याधिकं स्वाम्यमूलम् ॥ ४० ॥

क्षत्रियस्य विजितम् ॥ ४१ ॥

विजयेन लब्धं क्षत्रियस्याधिकं स्वम् ॥ ४१ ॥

निर्विष्टं वैश्यशूद्रयोः ॥ ४२ ॥

निर्विष्टं कर्मणोपात्तम्। कृष्यादिना वैश्यस्य शुश्रूषादिना शूद्रस्य तदधिकमनयोः ॥ ४२ ॥

अथ प्रनष्टाधिगताधिगन्तुश्चतुर्थमित्यस्यापवादमाह—

निध्यधिगमो राजधनम् ॥ ४३ ॥

निधिश्चेदधिगतस्तद्राजधनमेव भवति । अधिगन्त्रेऽनुग्रहानुरूपं किंचिद्देयमिति ॥ ४३ ॥

ब्राह्मणस्याभिरूपस्य ॥ ४४ ॥

अभिरूपः षट्कर्मनिरतस्तस्य ब्राह्मणस्य चेन्निध्यधिगमो न तद्राजधनं किं तर्ह्यधिगन्तुर्ब्राह्मणस्यैवेति ॥ ४४ ॥

अब्राह्मणोऽप्याख्याता षष्ठं लभेतेत्येके ॥ ४५ ॥

अब्राह्मणोऽपि निधिमधिगम्य यथाचष्ट इदमित्थमासादितमिति स तस्य निधेः षष्ठं लभेतेत्येके स्मर्तारो मन्यन्ते । ब्राह्मणेऽनभिरूपे कल्पः ॥ ४५ ॥

चौरहृतमपजित्य यथास्थानं गमयेत् ॥ ४६ ॥

चौरैर्हृतं द्रव्यं तानपजित्य यथास्थानं गमयेत् । स्वामिन एव दद्यात्। जेतुस्तु जयफलं किंचित् ॥ ४६ ॥

कोशाद्वा दद्यात् ॥ ४७ ॥

यद्यन्विष्यापि चोरा न दृष्टास्त एव वा जित्वा गतास्तदा स्वकोशादपि तावद्धनं स्वामिने दद्यात्यपदपहृतं चोरैरिति ॥ ४७ ॥

रक्ष्यं बालधनमाव्यवहारप्रापणात् ॥ ४८ ॥

बालोऽप्राप्तषोडशवर्षः । तस्य यदि हितैषिणो रक्षकाश्च पित्रादयो न सन्ति सन्तो वा मूर्खाश्चाधार्मिकाश्च तदा तद्धनं राज्ञा रक्ष्यम् । आ कुतः । व्यवहारप्रापणात् । यावदसौ व्यवहारप्राप्तः षोडशवर्षो भवति ॥ ४८ ॥

समावृत्तेर्वा ॥ ४९ ॥

आङनुवर्तते । अधीतवेदस्य गुरुकुलान्निवृत्तिः समावृत्तिः । आ या तस्या इति ॥ ४९ ॥

एवं राज्ञोऽधिकं स्वत्वमूलमुक्तम् । सांप्रतं वैश्यस्याऽऽह—

वैश्यस्याधिकं कृषिवणिक्पाशुपाल्यकुसीदम् ॥ ५० ॥

कृषिः प्रसिद्धा । वणिगिति वाणिज्यम् । पशुपालस्य कर्म पाशुपाल्यम् । कुसीदं वृद्ध्यर्थो धनप्रयोगः । कृष्यादिभिर्यल्लब्धं तदधिकं स्वं वैश्यस्य ॥ ५० ॥

शूद्रश्चतुर्थो वर्ण एकजातिः ॥ ५१ ॥

चतुर्थो वर्ण इति । वर्णसामान्यत्वे सत्यपि चतुर्थग्रहणं पूर्वेषां त्रयाणां ब्राह्मणादिवर्णानां पृथग्वर्णत्वोपपादनार्थम् । त्रैवर्णिका इति सिद्धत्वादेकजातिरुपनयनं पूर्वेषां द्वितीयजन्म तदस्य नास्तीति । उपनयनप्रतिषेधात्तत्पूर्वकमध्ययनमपि न भवति । तद्विषये गृह्यकार आह—शूद्रस्यापि निषेकपुंसवनसीमन्तोन्नयनजातकर्मनामकरणान्नप्राशनचौलान्यमन्त्रकाणि यथाकालमुपदिष्टानि । इति । विवाहोऽप्यमन्त्रको यथाचारं भवति ॥ ५१ ॥

तस्यापि सत्यमक्रोधः शौचम् ॥ ५२ ॥

उपनयनाध्ययनरहितत्वेऽपि यथावृत्तिकृत्यं मा भूदिति तस्यापि शूद्रस्य सत्यादयो धर्मा भवन्ति । सत्यं यथादृष्टार्थवादित्वम् । अक्रोधः परानभिद्रोहबुद्धिः । शौचं पूर्वोक्तद्रव्यशौचं मनःशौचमित्यादि । वसिष्ठस्तु—

---

१ व. ध. ४ चिन्हं ।

सर्वेषां सत्यमक्रोधो दानमहिंसा प्रजननं चेति ॥ ५२ ॥

आचमनार्थे पाणिपादप्रक्षालनमेवैके ॥ ५३ ॥

पूर्वेषां वर्णानां यत्राऽऽचमनमुक्तं तस्मिन्विषये शूद्रस्य पाणिपादप्रक्षालनमेव भवति नान्य आचमनकल्प इत्येके मन्यन्ते । मनुस्तु सकृदम्बुपानमिच्छति स्त्रीशूद्रौ तु सकृत्सकृदिति । नित्यस्नानविषये तूशना—

सच्छूद्रः स्नायादसच्छूद्रः पाणिपादं प्रक्षालयेत् । इति ॥ ५३ ॥

श्राद्धकर्म ॥ ५४ ॥

अमावास्यायामित्यारभ्य यच्छ्राद्धकर्म वक्ष्यते तदपि शूद्रस्य कर्तव्यं मन्त्रवर्जम् ॥ ५४ ॥

भृत्यभरणम् ॥ ५५ ॥

भृत्यो भरणीयः पोष्यवर्गः । तस्य च भरणं कर्तव्यं तेन तदनुरूपमर्थार्जनमप्यस्य कर्तव्यमिति ॥ ५५ ॥

स्वदारवृत्तिः ॥ ५६ ॥

स्वेष्वेव दारेष्वस्य वृत्तिः । सजातीयेष्वपि परदारेषु वेश्यासु च प्रसजन्दण्ड्य इति । अपर आह—स्वदारवृत्तिरेवास्य भवति । नाऽऽश्रमान्तरप्राप्तिरिति ॥ ५६ ॥

परिचर्या चोत्तरेषाम् ॥ ५७ ॥

उत्तरेषां त्रयाणां वर्णानां परिचर्या शुश्रूषा च कर्तव्या ॥ ५७ ॥

सैषा वृत्त्यर्थेत्याह—

तेभ्यो वृत्तिं लिप्सेत ॥ ५८ ॥

तेभ्यः परिचरितेभ्यो जीवनं लिप्सेत ॥ ५८ ॥

तत्र पूर्वं पूर्वं परिचरेत् ॥ ५९ ॥

तथा चाऽऽपस्तम्बः—पूर्वस्मिन्पूर्वस्मिन्वर्णे निःश्रेयसं भूय इति । तदेवं यथा याजनाध्यापनप्रतिग्रहेषु ब्राह्मणस्य प्रतिग्रहो मुख्या वृत्तिस्तथा शूद्रस्य परिचर्या । तत्रापि पूर्वस्मिन्पूर्वस्मिन्वर्ण इति ॥ ५९ ॥

जीर्णान्युपानच्छत्रवासःकूर्चादीनि ॥ ६० ॥

कूर्चं तृणादि । शेषं प्रसिद्धम् । जीर्णान्युपभुक्तान्युपानदादीनि परिचरते शूद्राय देयानि । अयं तु शुश्रूषावृत्तेः शूद्रस्य नियमो न गृहस्थवृत्तेः । तस्य तु वृत्त्यनपेक्षं सामान्याकारेण विशेषत्वम् ॥ ६० ॥

पुनः प्रकृतमनुसरति—

उच्छिष्टाशनम् ॥ ६१ ॥

भोजनपात्रे यद्भुक्तावशिष्टं तदस्याशनम् । नाब्राह्मणायोच्छिष्टं प्रयच्छेदित्येतत्तु दासविषयम् । गृहस्थशूद्रविषयमन्ये । तथा च व्याघ्रः—

उच्छिष्टमन्नं दातव्यं शूद्रायागृहमेधिने ।
गृहस्थाय तु दातव्यमनुच्छिष्टं दिने दिने ॥ इति ॥ ६१ ॥

शिल्पवृत्तिश्च ॥ ६२ ॥

शिल्पानि चित्रकर्मादीनि तैरप्ययं वर्तेत । अत्र मानवो विशेषः—

अशक्नुवंस्तु शुश्रूषां शूद्रः कर्तुं द्विजन्मनाम् ।
पुत्रदारात्ययं प्राप्तो जीवेत्कारुककर्मभिः ॥ इति ॥ ६२ ॥

यं चायमाश्रयेद्भर्तव्यस्तेन क्षीणोऽपि ॥ ६३ ॥

परिचर्यया वर्तमानः शूद्रो यदि क्षीणः कर्म कर्तुमसमर्थो भवति तथाऽपि यमसौ पूर्वमाश्रितः कर्माण्यकरोत्तेनासौ भर्तव्यः । पूर्वकृतापेक्षया ॥ ६३ ॥

तेन चोत्तरः ॥ ६४ ॥

तेन च शूद्रेणोत्तरो वृत्तिक्षीणो भर्तव्यः शिल्पादिभिः पूर्वकृतापेक्षयैव । अत्र जातूकर्ण्यः—

यो नीचमाश्रयेदार्य आत्मानं दर्शयेत्सदा ।
आत्मानं दासवत्कृत्वा चरेन्नीचोऽपि तं प्रति ॥
दरिद्रो ब्राह्मणो दान्तो वेदानां चैव पारगः ।
शूद्रेणापि सदाऽप्येष भर्तव्योऽनाश्रितोऽपि सन् ॥

---

१ ग. °र्णानि । २ ग गृहश दि । ३ ग. °कन्नाथा ।

बिभृयाद्ब्राह्मणं नित्यं सर्वयत्नेन बुद्धिमान् ।
अन्यं चाप्यानृशंस्यार्थं शूद्रोऽपि द्रव्यवान्भवेत् ॥ इति ॥ ६४ ॥

## तदर्थोऽस्य निचयः स्यात् ॥ ६५ ॥

अस्य शूद्रस्य निचयोऽर्थसंचयस्तदर्थः स्यात् । तस्योत्तरस्य पोषणार्थः स्यात् । पूर्वसूत्रस्य हेतुरयम् ॥ ६५ ॥

## अनुज्ञातोऽस्य नमस्कारो मन्त्रः ॥ ६६ ॥

अस्य शूद्रस्य वैश्वदेवादिषु तत्तद्देवतापदं चतुर्थ्यन्तं मनसा ध्यात्वा नमो नम इत्येवंरूपो मन्त्रोऽनुज्ञातो धर्मज्ञैः । अपर आह—

देवताभ्यः पितृभ्यश्च महायोगिभ्य एव च ।
नमः स्वधायै स्वाहायै नित्यमेवं[३] नमो नमः ॥

इत्ययं मन्त्रो नमस्कारशब्देन विवक्षितः । स पित्र्येषु कर्मसु भवति । तथाऽऽह गृह्यकारः—ब्राह्मणानुपवेश्य देवतादिकं मन्त्रं जपेत् ॥ ६६ ॥

## पाकयज्ञैः स्वयं यजेतेत्येके ॥ ६७ ॥

पक्वगुणकेष्वपक्वगुणकेषु च गार्ह्येषु कर्मसु पाकयज्ञशब्दः प्रसिद्धः । यथाऽऽहाऽऽपस्तम्बः—

लौकिकानां पाकयज्ञशब्द इति ॥ ६७ ॥

## सर्वे चोत्तरोत्तरं परिचरेयुः ॥ ६८ ॥

सर्व एव वेदपादयोऽपि उत्तरमुत्तरं वर्णं परिचरेयुर्न केवलं शूद्र एव ब्राह्मणस्य तूत्तरो नास्ति । मध्ये क्षत्रियवैश्यौ । तथाऽपि सर्वशब्दे बहुवचनेमवान्तरप्रभवाणां ग्रहणार्थम् । अपर आह—समानेऽपि वर्णे यो योऽपि गुणत उत्तरस्तं तमवरोऽवरः परिचरेदित्ययमर्थम् ॥ ६८ ॥

## आर्यानार्ययोर्व्यतिक्षेपे कर्मणः साम्यं[साम्यम्] ॥ ६९ ॥

आर्यस्त्रैवर्णिकः । अनार्यः शूद्रः । तयोः कर्मण आचारस्य व्यतिक्षेपे व्यत्यासे सति तयोः साम्यमेव भवति न]परिचार्यपरिचारकभावः । ब्राह्मणादिरप्यनार्यकर्मा चेन्न शूद्रेण परिचरणीयः । शूद्रोऽप्यार्यकर्मा

१ ख. ङ. छ. °स्य भर्तु° । २ ग. °म स्वधायै स्वाहायै । ३ ग. मनविह । घ. अघ तु । ४ ग. °मद न° । ५ क. ख. ङ. °पेऽप्यत्वे ।

चेदनार्यकर्मभिरितरैर्जात्यपकर्षेण नायमन्तव्य इति । एतेन ब्राह्मणक्षत्रियौ क्षत्रियवैश्यौ च व्याख्यातौ ॥ ६९ ॥

इति श्रीहरदत्तविरचितायां गौतमसूत्रविवृतौ मिताक्षरायां
दशमोऽध्यायः ॥ १० ॥

---

अथैकादशोऽध्यायः ।

---

आर्यानार्ययोर्व्यतिक्षेपे निवारयिता राजा । अतस्तद्धर्मानाह—

राजा सर्वस्येष्टे ब्राह्मणवर्जम् ॥ १ ॥

राजाऽभिषिक्तः सर्वस्य स्वजनपदवर्तिनो जनस्येष्टे निग्रहानुग्रहादिषु । किमविशेषेण नेत्याह—ब्राह्मणवर्जं ब्राह्मणान्वर्जयित्वा । ततस्ते च्यवन्तोऽपि स्वधर्मात्सान्त्वेन स्थाप्याः । सर्वक्रियासु स्वातन्त्र्यख्यापनार्थं वचनम् । यथाऽऽह नारदः—

अस्वतन्त्राः[3] प्रजा सर्वाः स्वतन्त्रः पृथिवीपतिः । इति ॥ १ ॥

शास्त्राविरुद्धेष्वेवास्य स्वातन्त्र्यमित्याह—

साधुकारी साधुवादी ॥ २ ॥

साधुकारी शास्त्राविरुद्धाचरणशीलः । साधुवादी व्यवहारकाले स्वपक्षापरपक्षसमवादी ॥ २ ॥

त्रय्यामान्वीक्षिक्यां वाऽभिविनीतः ॥ ३ ॥

ऋग्यजुःसामात्मकास्त्रयो वेदास्त्रयी । आथर्वणश्च वेदस्तेष्वन्तर्भवति । तत्रापि हि मन्त्रा ऋचो यजूंषि वा भेदव्यवहारस्तु प्रवचननिमित्तः । शान्तिकपौष्टिकादिप्रमेयभेदनिबन्धनो वा । आन्वीक्षिकी न्यायविद्या । तयोरभिविनीतो गुरुभिः सम्यक् शिक्षितः । मनुस्तु—

त्रैविद्येभ्यस्त्रयीं विद्यां दण्डनीतिं च शाश्वतीम् ।
आन्वीक्षिकीं चाऽऽत्मविद्यां वार्तारम्भं च लोकतः । इति ॥ ३ ॥

शुचिर्जितेन्द्रियो गुणवत्सहायोपायसंपन्नः ॥ ४ ॥

शुचिः, अन्तः परद्रव्यादिष्वस्पृहः, बहिः स्नानादिपरः । जितेन्द्रियः

---

१ ग. °भिषेकेन न स्था° । २ क ख. °र्वविरोध्य° । घ °र्वशास्त्रिय° । ३ ग. °श्चा द्विजाः येषु° । ४ क ख. घ. °दशगुणसहा° ।

त्रियोऽक्षा मृगया पानमित्यादिव्यसनरहितः। गुणाः शान्त्यादयः। तद्व्द्भिस्त्रिसामादिभिः सहायैः संपन्नः समवेतः। सामादिभिश्चोपायैः संपन्नो देशकालावस्थानुरूपं तेषां प्रयोक्ता सर्वज्ञ स्यादिति वक्ष्यमाणमपेक्ष्यते ॥ ४ ॥

समः प्रजासु स्यात् ॥ ५ ॥

व्यवहारकाले द्वेष्ये प्रिये च समः स्यात् ॥ ५ ॥

हितमासां कुर्वीत ॥ ६ ॥

आसां प्रजानां योगक्षेमयोरवहितः स्यात् ॥ ६ ॥

तमुपर्यासीनमधस्तादुपासीरन्नन्ये ब्राह्मणेभ्यः ॥ ७ ॥

तमेवंगुणं राजानमुपरि सिंहासनादावुच्चैरासीनमधस्ताद्भूमावेवाऽऽसीरन्। किमविशेषेण। नान्ये ब्राह्मणेभ्यो ब्राह्मणव्यतिरिक्ताः। अथ उपासीरन्नित्येव सिद्ध उपर्यासीनमिति स्वभावानुवादः। सर्वदाऽयमुपर्यासीनो भवति न तु रहस्यपि भूमाविति ॥ ७ ॥

तेऽप्येनं मन्येरन् ॥ ८ ॥

तेऽपि ब्राह्मणा एनं राजानं मन्येरन्। आशीर्वादादिभिः पूजयेयुः॥८॥

वर्णानाश्रमांश्च न्यायतोऽभिरक्षेत् ॥ ९ ॥

वर्णा ब्राह्मणादयः। आश्रमा ब्रह्मचर्यादयः। तान्न्यायतो यथाशास्त्रं षष्ठांशादिभागस्वीकारेणाभिरक्षेत्। अभितो रक्षेत्। यथा वर्णाश्रमधर्मानुष्ठानेन निरपायास्ते भवेयुः। अथ वा न्यायत इति यथा देशादिधर्माणां भङ्गो न भवति तथा रक्षेदिति। अनुलोमादयोऽवान्तरप्रभवा वर्णा एष्वेवान्तर्भूताः। रक्षणं सर्वभूतानामिति चोरादिभ्यो रक्षणं पूर्वोक्तम्। इदं तु वचनं वर्णाश्रमधर्मेषु संकरो मा भूदिति ॥ ९ ॥

चलतश्चैतान्स्वधर्मे स्थापयेत् ॥ १० ॥

ते यथाऽऽलस्यादिना स्वधर्माच्चलेयुस्ततश्चलत एतान्स्वधर्म एव निगृह्य स्थापयेदिति ॥ १० ॥

कस्मात्पुनरेवमसौ करोतीत्याह—

---

१ ग. °स्पर्धेरन्° । २ क ख 'दा पुनरे°' । घ. °दा पुरे°' । ३ ग. °स्वधर्मे° ।

धर्मस्य ह्यंशभाग्भवतीति ॥ ११ ॥

विज्ञायते हि यस्माद्रक्षतो धर्मस्यांशो भवति । उपलक्षणमेतत् । अरक्षतोऽप्यधर्मस्यांशो भवतीति ज्ञेयम् । अत्र मनुः—

सर्वतो धर्मषड्भागो राज्ञो भवति रक्षणात् ।
अधर्मस्यापि षड्भागो भवत्यस्य ह्यरक्षतः ॥ इति ॥ ११ ॥

ब्राह्मणं च पुरोदधीत विद्याभिजनवाग्रूपवयः-
शीलसंपन्नं न्यायवृत्तं तपस्विनम् ॥ १२ ॥

स एष बहुश्रुतो भवतीत्यारभ्योक्ता विद्या । विशिष्टकुले जन्माभिजनः । वाक्संस्कृता भारती । रूपं मनोहरम् । वयो मध्यमं नातिबालो नातिस्थविर इति शीलमन्तःकरणशुद्धिर्बाह्यं वाऽनुष्ठानम् । एतैर्विद्यादिभिः संपन्नं समृद्धम् । न्यायवृत्तं लोकाविरुद्धाचारम् । तपस्विनमभोगपरम् । एवंभूतं ब्राह्मणं पुरोदधीत पुरोहितं कुर्वीत ॥ १२ ॥

सर्वेषु कर्मसु पुरो धीयत इति पुरोहितस्तद्दर्शयति—

तत्प्रसूतः कर्माणि कुर्वीत ॥ १३ ॥

तेन पुरोहितेन प्रसूतोऽनुज्ञात इदमित्थं कर्तव्यमिति कृतोपदेशः कर्माणि श्रौतस्मार्तादीनि पौराणिकानि नित्यनैमित्तिकानि शान्तिकपौष्टिकान्याभिचारिकाणि कुर्वीत । तत्प्रसूत इत्यस्य मूलत्वेन ब्राह्मणमाकर्षति ॥ १३ ॥

ब्रह्मप्रसूतं हि क्षत्रमृध्यते न व्यथत
इति च विज्ञायते ॥ १४ ॥

ब्रह्म ब्राह्मणस्तेन प्रसूतमनुज्ञातं हि क्षत्रं क्षत्रियमृध्यते समृद्धं भवतीति न व्यथते न कुतश्चिद्बिभेति निरपायं स्यादित्यर्थः । इत्येवं प्रकारेण विज्ञायते परम्परया दृश्यत ॥ १४ ॥

यानि च दैवोत्पातचिन्तकाः प्रब्रूयुस्तान्याद्रियेत ॥ १५ ॥

दैवचिन्तका ज्योतिर्विदः । उत्पातचिन्तकाः शकुनज्ञाः । उत्पातानां चाग्रे फलानि जानते ते यत्प्रब्रूयुरिदमनष्टग्रहवैकृतमिदमद्य दुःशकुनमयमद्योत्पातोऽयमेषां परिहार इति च तान्यपि सर्वाण्याद्रियेत नोपेक्षेत ॥ १५ ॥

किमर्थम्—

तदधीनमपि ह्येके योगक्षेमं प्रतिजानते ॥ १६ ॥

न केवलं रक्षणादिविहितानुष्ठानम्। किं तर्हि तदधीनमपि दैवोत्पातचिन्तकैर्ग्रहवैकृतादौ यत्कर्तव्यतया प्रोक्तं तदधीनमपि योगक्षेमं भवति। अलब्धस्य लाभो योगः। लब्धस्य रक्षणं क्षेमः। तयोः समाहारद्वंद्वः। आयोगप्रजा विन्देद्योगक्षेमो नः कल्पतामित्यादावेकविंशत्यादिष्वस्वलिङ्गता। तद्यथा—एकश्च विंशतिश्चैकविंशतिस्तं योगक्षेमं प्रतिजानत एक आचार्या इति ॥ १६ ॥

शान्तिपुण्याहस्वस्त्ययनायुष्मन्मङ्गलसंयुक्तान्या-
भ्युदयिकानि विद्वेषणसंवननाभिचारद्विषद्व्यृ-
द्धियुक्तानि च शालाग्नौ कुर्यात् ॥ १७ ॥

तत्राऽऽपस्तम्बो राज्ञस्तु विशेषाद्वक्ष्याम इति प्रकृत्य वेश्माऽऽवसथः, सभेति त्रिस्थानान्यभिसंधायाऽऽह सर्वेष्वेवाजस्रा अग्नयः स्युरग्निपूजा च नित्या यथा गृहमेध इति। तेषामन्यतमोऽत्र शालाग्निरौपासनो नापि त्रेताग्निर्गार्ह्येषु श्रौतेषु कर्मसु तयोर्नियतत्वात्। शान्तिसंयुक्तं दैवोत्पातचिन्तकसूचितापचयनिवृत्त्यर्थं यत्क्रियते ग्रहशान्तिमहाशान्त्यादि पुण्याहसंयुक्तं दिनदोषनाशाय विवाहादौ यत्क्रियते। स्वस्त्ययनसंयुक्तं यात्रादौ यत्क्रियते। आयुष्मत्संयुक्तं जन्मनक्षत्रादावायुर्वृध्द्यर्थं यत्क्रियते दूर्वाहोमादि मङ्गलसंयुक्तं गृहप्रवेशादौ यत्क्रियते वास्तुहोमादि। एतान्याभ्युदयिकान्यभ्युदयनिमित्तानि। विद्वेषणसंयुक्तं येनास्य शत्रुः प्रकृतीनां विद्वेष्यो भवति। संवननसंयुक्तं येनास्य शत्रवो वश्याः प्रणिपतन्ति। अभिचारसंयुक्तं येनास्य शत्रवो म्रियन्ते। ऋद्धेरभावो व्यृद्धिः। द्विषतां व्यृद्धिर्द्विषद्व्यृद्धिः। येनास्य शत्रवो विगतैश्वर्या भवन्ति। उच्चाटनादीन्येतानि च शालाग्नौ कुर्यात्। कः। राजा। तस्य च कर्तृत्वमिदमेव। यैस्तत्संविधातृत्वमर्थसंप्रदानादिना। तद्यथा योऽप्येकान्ते तूष्णीमासीनो भक्तबीजबलीवर्दैः प्रतिसंविधत्ते सोऽप्युच्यते पञ्चभिर्हलैः कृष्यतीति। अपर आह—आभ्युदयिकानि पुरोहितः

१ ग. °द्व। योगक्षेम. प्र°। १ क. ख घ. प्रवृत्त स°। २ ग. °र्हलैः. कृ°।

स्वयं कुर्यादितराणि कारयेदिति । यस्मिंश्चाग्नावाभ्युदयकानि न तत्रेतराणि कुर्वन्ति । किंत्वग्न्यन्तरे पूर्वोक्तानामन्यस्मिन् ॥ १७ ॥

यथोक्तमृत्विजोऽन्यानि ॥ १८ ॥

अन्यानि गार्ह्याणि श्रौतानि च तानि कर्माणि यथोक्तं यस्मिन्कर्मणि यावन्त ऋत्विज उक्तास्तावन्तः कुर्युः । तद्यथौपासने चाग्निहोत्रे चाध्वर्युरेकः । दर्शपूर्णमासयोश्चत्वारः । चातुर्मास्ये पञ्च । पशुबन्धे षट् । ज्योतिष्टोमादौ षोडश । अत्र मनुः—

पुरोहितं च वृणुयाद्वृणुयादेव चर्त्विजः । इति ।

तत्र येष्वेव ऋत्विक्तत्र पुरोहितोऽध्वर्युर्ब्रह्मेत्यन्ये ॥ १८ ॥

तस्य च व्यवहारो वेदो धर्मशास्त्रा-
ण्यङ्गान्युप[2]वेदाः पुराणम् ॥ १९ ॥

व्यवहरत्यनेनेति व्यवहारः । तस्य राज्ञः प्रजापालनेऽधिकृतस्य वेदादीनि व्यवहारसाधनानि । यथा वेदादिष्वभिहितं तथा व्यवहरेदिति । व्यवहारो लोकमर्यादास्थापनम् ॥ १९ ॥

देशजातिकुलधर्माश्चाऽऽम्नायैरविरुद्धाः प्रमाणम् ॥ २० ॥

देशधर्मेषु जातिधर्मेषु च प्रतिनियतमनुष्ठीयमानेषु यद्यपि वेदादि मूलभूतं नोपलभ्यते तथाऽपि यदि वेदादिभिर्विरोधो न भवति, तथैव ते परिपालनीया न तु मूलानियोगेन विहन्तव्या इति । तत्र देशधर्माः मेषस्थे सवितरि चौलेषु कुमार्यो नानावर्णै रजोभिर्भूमावादित्यं सपरिवारमालिख्य सायं प्रातः पूजयन्ति । मार्गशीर्ष्यां चालंकृता ग्रामे पर्यट्य यल्लब्धं तद्देवाय निवेदयन्ते । कर्कटस्थे सवितरि पूर्वयोः फल्गुन्योर्भगवतीमुमामाराध्य यथाविभवमरुम्य अङ्कुरितं मुद्गलवणं च प्रयच्छन्ति । मीनस्थे सवितर्युत्तरयोः फल्गुन्योर्गृहमेधिनः श्रियं देवीं पूजयन्ति । जातिधर्माः शूद्रा विवाहे मध्ये स्थूणां निखाय सहस्रवर्त्तिकस्यां स्थाल्यां निधाय प्रतिवर्ति दीपानारोप्य वधूं हस्ते गृहीत्वा प्रदक्षिणयन्ति । अन्यदप्येवंजातीयकं द्रष्टव्यम् । कुलधर्माः केचिन्मध्यशिखाः । केचित्पृष्ठशिखाः । प्रवचनादप्यस्तु कालभेदेनोभयतः शिखाः ।

---

१ क. °देश. पु°। २ ग. °स्नुषां°। ३ ग. °रुम्याद्कुरेतान्मुद्गान्°। ४ ग. इदं।

संबन्धश्चैतैस्तैः स्ववर्गैरिति । ये त्वाम्नायविरुद्धा मातुलसुतापरिणयनम्, अनधीत्य वेदानन्यत्र श्रम इत्यादयो देशधर्मा नेह प्रमाणम् ॥ २० ॥

कर्षकवणिक्पशुपालकुसीदिकारवः स्वे स्वे वर्गे ॥ २१ ॥

कर्षकाः कृषिजीविनः । वणिजः क्रयविक्रयव्यवहारपराः । पशुपाला गोपालाः । कुसीदिनो वार्धुषिकाः । कारवस्तक्षरजकादयः । एते स्वे स्वे वर्गे स्ववर्गसंवेद्ये प्रमाणम् ॥ २१ ॥

ततश्च कर्षकादिषु धर्मविप्रतिपत्तौ सत्यां—

तेभ्यो यथाधिकारमर्थान्प्रत्यवहृत्य धर्मव्यवस्था ॥ २२ ॥

तेभ्यस्तत्तद्वर्गेभ्यो यथाधिकारं ये यत्र वर्गे व्यवस्थापकत्वेनाधिकृतास्तेभ्योऽर्थानाचारप्रकारान्प्रत्यवहृत्य श्रुत्वाऽवधार्य धर्मव्यवस्था कार्या। इत्थमस्माकं निकाम आचार इति तैरुक्ते तथैव व्यवस्थाप्यमिति ॥ २२ ॥

अथ ते पक्षपातेन मिथ्या ब्रूयुस्तदा कथं तत्त्वं ज्ञातव्यम्—

न्याय्याधिगमे तर्कोऽभ्युपायः ॥ २३ ॥

न्याययुक्तस्यार्थस्याधिगमेऽवधारणे तर्कोऽनुमानमभ्युपायः । अभिधा[1]त्वर्थानुवादी । तत्र मनुः—

आकारैरिङ्गितैर्गत्या चेष्टया *र्हर्षितेन च ।
नेत्रवक्त्रविकारैश्च गृह्यतेऽन्तर्गतं मनः । इति ॥ २३ ॥

ततश्च—

तेनाभ्यूह्य यथास्थानं गमयेत् ॥ २४ ॥

तेन तर्केणाभ्यूह्यैवमयमर्थो भवितुमर्हतीति निश्चित्य यथास्थानं यत्र पक्षेऽर्थस्तत्र गमयेत् ॥ २४ ॥

अथाऽऽत्मन एकाकिनस्तर्केणापि दुरधिगमत्वे सति—

विप्रतिपत्तौ त्रैविद्यवृद्धेभ्यः प्रत्यवहृत्य निष्ठां गमयेत् ॥ २५ ॥

विप्रतिपत्तौ सत्यां दुरधिगमत्वे सति त्रैविद्यवृद्धान्समानाय्य तैः सह

* ग. पुस्तके सनामे भाषितेनेति पाठान्तरम् ।

१ ग. 'धाय ०१' । २ ग. न्यायसंस्थापि' ।

विचार्यार्थतत्त्वं तेभ्यः प्रत्यवहृत्य निष्ठां गमयेत् । यत्र पक्षेऽर्थो निष्ठितस्तं गमयेत् ॥ २५ ॥

किमेवं कुर्वतो भवति—

तथा ह्यस्य निःश्रेयसं भवति ॥ २६ ॥

एवमस्य निर्णयं कुर्वतो निःश्रेयसमुभयोर्लोकयोर्भवति । इहं जनानुरागेणामुत्र धर्मप्राप्त्या चेति हेतोः ॥ २६ ॥

न केवलं राज्ञ एव सिद्धिः । किं तर्हि सह निर्णेतॄणां ब्राह्मणानामपीति दर्शयितुं श्रुतिमुदाहरति—

ब्रह्म क्षत्रेण संपृक्तं देवपितृमनुष्यान्धारयतीति विज्ञायते ॥२७॥

ब्रह्म त्रैविद्यलक्षणं क्षत्रेण संपृक्तं राज्ञा सह धर्मं विविञ्चद्देवपितृमनुष्यान्धारयतीति श्रुतिसिद्धम् । एवं निर्णये कृते यथोक्तं कर्मानुतिष्ठन्ति मनुष्याः । तच्च धर्म्यं कर्म, देवा उपजीवन्ति पितरश्च न क्षीयन्त इति न्यायेन सर्वेषां धारणं भवतीति ॥ २७ ॥

अथ दौःशील्याद्व्यवस्थां नार्तुमन्यन्ते ततः—

दण्डो दमनादित्याहुस्तेनादान्तान्दमयेत् ॥ २८ ॥

दमनयोगाद्दण्डशब्दस्य दण्डत्वमित्याहुर्धर्मज्ञाः । तेनादान्तानवश्यान्दमयेद्वशं नयेत् । दण्डेनादान्तान्दमयेदित्येवं सिद्धे दण्डः—

धिग्दण्डं प्रथमं कुर्याद्वाग्दण्डं तदनन्तरम् ।
तृतीयं धनदण्डं तु वधदण्डं ततः परम् ॥
देवदानवगन्धर्वा रक्षांसि पतगोरगाः ।
तेऽपि भोगाय कल्प्यन्ते दण्डेनैव निपीडिताः ॥ इति ॥ २८ ॥

अथैवं शास्त्रवश्यतया राज्ञा च स्वधर्मे स्थाप्यमानानां वर्णानामाश्रमाणां च कथं सिद्धिरित्यत आह—

वर्णाश्रमाः स्वस्वधर्मनिष्ठाः प्रेत्य कर्मफलमनुभूय
ततः शेषेण विशिष्टदेशजातिकुलरूपायुःश्रुतचि-

---

१ ग. °वर्तीति । २ ग. 'इ प्रजानु' । ३ ग. निर्णेतॄणां । ४ ग. नुवर्तन्ते । ५ घ. ग. घ. °ष्टोधाऽऽज्ञ° ।

ऽविशिष्टदेशजातिकुलरूपायुःश्रुतवृत्तवित्तसुखमेधसो जन्म प्रतिपद्यन्ते ॥ २९ ॥

वर्णा ब्राह्मणादयः। आश्रमा ब्रह्मचर्यादयः। ते स्वधर्मनिष्ठा वर्णप्रयुक्तानाश्रमप्रयुक्तानुभयप्रयुक्तांश्च धर्माननुष्ठितवन्तः। प्रेत्य मरणेन लोकान्तरं गत्वा तस्य तस्य कर्मणः फलं स्वर्गादिकमनुभूय ततस्तदनन्तरं शेषेण भुक्तावशिष्टेन कर्मणा विशिष्टदेशादिकान्भुक्त्वा जन्म प्रतिपद्यन्ते। तत्र विशिष्टशब्दो देशादिभिः सर्वैः संबध्यते। विशिष्टो देश आर्यावर्तादिः। विशिष्टजातिर्ब्राह्मणजातिः। विशिष्टकुलमध्ययनादिसंपन्नम्। विशिष्टरूपं कान्तिमद्विशिष्टायुः सषोडशं वर्षशतम्। सहषोडशं वर्षशतमजीवदिति दर्शनात्। रोगरहितत्वमप्यायुषो विशेषः। विशिष्टश्रुतं ब्राह्मणश्च बहुश्रुत इत्यत्र व्याख्यातम्। विशिष्टवृत्तमनुपाधि चारित्रम्। विशिष्टवित्तं धर्मार्जितं धर्मे प्रयुज्यमानं च। सुखं निरपायस्थानाधिष्ठानेनानिषिद्धसुखसेवनम्। विशिष्टमेधा ग्रन्थार्थयोर्ग्रहणशक्तिरिति। मेधाशब्दे सकारान्तत्वमार्षं सुमेधसो दुर्मेधस इत्यादिष्वेव दर्शनात्। कर्माणि भुज्यमानानि पुण्यान्यपुण्यानि च सशेषाण्येवं भुज्यन्ते। ऐहिकस्य शरीरग्रहणादेरपि पुण्यापुण्यनिबन्धनत्वात् ॥ २९ ॥

विष्वञ्चो विपरीता नश्यन्ति ॥ ३० ॥

ये वर्णाश्रमाः स्वानि कर्माणि यथावन्नानुतिष्ठन्ति ते विपरीता विष्वञ्चो नानायोनीर्गच्छन्तो नश्यन्ति। अनर्थपरम्परामनुभवन्तीति ॥ ३० ॥

तानाचार्योपदेशो दण्डश्च पालयते ॥ ३१ ॥

तान्विपरीतान्यथोक्तमकुर्वतो वर्णानाश्रमांश्चाऽऽचार्योपदेशस्तावत्पालयते। तत्राप्यतिष्ठतो राजदण्डः ॥ ३१ ॥

यत एवम्—

तस्माद्राजाचार्यावनिन्द्यावनिन्द्यौ ॥ ३२ ॥

तस्माद्धेतो राजाचार्यौ मान्यावनिन्द्याविति। यद्यपि नियमनकाले हितैषितया प्रभुरपुरुषौ भवतस्तथाऽपि तयोर्निन्दा न कार्या॥ ३२ ॥

इति श्रीहरदत्तविरचितायां गौतमसूत्रवृत्तौ मिताक्षरायामेकादशोऽध्यायः ॥ ११ ॥

---

## अथ द्वादशोऽध्यायः ।

दण्डेनादान्तान्दमयेदित्युक्तम् । तत्र कियत्यपराधे कियान्दण्ड इत्यत आह—

**शूद्रो द्विजातीनभिसंधायाभिहत्य च वाग्दण्डपारुष्याभ्यामङ्गमोच्यो येनोपहन्यात् ॥ १ ॥**

शूद्रश्चतुर्थो वर्णः । स द्विजातीन्ब्राह्मणादींस्त्रीन्वर्णान् । वाक्पारुष्येणाभिसंधायाभिभूय दण्डपारुष्येणाभिहत्य च । अभिरभिसंधिपूर्वं बुद्धिपूर्वं ताडयित्वा । दण्डग्रहणं हस्तादेरप्युपलक्षणम् । एवं कुर्वन्नङ्गमोच्योऽवयवेन वियोजनीयो येनाङ्गेनोपहन्यादपराधं कुर्यात्तदङ्गं मोच्यः । हस्तेन ताडने हस्तच्छेदः पादेन ताडने पादच्छेदो वाचा जिह्वाच्छेदः । अत्र मनुः—

येनाङ्गेनावरो वर्णो ब्राह्मणस्यापराध्नुयात् ।
तदङ्गं तस्य च्छेत्तव्यं तन्मनोरनुशासनम् ॥ इति ।

पारुष्यग्रहणात्परिहासेनाप्रियवचने परिहासादिना ताडने च नेदं भवति ॥ १ ॥

**आर्यस्त्र्यभिगमने लिङ्गोद्धारः स्वहरणं च ॥ २ ॥**

शूद्र इति प्रकृतं षष्ठ्यन्तमपेक्षते । आर्यास्त्रैवर्णिकाः । तेषां चेत्स्त्रियं शूद्रोऽभिगच्छेत्तस्य लिङ्गोद्धारो लिङ्गोत्पाटनं कार्यं यच्च यावच्च स्वं तस्य च हरणं दण्डः । आर्याभिगमनमित्येव सिद्धे स्त्रीग्रहणम्, आर्यगृहीतायां शूद्रायामपीति सूचनार्थम् । तत्र वैश्यस्त्रियां स्वहरणं क्षत्रियायां लिङ्गोद्धारः । ब्राह्मण्यामुभयमिति ॥ २ ॥

**गोप्ता चेद्वधोऽधिकः ॥ ३ ॥**

स यदि शूद्रस्तासां गोप्ता रक्षिता भवति तदा वधः कार्यः । अधिकग्रहणात्पूर्वोक्तदण्डद्वयमपि भवति ॥ ३ ॥

**अथ हास्य वेदमुपशृण्वतस्त्रपुजतुभ्यां श्रोत्रप्रतिपूरणमुदाहरणे जिह्वाच्छेदो धारणे शरीरभेदः ॥ ४ ॥**

अथ हेति वाक्यालंकारे । उपश्रुत्य बुद्धिपूर्वमक्षरग्रहणमुपश्रवणम् ।

अस्य शूद्रस्य वेदमुपशृण्वतस्त्रपुजतुभ्यां त्रपुणा जतुना च द्रवीकृतेन श्रोत्रे प्रतिपूरयितव्ये । उपश्रवणशब्देन यदृच्छया ध्वनिमात्रश्रवणे न दोषः । स चेद्द्विजातिभिः सह वेदाक्षराण्युदाहरेदुच्चरेत् । तस्य जिह्वा छेद्या । धारणे सति यदाऽन्यत्र गतोऽपि स्वयमुच्चारयितुं शक्नोति ततः परश्वादिना शरीरमस्य भेद्यम् ॥ ४ ॥

आसनशयनवाक्पथिषु समप्रेप्सुर्दण्ड्यः ॥ ५ ॥

शूद्रश्चेदासनादिषु द्विजातिभिः सह साम्यं प्रेप्सति तत्तुल्यभावं ततोऽसौ दण्ड्यः । दण्डश्चाऽऽपस्तम्बेन दर्शितः—

वाचि पथि शय्यायामासन इति समी भवतो दण्डताडनम् । इति । दण्डेनासौ ताड्य इति । अत्र मानवो विशेषः—

सहासनमभिप्रेप्सुरुत्कृष्टस्यापकृष्टकः ।

कट्यां कृताङ्को निर्वास्यः स्फिजौ वाऽप्यस्य कर्तयेत् ॥ इति ॥ ५॥

शतं क्षत्रियो ब्राह्मणाक्रोशे ॥ ६ ॥

क्षत्रियश्चेद्ब्राह्मणमाक्रोशेद्वाचा परुषया निन्देत्ततः शतं दण्ड्यः । दण्डप्रकरणे सर्वत्र ताम्रिकस्य कार्षापणस्य ग्रहणमिति स्मार्तो व्यवहारः । शतं कार्षापणानि दण्ड्यः । दण्डपारुष्ये द्विगुणम् । अथाऽऽह बृहस्पतिः—

वाक्पारुष्ये कृते यस्य यथा दण्डो विधीयते ।
तस्यैव द्विगुणं दण्डं कारयेन्मरणादृते ॥ इति ॥ ६ ॥

अध्यर्धं वैश्यः ॥ ७ ॥

वैश्यस्तु ब्राह्मणाक्रोशेऽध्यर्धं शतं दण्ड्योऽर्धाधिकं पञ्चाशदधिकं शतं दण्ड्यः ॥ ७ ॥

ब्राह्मणस्तु क्षत्रिये पञ्चाशत् ॥ ८ ॥

क्षत्रियाक्रोशे ब्राह्मणस्तु पञ्चाशत्पणान्दण्ड्यः ॥ ८ ॥

तदर्धं वैश्ये ॥ ९ ॥

वैश्याक्रोशे तदर्धं पञ्चविंशतिपणान्दण्ड्यः ॥ ९ ॥

---

१ ग. दुच्चारयेत् । २ ग. छेद्या । ३ क. ख. घ. °ण्ड्यः । याचप.°।

न शूद्रे किंचित् ॥ १० ॥

शूद्रे त्वाक्रुष्टे न किंचिदपि द्रव्यं ब्राह्मणो दण्ड्यः । तदिदं न वक्तव्यमवचनादेव दण्डाभावः सिध्येत् । किंतु क्षत्रियवैश्ययोः शूद्राक्रोशे दण्डप्रापणार्थमुक्तम् । तदुक्तमुशनसा—

शूद्रमाक्रुश्य क्षत्रियश्चतुर्विंशतिपणान्दण्डभाग्वैश्यः षट्त्रिंशत् । इति ॥ १० ॥

ब्राह्मणराजन्यवत्क्षत्रियवैश्यौ ॥ ११ ॥

ब्राह्मणराजन्ययोः परस्पराक्रोशे यादृशो दण्डस्तादृशः क्षत्रियवैश्ययोः परस्पराक्रोशे । ततश्चैवं सूत्रमूहितव्यम् । शतं वैश्यः क्षत्रियाक्रोशे । क्षत्रियस्तु वैश्यं पञ्चाशत् । एवमन्तरप्रभवेष्वपि द्रष्टव्यम् । अत्र जमदग्निः—मातृतुल्यमनुलोमानां पितृतुल्यं प्रतिलोमानामिति ॥ ११ ॥

उक्तः साहसदण्डः । स्तेयदण्डमाह—

अष्टापाद्यं स्तेयकिल्बिषं शूद्रस्य ॥ १२ ॥

स्तेयं चौर्यम् । स्तेयोपात्तं द्रव्यं किल्बिषनिमित्तत्वात्किल्बिषमुच्यते । स्तेयेनोपात्तं द्रव्यमष्टगुणमापादनीयं शूद्रस्य । कर्तरि षष्ठ्येषा । स्तेयकिल्बिषं शूद्रोऽष्टगुणमापादयेद्राज्ञे दण्डरूपेण प्रतिपादयेदिति । तत्रैको गुणः स्वामिने देयः शेषा राज्ञे । उक्तं च चोरहृतमवजित्येत्यादिना ॥ १२ ॥

द्विगुणोत्तराणीतरेषां प्रतिवर्णम् ॥ १३ ॥

इतरेषां वैश्यादीनां स्तेयकिल्बिषाणि प्रतिवर्णं द्विगुणोत्तराण्यापादनीयानि । वैश्यस्य षोडशगुणं क्षत्रियस्य द्वात्रिंशद्गुणं ब्राह्मणस्य चतुःषष्टिगुणमिति ॥ १३ ॥

कस्मादिदमेवमित्याह—

विदुषोऽतिक्रमे दण्डभूयस्त्वम् ॥ १४ ॥

यथा यथा वर्णोत्कर्षेण विद्योत्कर्षस्तथा तथा विहितातिक्रमे दण्डभूयस्त्वं भवति । निषेधदोषं ज्ञात्वाऽपि प्रवर्तमानस्य दोषाधिक्यं भवति । अजानतस्त्वन्धकूपपतनवदनुग्रहोऽस्ति । अष्टापाद्यमित्यादेरपवादः ॥ १४ ॥

---

१ क. ख. ग. 'पञ्चशतम्'। २ ग. 'त्रैगुण्यं स्वामिने देयं शे'।

फलहरितधान्यशाकादाने पञ्चकृष्णलमल्पम् ॥ १५ ॥

फलमाम्रादि। हरितधान्यं स्तम्बेऽवस्थितं व्रीह्यादि। शाकं वास्तूकादि। एतेषां स्तेयेनाऽऽदाने पञ्चकृष्णलं दण्डः। कृष्णलं गुञ्जाबीजप्रमाणम्।

माषो विंशतिभागस्तु ज्ञेयः कार्षापणस्य हि।
कृष्णलस्तु चतुर्थांशो माषस्यैव प्रकीर्तितः॥ इति।

पञ्चानां कृष्णलानां समाहारः पञ्चकृष्णलम्। अल्पं तच्चेत्फलादि अल्पमुदरपूरणमात्रम्। अधिके त्वष्टापाद्यमेव॥ १५॥

पशुपीडिते स्वामिदोषः ॥ १६ ॥

पशुभिरुपहते सस्यादौ पशुमतो दोषः। दण्डपरिमाणं वक्ष्यति॥१६॥

पालसंयुक्ते तु तस्मिन् ॥ १७ ॥

स चेत्पशुः पालाय स्वामिना समर्पितस्तदा तस्मिन्पाले दोषः। पालयतीति पालो गोपालः। इदं प्रमादकृते, बुद्धिपूर्वे तु द्विगुणो दण्डः। तथा स्मृत्यन्तरे दर्शनात्॥ १७॥

पथि क्षेत्रेऽनावृते पालक्षेत्रिकयोः ॥ १८ ॥

क्षेत्रिकः क्षेत्रवान्यस्य क्षेत्रं पथ्यनावृतं भवति तत्र पशुपीडिते पालक्षेत्रिकयोरुभयोर्दण्डोऽर्धमर्धम्। पालस्यानवधानात्क्षेत्रिकस्य वृत्त्यकरणाच्च।

वृतिं च तत्र कुर्वीत यामुष्ट्रो नावलोकयेत्।

इति मानवे दर्शनात्॥ १८॥

दण्डपरिमाणमाह—

पञ्च माषा गवि ॥ १९ ॥

उशनसा माषो दर्शितः—

माषो विंशतिभागस्तु ज्ञेयः कार्षापणस्य हि।
काकिणी तु चतुर्थांशो माषस्यैव प्रकीर्तितः। इति॥

माषाः पञ्च गोपीडिते सस्यादौ दण्डः॥ १९॥

---

१ङ. घ. ध. 'दंष्ट्रा'।

षडुष्ट्रखरे ॥ २० ॥

द्वंद्वैकवद्भावः । उष्ट्रखरे तूपंहन्तरि प्रत्येकं षण्माषा दण्डः ॥ २० ॥

अश्वमहिष्योर्दश ॥ २१ ॥

छिन्नमविवक्षितम् । अश्वे महिषे च प्रत्येकं दश माषा दण्डः ॥२१॥

अजाविषु द्वौ द्वौ ॥ २२ ॥

अजेष्वविषु चोपसंहन्तृषु द्वौ द्वौ माषौ । संभूय चरन्तीति बहुवचनम् । प्रत्यजं प्रत्याविकं द्वौ द्वौ दण्डः ॥ २२ ॥

सर्वविनाशे शदः ॥ २३ ॥

यथा पुनः प्ररोहो न भवति तथा सर्वविनाशे शदो दण्डः । शद् इति भागाभिधानम् । यावांस्तत्र भाग उत्पत्स्यते तावत्स्वामिने देयम् । राज्ञे चानुरूपो दण्डः ॥ २३ ॥

शिष्टाकरणे प्रतिषिद्धसेवायां च नित्यं चैलपिण्डादूर्ध्वं स्वहरणम् ॥ २४ ॥

शिष्टं विहितम् । नित्यं शिष्टस्याकरणे नित्यं च प्रतिषिद्धसेवायां चैलपिण्डादूर्ध्वं चैलमाच्छादनं पिण्डो ग्रासस्ताभ्यामूर्ध्वं यावता तयोर्निवृत्तिस्ततोऽधिकं यत्स्वं तस्य हरणं कार्यम् । आच्छादनासनार्थं यत्किंचित्परिहाप्यायशिष्टमस्य स्वं हर्तव्यमित्येवमतो निवृत्तेः ॥ २४ ॥

अदत्तादाननिषेधविषयेऽपवादमाह—

गोग्न्यर्थे तृणमेधान्वीरुद्वनस्पतीनां च पुष्पाणि स्ववदाददीत फलानि चापरिवृतानाम् ॥ २५ ॥

अग्निः श्रौतस्मार्तादिर्न लौकिकः । गवार्थे तृणानि । अग्न्यर्थं एधान्वीरुद्वनस्पतीनाम् । लतानां वृक्षाणां पुष्पाणि देवतार्चनार्थानि नोपभोगार्थानि । गवाग्निसाहचर्याद्देवतार्थानीति गम्यते । एतानि तृणादीनि स्वामिभिरदत्तान्यपि स्ववदाददीत । यथा स्वामी निःशङ्कमादत्ते तद्वदाददीत । ते वीरुद्वनस्पतयोऽपरिवृताश्चेत्तेषां फलान्यपि

१ ग. °दर्थेरि ।

स्ववदाददीत न स्वाम्यपेक्षा । फलविषयमेतद्वृपरिवृतत्वं न तृणादि-विषयम् । पृथग्वाक्यत्वात् ॥ २५ ॥

कुसीदवृद्धिर्धर्म्या विंशतिः पञ्चमाषिकी मासम् ॥ २६ ॥

वृद्ध्यर्थं प्रयुक्तस्य द्रव्यस्य कुसीदसंज्ञा । माषः कार्षापणस्य विंश-तितमो भाग इत्युशनसोक्तम् । पञ्च माषा वृद्धिरूपेण दीयन्ते यत्र विंशतौ सा पञ्चमाषिकी । तदस्मिन्वृद्ध्यायलाभशुल्कोपदा दीयत इत्यत्रार्थे प्राग्वहतेष्ठक् । अध्यर्धपूर्वद्विगोर्लुगसंज्ञायामिति लुक्प्राप्तो न कृतः स्वाच्छन्द्यादृषिणा । कार्षापणानां विंशतिः प्रतिमासं पञ्चमा-षिकी यथा भवति तथा भवन्ती कुसीदवृद्धिर्धर्मादनपेता ।

अत्र मनुः—

वसिष्ठविहितां वृद्धिं सृजेद्वित्तविवर्धिनीम् ।
अशीतिभागं गृह्णीयान्मासाद्वार्धुषिकः शतः ॥ इति ।

अत्रापीयमेव वृद्धिरुक्ता । कथम् । पणस्य विंशतितमो भागो माषः । पणानां विंशतिश्चतुःशती माषाणां संपद्यते । चतुःशत्याः पञ्च माषा वृद्धिरशीतेरेकः । पञ्चशतीति यश्चतुरशतीति । (?)

याज्ञवल्क्यस्तु—

अशीतिभागो वृद्धिः स्यान्मासि मासि सबन्धके ।
वर्णक्रमाच्छतं द्वित्रिचतुःपञ्चकमन्यथा ॥ इति ।

विश्वासार्थं यदाधीयते सुवर्णादि तद्बन्धकम् । तदुक्ते धनप्रयोगे वर्णानुपूर्व्याद्ब्राह्मणादिष्वधमर्णेषु धनं द्वित्र्यादियुक्तं क्रमाद्भवति ॥२६॥

नातिसांवत्सरीमेके ॥ २७ ॥

येयमशीतिभागलक्षणा धर्म्या वृद्धिस्तामतिसांवत्सरीं संवत्सरेऽति-क्रान्ते सर्वां न गृह्णीयात्, एकस्मिन्नेव संवत्सरे प्रतिमासमशीतिभागो ग्राह्यस्तत ऊर्ध्वं न किंचिदपि ग्राह्यमेषा धर्म्या भवतीत्येके मन्यन्ते । अतिसांवत्सरीमिति रूपसिद्धिश्चिन्त्या ॥ २७ ॥

स्वमतमाह—

चिरस्थाने द्वैगुण्यं प्रयोगस्य ॥ २८ ॥

यावता कालेन प्रयुक्तं धनं द्विगुणं भवति तावन्तमेव कालं धर्म्या वृद्ध्या विवर्धते नातः परमिति । सुवर्णादिद्रव्यविषयमेतत् ।

अत्र वसिष्ठः—

द्विगुणं हिरण्यं त्रिगुणं धान्यम् । धान्येनैव रसा व्याख्याताः । वृक्षमूलफलानि च तुलाधृतमष्टगुणमिति । चिरग्रहणात्सहस्रेणापि संवत्सरैर्न द्वैगुण्यात्परं वर्धत इति ॥ २८ ॥

भुक्ताधिर्न वर्धते ॥ २९ ॥

विश्वासार्थं यद्राधीयते कांस्याभरणादि स आधिः । स चेदुपभुक्तः प्रयुक्तोऽर्थो न वर्धते । भोग एव तत्र वृद्धिरिति ॥ २९ ॥

दित्सतोऽवरुद्धस्य च ॥ ३० ॥

धनिने धनं दातुमिच्छतोऽधर्मणस्य धनं न वर्धते । धनी वृद्धिलोभाद्याजेन न गृह्णाति चेत्तस्मिन्नेव दिवसे परहस्ते स्थाप्यं तदारभ्य वृद्धिर्न वर्धते तथा यो दित्सन्नधमर्णो राजादिनाऽवरुद्धस्तस्यापि दातुमसमर्थस्य द्रव्यं तत आरभ्य न वर्धते ॥ ३० ॥

अथाऽऽपदि वृद्ध्यन्तराण्याह—

चक्रकालवृद्धिः ॥ ३१ ॥

वृद्धिशब्दः प्रत्येकमभिसंबध्यते । यावता कालेन यावती वृद्धिस्तामपि मूलीकृत्य तावतो मूलस्य पुनर्वृद्धिश्चक्रवृद्धिः ।

यथाऽऽह नारदः—वृद्धेरपि पुनर्वृद्धिश्चक्रवृद्धिरुदाहृता ॥ इति ।

इयतः कालस्येयती वृद्धिरिति यत्र समयेन गृह्यते सा कालवृद्धिः ॥ ३१ ॥

कारिताकायिकाशिखाधिभोगाश्च ॥ ३२ ॥

वृद्धय इति शेषः । प्रयोक्त्रा गृ(ग्र)हीत्रा च देशकालकार्यावस्थापेक्षया प्रभूता न्यूना वा स्वयमेव कल्पिता वृद्धिः कारिता । कायिका कायकर्मसंशोध्या ।

यथा बृहस्पतिः—कायिका कर्मसंयुक्ता । इति ।

व्यासस्तु—दोह्यवाह्यकर्मयुक्ता कायिका समुदाहृता ॥ इति ।

शिखावृद्धिं कात्यायन आह—

प्रत्यहं गृह्यते या हि शिखावृद्धिस्तु सा स्मृता ।
शिखेव वर्धते नित्यं शिरश्छेदान्निवर्तते ॥
मूले दत्ते तथैवेषा शिखावृद्धिस्ततः स्मृता ॥ इति।

---

१ ग. ट एवेति ।

उदाहरणम्—तण्डुलमैस्थस्य प्रत्यहं तण्डुलमुष्टिर्गृह्यत इति । आधिभोग आहितस्य क्षेत्रस्य भोगोऽनुभवः । तत्रानुभव एव वृद्धिः । सा च शतेनापि संवत्सरैर्न निवर्तते । क्षेत्रं चोत्तमर्णस्य न भवति । यदा कदाचिदपि मूलप्रदाने सत्यधमर्णस्य भवति । अधिभोग इत्यन्ये । भोगमधिकृत्य वर्तत इत्यधिभोगवृद्धिः । तत्राप्येष एवार्थः । एताश्च चक्रवृद्ध्यादिषु वृद्धेर्द्वैगुण्यात्परमपि भवत्येव ॥ ३२ ॥

कुसीदं पशूपजलोमक्षेत्रशदवाह्येषु नातिपञ्चगुणम् ॥ ३३ ॥

पशोरुपजातं पशूपजं घृतक्षीरादि । ऊर्णाकम्बलचामरवालव्यजनादि लोम क्षेत्रशदः क्षेत्रभोगः । वाह्यं बलीवर्दादि । वाह्यमिति प्रायेण पठन्ति, तत्राप्येष एवार्थः । एतेषु पशूपजादिषु प्रयुक्तेषु तत्कुसीदं यावत्पञ्चगुण वर्धते पञ्चगुणतां नात्येति । अपर आह—पशूपजादिषु मूलत्वेन कल्पितस्य द्रव्यस्य तदानीमप्रदाने यावत्पञ्चगुणं वर्धते, धर्म्यया च वृद्ध्या पञ्चगुणतां नात्येति ॥ ३३ ॥

अजडापौगण्डधनं दशवर्षभुक्तं परैः संनिधौ भोक्तुः ॥ ३४ ॥

जड उन्मत्तः पौगण्डो व्याकृतव्यवहारः । यो जडो न भवति पौगण्डो वा न भवति तस्य धनं परैस्तत्संनिधावेव चेद्दश वर्षाणि भुक्तं भवति तदा तद्धनं भोक्तुरेव स्वमिति निश्चीयते । स एव भोगः स्वामिनः सकाशाद्दानादिरूपेण तस्य धनस्य निर्गतं सूचयति । कथमपरथैतावन्तं कालमेवमर्थमपरलोके तूष्णीमासीतेति ।

अत्र क्षेत्रविषये याज्ञवल्क्यः—

पश्यतो ब्रुवतो भूमेर्हानिर्विंशतिवार्षिकी ।
परेण भुज्यमानाया धनस्य दशवार्षिकी ॥ इति ।
पश्यन्नन्यस्य ददतः क्षितिं यो न निवारयेत् ।
स्वामी सताऽपि लेखेन न स तल्लब्धुमर्हति ॥ इति बृहस्पतिः ।

अत्र मनुः—

यत्किंचिद्दश वर्षाणि संनिधौ प्रेक्षते धनी ।
भुज्यमानं परैस्तूष्णीं न स तल्लब्धुमर्हति ॥ इति ।

१ क. ख. ग. °प्रभृत°। २ ग. °परे ल्ग°।

अनागमं तु यो भुङ्क्त इत्यादि त्वसंनिधिविषयाणि जडादिविषयाणि वा ॥ ३४ ॥

अस्यापवादः—

न श्रोत्रियप्रव्रजितराजपूरुषैः ॥ ३५ ॥

श्रोत्रियादिभिर्भुज्यमानं न भोगमात्रात्तेषां भवति । उपेक्षाकारणत्वोपपत्तेः । श्रोत्रियप्रव्रजितयोर्धर्मतृष्णयोपेक्षेति । राजपुरुषस्य तु भयेन । राजपुरुषग्रहणं सर्वेषां बलवतामुपलक्षणम् । एतेन साहसिका व्याख्याताः । अपरिग्रहस्यापि प्रव्रजितस्य स्वस्वामिके शून्यग्रहादावुपभोगः संभवति ॥ ३५ ॥

पशुभूमिस्त्रीणामनतिभोगः ॥ ३६ ॥

पशवश्चतुष्पादः । भूमिः क्षेत्रारामादिका । स्त्रियः परिचारिका दास्यः । पश्वादीनां स(स्व)त्वे नातिभोगोऽपेक्षितः । अल्पेनापि भोगेन भोक्तुः स्वं भवति । कथमनन्तरगृहे दृश्यमानां गां स्वयं तक्रादि क्रीत्वोपयुञ्जान उपेक्षेत, कथं वा बहुफलमारामं, कथं वा दासीं यौवनस्थामन्वहं परिचारिकाम् ॥ ३६ ॥

रिक्थभाज ऋणं प्रतिकुर्युः ॥ ३७ ॥

ये यस्य रिक्थभाजस्ते तद्दृणं प्रतिदद्युः । पुत्रपौत्रैस्तु रिक्थाभावेऽपि देयम् ।

तथा च बृहस्पतिः—

ऋणमात्मीयवत्पित्र्यं पुत्रैर्देयं विभावितम् ।
पैतामहं समं देयं न देयं तत्सुतस्य तत् ॥ इति ।

नारदः—क्रमादभ्यागतं प्राप्तं पुत्रैर्यन्नर्णमुद्धृतम् ।
दद्युः पैतामहं पौत्रास्तच्चतुर्थान्निवर्तते ॥

याज्ञवल्क्यः—पितरि प्रोषिते प्रेते व्यसनाभिप्लुतेऽपि वा ।
पुत्रपौत्रैर्ऋणं देयं निह्नवे साक्षिभावितम् ॥ इति ॥ ३७ ॥

प्रतिभाव्यवणिक्शुल्कमद्यद्यूतदण्डाः
पुत्रान्नाध्याभवेयुः ॥ ३८ ॥

अत्र नारदः—

---

१ °पशुभा° । २ क. ख. ग. °धोनिय° । ३ ग. °वा । ४ ग. °दत्तानुपालयदाम° ।

उपस्थानाय दानाय प्रत्ययाय तथैव हि ।
त्रिविधः प्रतिभूर्दृष्टस्त्रिष्वेवार्थेषु सूरिभिः ॥ इति ।
तस्य प्रतिभुवि प्रेते दायादानपि दापयेत् । इति ।

विष्णुयाज्ञवल्क्यौ—दर्शने प्रत्यये दाने प्रातिभाव्यं विधीयते ।
आद्यौ तु वितथे दाप्याावितरस्य सुता अपि ॥ इति ।

तस्मादिदमपि दानप्रतिभूव्यतिरिक्तविषयं द्रष्टव्यम् ।

अहमेनं दर्शयिष्यामीति प्रातिभाव्यं तमदर्शयित्वा पितरि प्रेते न तत्पुत्रेणासौ दर्शयितव्य इति । वणिग्वाणिज्यार्थमुपात्तं द्रव्यं तदपि न पुत्रानभ्याभवति । यदा सलाभमूलं दास्यामीति परिभाष्य कस्यचित्सकाशाद्द्रव्यं गृहीत्वा वाणिज्याय देशान्तरं गतो म्रियेत तदा तत्पुत्रेण न तत्प्रतिकर्तव्यमिति । तथा शुल्कं प्रतिश्रुत्य विवाहं कृत्वा मृते तत्पुत्रं न तच्छुल्कमभ्याभवति। तथा मूलं दास्यामीति मद्यं बहु पीत्वा मृते न तत्पुत्रेण तद्दातव्यम् । तथा द्यूतं कृत्वा पराजितस्तत्पणद्रव्यमदत्त्वैव यदि म्रियते तदा तत्पुत्रो न दातुमर्हति । यथा व्यवहारे पराजितो राज्ञे दण्डमदत्त्वैव यदि म्रियते तदा न सोऽपि दण्डः पुत्रानभ्याभवति ॥ ३८ ॥

निध्यन्वाधियाचितावक्रीताधयो नष्टाः
सर्वाननिन्दितान्पुरुषापराधेन ॥ ३९ ॥

निधिर्निक्षेपः । स्वं द्रव्यं यत्र विस्रम्भान्निक्षिपत्यविशङ्कितः स निक्षेपः । अन्वाधिरुपनिधिः । औपनिधिकमिति स्मृत्यन्तरे प्रसिद्धम् । तत्र याज्ञवल्क्यः—

भाजनस्थमनाख्याय हस्ते न्यस्य यदर्प्यते ।
द्रव्यं तदौपनिधिकं प्रतिदेयं तथैव तत् ॥ इति ।

याचितमुत्सवादिष्वाभरणादि । अवक्रीतमदत्तमौल्यमर्धदत्तमौल्यं वा,[1] आधिर्गोप्याधिः । एते निध्यादयो यदि पुरुषापराधेन विना नष्टा भवन्ति चोरादिभिरपहृताः सर्वांस्ताननिन्दितानाहुः । अदोषानाहुः । न केवलं पुत्रानेव नाभ्याभवेयुः किं तर्हि येषां सकाशे निध्यादयः कृतास्तानपि नाभ्याभवन्ति । अनिन्दितेति ते यदि पूर्वं दृष्टदोषा भवन्ति तदा पूर्वमिदम् । पुरुषापराधस्तु यदि धारयितारः स्वद्रव्यवन्न रक्षयेयुः, यद्यग्निभयादौ

---

१ ग. मणिमुक्तं वा ।

स्वद्रव्यं गृहीत्वा निध्याद्युपेक्षेरन्स्वद्रव्यं वा गुप्तं निधाय बहिर्निध्यादि स्थापयेयुः । एतस्मिन्पुरुषापराधे सति दद्युरेव ॥ ३९ ॥

स्तेनः प्रकीर्णकेशो मुसली राजान-
मियात्कर्माऽऽचक्षाणः ॥ ४० ॥

स्तेनः सुवर्णस्तेयकृत् ।

सुवर्णस्तेयकृद्विप्रो राजानमभिगम्य तु ।
स्वकर्म ख्यापयन्ब्रूयान्मां भवाननुशास्त्विति ॥ इति मानवम् ।

प्रकीर्णकेशो मुक्तकेशः । आयसः खादिरो वा मुसल इति स्मृत्यन्तरं तद्वान् । अंसे मुसलमाधायेत्यापस्तम्बः । राजानमियात्कर्माऽऽचक्षाणः । एवंकर्माऽस्मि प्रशाधि मामितिब्रुवाणः ॥ ४० ॥

पूतो वधमोक्षाभ्याम् ॥ ४१ ॥

वधस्ताडनं मरणान्तिकम् । तेनैनं हन्यादित्यापस्तम्बः । सकृदेव ताडनम् ।

गृहीत्वा मुसलं राजा सकृद्धन्यात्तु तं स्वयम् । इति स्मरणात् ।

मोक्षो मोचनं पुनरेवंविधं मा कार्षीर्गच्छेति । ताभ्यां च वधमोक्षाभ्यां स्तेनः पूतो भवति । हतोऽपि शुध्यति मुक्तोऽपि शुध्यतीति ॥ ४१ ॥

अघ्नन्नेनस्वी राजा ॥ ४२ ॥

यदि दयादिना तं न हन्याद्राजा स्वयमेनस्वी भवति । चोरस्य यदेनस्तद्रस्य भवतीति ॥ ४२ ॥

अयं तु दण्डो ब्राह्मणवर्जमिति दर्शयति—

न शारीरो ब्राह्मणदण्डः ॥ ४३ ॥

स्वयमुपस्थितस्यापि ब्राह्मणस्य शारीरो दण्डो न कर्तव्यो मोक्ष एव तथा च मनुः—

वधेन शुध्यति स्तेनो ब्राह्मणस्तपसैव च ॥ इति ।

अत्रैवकारबलात्तदानीं तस्यापि ब्राह्मणस्य तपसा मोक्षः । न क्वापि निमित्ते हस्तच्छेदादिकमपि कर्तव्यमित्येवमर्थः । तथा च मनुः—

त्रिषु वर्णेषु तानि स्युरक्षतो ब्राह्मणो व्रजेत् ॥ इति ।

तपस्विब्राह्मणविषयमिदम् ॥ ४३ ॥

अन्यस्य तु यथापराधं दण्डमाह—

कर्मवियोगविख्यापनविवासनाङ्ककरणानि ॥ ४४ ॥

यथा पुनस्तत्कर्म न करोति तथा करणं कर्मवियोगः । सर्वस्वहरणं प्रतिभूग्रहणमित्यादि विख्यापनं चौर्यचिह्नेन ग्रामनगरादिष्वाघोषणम्। विवासनं निर्वासनं यथापराधं ग्रामनगराद्राष्ट्राद्वा । अङ्ककरणं चिह्नकरणम् ।

तत्र मनुः—गुरुतल्पे भगः कार्यः सुरापाने सुराध्वजः ।
स्तेये तु श्वपदं कार्यं ब्रह्महण्यशिराः पुमान् ॥ इति ।

एषां कर्मवियोगादीनामेनःसु गुरुषु गुरूणि लघुषु लघूनीति न्यायेनापराधानुरूपा व्यवस्था । एतन्महापातकविषयम् । अङ्ककरणं तु तपस्विब्राह्मणस्यापि भवत्येव ॥ ४४ ॥

अप्रवृत्तौ प्रायश्चित्ती सः ॥ ४५ ॥

यस्तु राजा चोरविषयेष्वेवंदण्डको न वर्तते तस्यामप्रवृत्तौ स्वयं प्रायश्चित्ती भवति । तत्र वसिष्ठः—

दण्ड्योत्सर्गे राजैकरात्रमुपवसेत्त्रिरात्रं पुरोहितः। कृच्छ्रमदण्ड्यदण्डने पुरोहित एकरात्रं त्रिरात्रं राजेति ॥ ४५ ॥

चोरसमः सचिवो मतिपूर्वे ॥ ४६ ॥

साचिव्यं प्रतिश्रयाशनदानादि साहाय्यं तच्चेन्मतिपूर्वं चोरोऽयमिति ज्ञात्वाऽपि यदि साचिव्यं करोति स चोरसमश्चोरवद्दण्ड्यः । अज्ञाते पुनरज्ञानमेव शरणम् ॥ ४६ ॥

प्रतिग्रहीताऽप्यधर्मसंयुक्ते ॥ ४७ ॥

१ अपिशब्दान्मतिपूर्व इत्यनुवर्तते । योऽन्यस्य द्रव्यमनेन चोरितमिति जानन्नेव ततः प्रतिगृह्णाति सोऽपि तस्मिन्नधर्मसंयुक्ते प्रतिग्रहे चोरसमः। प्रकरणादेव सिद्धेऽधर्मसंयुक्तग्रहणमन्यत्रापि पापविषये प्रतिग्रहीतुस्तत्पापं भवतीति ज्ञापनार्थम् ॥ ४७ ॥

पुरुषशक्त्यपराधानुबन्धविज्ञानाद्दण्डनियोगः ॥ ४८ ॥

पुरुषो ब्राह्मणादिजातिः । शक्तिरर्थदण्डे बह्वर्थोऽल्पार्थ इति,

१ ग. °यादारदा° । घ. °यासनदा° ।

शरीरदण्डे दुर्बलः प्रबलो वेति चिन्ता । अपराधः साक्षात्कर्तृत्वं साचिव्यकर्तृत्वं वेति । अनुबन्धोऽभ्यासः । एतान्पुरुषादीन्विज्ञाय तदनुरूपो दण्डो नियोक्तव्य इति ॥ ४८ ॥

अनुज्ञानं वा वेदवित्समवायवचना-
द्वेदवित्समवायवचनात् ॥ ४९ ॥

वेदविदां त्रयाणां चतुर्णां वा समवायः संघः ।

चत्वारो वा त्रयो वाऽपि यं ब्रूयुर्वेदपारगाः ।
स धर्म इति विज्ञेयो नेतरेषां सहस्रशः ॥ इति मनुः ।

तस्य संघस्य वचनादनुज्ञानं वा कर्तव्यम् । अनुपरोधो धर्मो वचनीय इति यदि ते ब्रूयुस्तदा वक्तव्यमनुजानामि त्वां गच्छ यथेष्टमिति ॥ ४९ ॥

इति श्रीहरदत्तविरचितायां गौतमसूत्रविवृतौ मिताक्षरायां
द्वादशोऽध्यायः ॥ १२ ॥

---

अथ त्रयोदशोऽध्यायः ।

---

विप्रतिपत्तौ साक्षिनिमित्ता सत्यव्यवस्था ॥ १ ॥

विप्रतिपत्तौ साक्षिणः प्रष्टव्याः । तैर्यथोक्तं तथा सत्यं व्यवस्थाप्यम् ।
अत्र नारदः—एकादशविधः साक्षी शास्त्रे दृष्टो मनीषिभिः ।
कृतः पञ्चविधस्तेषां षड्विधोऽकृत उच्यते ॥
लिखितः स्मारितश्चैव यदृच्छाभिज्ञ एव च ।
गूढश्चोत्तरसाक्षी च साक्षी पञ्चविधः कृतः ॥
अन्ये पुनरनुद्दिष्टाः साक्षिणः समुदाहृताः ।
ग्रामश्च प्राड्विवाकश्च राजा च व्यवहारिणाम् ॥
कार्येष्वभ्यन्तरो यश्च अर्थिना प्रहितश्च यः ।
कुल्याकुल्यविवादेषु भवेयुस्तेऽपि साक्षिणः ॥ इति ॥

---

ते पुनः कीदृशाः कियन्तो वेत्याह—

वहवः स्युरनिन्दिताः स्वकर्मसु प्रात्ययिका
राज्ञां निष्प्रीत्यनभितापाश्चान्यतरस्मिन् ॥ २ ॥

वर्णप्रयुक्तान्याश्रमप्रयुक्तान्युभयप्रयुक्तानि स्वानि कर्माणि श्रौतानि स्मार्तानि च तेष्वनिन्दिता अकरणादन्यथाकरणाद्वा ।

त्र्यवराः साक्षिणो ज्ञेयाः श्रौतस्मार्तक्रियापराः । इति याज्ञवल्क्यः ।

प्रत्ययो विश्वासस्तेन ये चरन्ति ते प्रात्ययिका य एवंभूता राज्ञा महद्दोपतया विश्वसनीयाः । अर्थिप्रत्यर्थिनोरन्यतरस्मिन्निष्प्रीतयो निःस्नेहा अनभितापा अकृतद्वेषाः । एवंभूता वहवः साक्षिणः स्युः ।

उभयानुमतः साक्षी भवत्येकोऽपि धर्मवित् । इति याज्ञवल्क्यः ।

अभ्यन्तरस्तु निक्षेपे साक्ष्यमेकोऽपि वाच्यते ।
अर्थिना प्रहितः साक्षी भवत्येकोऽपि याचितः ॥ इति कात्यायनः ।
प्रमाणमेकोऽपि भवेत्साहसेषु विशेषतः । इति व्यासः ॥ २ ॥

अपि शूद्राः ॥ ३ ॥

शूद्रा अप्येवंविधाश्चेत्साक्षिणो भवेयुः किं पुनर्द्विजातय इति । एवं च गुणवद्विजात्यभावे शूद्रा अप्येवंविधा भवन्तीति द्रष्टव्यम् ॥ ३ ॥

ब्राह्मणस्त्वब्राह्मणवचनादनवरोध्योऽनिबद्धश्चेत् ॥ ४ ॥

ब्राह्मणो नात्र श्रोत्रियः । अस्य वृत्तान्तस्यासौ ब्राह्मणः साक्षीत्यब्राह्मणेनोक्ते राज्ञा साक्षित्वेन नावरोध्यो न निर्बन्धेन ग्राह्यः । अनिबद्धश्चेत् । स चेल्लेख्यनिबद्धो न भवति । लेख्यमारूढस्तु भवत्येव साक्षी । नात्र कश्चिद्धेतुरस्ति वचनमेव प्रमाणम् । अत्र नारदः—

असाक्ष्यपि हि शास्त्रेषु दृष्टः पञ्चविधो बुधैः ।
वचनाद्दोषतो भेदात्स्वयमुक्तेर्मतान्तरात् ॥
श्रोत्रियाद्या वचनतः स्तेनाद्या दोषदर्शनात् ।
भेदाद्विप्रतिपत्तिः स्याद्विवादे यत्र साक्षिणाम् ॥
स्वयमुक्तिरनिर्दिष्टः स्वयमेवैत्य यो वदेत् ।
मृतान्तरोऽर्थिनि प्रेते मुमूर्षुः श्रावितादृते ॥ इति ।

१ क ख घ 'वहुवत्तावर्ण°'।

तदिह श्रोत्रियः क्वचिदपि साक्षी न भवतीति नारदस्य पक्षः । इहाब्राह्मणवचनादित्युक्तत्वाद्ब्राह्मणेनोक्तः श्रोत्रियोऽपि भवत्येव साक्षी॥४॥

नासमवेतापृष्टाः प्रब्रूयुः ॥ ५ ॥

असमवेता असमुदिता राज्ञा प्राड्विवाकेन वाऽपृष्टाः सन्तो न ब्रूयुः । किंतु समवेताः पृष्टाश्च प्रब्रूयुः ॥ ५ ॥

अवचनेऽन्यथावचने च दोषिणः स्युः ॥ ६ ॥

ते चैवंभूता यदि जानन्त एव न ब्रूयुस्तदा दोषिणो दुष्टाः स्युः । इह राज्ञा दण्ड्याः परत्र च नारकिणः ॥ ६ ॥

स्वर्गः सत्यवचने विपर्यये नरकः ॥ ७ ॥

ब्रुवन्तस्तु यदि सत्यं ब्रुवन्ति तदा स्वर्गो भवति विपर्ययेऽसत्यवचने नरको भवतीति ॥ ७ ॥

अनिबद्धैरपि वक्तव्यम् ॥ ८ ॥

निबद्धा निर्दिष्टा यूयमत्र साक्षिण इति । तद्विपरीता अनिबद्धास्तैरपि साक्ष्यं वक्तव्यम् । ते च नारदेनान्ये पुनरनिर्दिष्टा इत्यारभ्य कथिता द्रष्टव्याः ॥ ८ ॥

न पीडाकृते निबन्धः ॥ ९ ॥

पीडाकृतं पीडाकरणम् । निबन्धो निबन्धनमर्थसंबन्धादि । पीडाकरणे हिंसाविषये साक्षिणां निबन्धो न निरूप्यः । अर्थसंबन्धादि न किंचिदपि दूषणं भवति । आह व्याघ्रः—

स्तेये च साहसे चैव संसर्गे च स्त्रियास्तथा ।

गरादीनां प्रयोगे च न दोषः साक्षिषु स्मृतः ॥ इति ॥ ९ ॥

प्रमत्तोक्ते च ॥ १० ॥

प्रमादोऽनवधानम् । अन्यथे परे वाक्ये साक्षिणा यदृच्छया यदुक्तं तत्रापि निबन्धो न भवति । अर्थसंबन्धादिदूषणं न भवति ॥ १० ॥

विपर्यये नरक उक्तः । न स केवलं साक्षिण एव किं तर्हि—

---

१ ग. ङ. । भव त्यग. ।

साक्षिसभ्यराजकर्तृषु दोषो धर्मतन्त्रपीडायाम् ॥ ११ ॥

तन्त्रं लोकव्यवहारः। धर्मतन्त्रयोः पीडायां सत्यां साक्षिषु सभ्येषु राजनि कर्तरि च सर्वेषु दोषो भवति। कर्तृग्रहणं दृष्टान्तार्थम्। यावान्कर्तुर्दोषस्तावान्साक्ष्यादीनामपीति। यद्यपि साक्षिणः पूर्वं दोष उक्तस्तथाऽपीह ग्रहणं सभ्यादीनां ससाक्षिकेऽपि दोषग्रहणार्थम्। अन्यथाऽसाक्षिकव्यवहारे सभ्यादीनां दोषः। ससाक्षिके तु साक्षिणामेवेत्युक्तं स्यात् ॥ ११ ॥

शपथेनैके सत्यकर्म ॥ १२ ॥

यत्र साक्षिषु तथा विश्वासो न भवति तत्र शपथेन सत्यकर्म शपथं कारयित्वा सत्यं वाचनीयमित्येके मन्यन्ते ॥ १२ ॥

तद्देवराजब्राह्मणसंसदि स्यादब्राह्मणानाम् ॥ १३ ॥

तच्छपथेन सत्यकर्म देवसंसदि उग्राणां देवतानां संनिधौ ब्राह्मणानां संसदि परिषदि वा भवति। क्षत्रियादीनामर्थगुरुत्वलघुत्वापेक्षो विकल्पः। महत्त्यर्थे देवतासंनिधावल्पीयस्यन्यत्रेति। अब्राह्मणानामितिवचनाद्ब्राह्मणानां शपथकर्म न भवति। अत्र विष्णुः—पृच्छेद्ब्रूहीति ब्राह्मणम्। सत्यं ब्रूहीति राजन्यम्। गोबीजकाञ्चनैर्वैश्यम्। सर्वपातकैः शूद्रम्। एवं हि साक्षिणः पृच्छेद्वर्णानुक्रमतो नृप इति। मनुस्तु—

सत्येन शापयेद्विप्रं क्षत्रियं वाहनायुधैः।
गोबीजकाञ्चनैर्वैश्यं शूद्रं सर्वैस्तु पातकैः ॥ इति ॥ १३ ॥

विपर्यये नरक इति सामान्येन साक्षिणो दोष उक्तः। इदानीं व्यवहारविशेषे दोषविशेषमाह—

क्षुद्रपश्वनृते साक्षी दश हन्ति ॥ १४ ॥

क्षुद्रपशवोऽजाविकादयः। तद्विषयेऽनृतवदने साक्षी दश हन्ति। तेषां दशानां वधे यावान्दोषस्तावानस्य भवतीति। दण्डप्रायश्चित्ते अपि तदनुगुणे द्रष्टव्ये ॥ १४ ॥

गोऽश्वपुरुषभूमिषु दशगुणोत्तरान् ॥ १५ ॥

उक्तानामुत्तरं दश गुणान्दशगुणोत्तरान्। गवादिविषयेऽनृते

१ ग. 'दशगुणा°।

साक्षी पूर्वोक्ताद्दशगुणोत्तरं तत्तद्वधयुक्तदोषो भवति। एतदुक्तं भवति—गवानृते साक्षिणो गोशतहननदोषः । अश्वानृतेऽश्वसहस्रहननदोषः । पुरुषानृतेऽयुतपुरुषहननदोषः । भूम्यनृते यस्य सा भूमिस्तज्जातीयानां लक्षहननदोष इति ।

पञ्च पश्वनृते हन्ति दश हन्ति गवानृते ।
शतमश्वानृते हन्ति सहस्रं पुरुषानृते ॥

इत्येतत्त्वत्यन्तक्षुद्रपश्वादिविषयम् ॥ १५ ॥

सर्वं वा भूमौ ॥ १६ ॥

यदि वा भूमिविषयेऽनृते सर्वमेव मनुष्यजातं हन्ति । ग्रामदेशादिमहाभूमिविषयो विकल्पः ॥ १६ ॥

हरणे नरकः ॥ १७ ॥

प्रासङ्गिकमिदम् । भूमेरिति विपरिणामेन संबन्धः । भूमेर्हरणे नरको भवति । कालान्तरावधिः शास्त्रान्तरावसेयः ॥ १७ ॥

प्रकृतमाह—

भूमिवदप्सु ॥ १८ ॥

अब्विषयेऽनृते भूमिवल्लक्षहननदोषो हरणे नरक इति च समानम् । अप्शब्देन कूपतडागादिरुपलक्षितः ॥ १८ ॥

मैथुनसंयोगे च ॥ १९ ॥

मैथुनसंयुक्ते चानृते परदारानसौ गच्छतीत्यादौ भूमिवदिति चकाराद्गम्यते ॥ १९ ॥

पशुवन्मधुसर्पिषोः ॥ २० ॥

मधुसर्पिर्विषयेऽनृते क्षुद्रपशुवद्दोषः ॥ २० ॥

गोवद्वस्त्रहिरण्यधान्यब्रह्मसु ॥ २१ ॥

ब्रह्म वेदः । वस्त्रादिविषयेऽनृते गोवद्दोषः। अधीत्य नास्मान्मयाऽधीतमित्यादि ब्रह्मानृतम् ॥ २१ ॥

यानेष्वश्ववत् ॥ २२ ॥

हस्तिशकटशिबिकादीनि यानानि तद्विषयेऽनृतेऽश्ववद्दोषः । अन्ये तु क्षुद्रपश्वनृत इत्यारभ्य साक्षिश्रावणे योजयन्ति । क्षुद्रपश्वनृते साक्षिणो

दशपशुहननदोषः । तस्मात्त्वया सत्यमेव वक्तव्यमिति साक्षी श्रावयितव्य इति । एवं सर्वत्रोपरिष्टादपि ॥ २२ ॥

एवमदृष्टविषये दोषमुक्त्वा दृष्टविषये साक्षिणो दण्डमाह—

मिथ्यावचने याप्यो दण्ड्यश्च साक्षी ॥ २३ ॥

मिथ्यावचने दृष्टे साक्षी याप्यो गर्ह्यः सर्वैरपमसंव्यवहार्य इति, दण्ड्यश्च राज्ञा ।

अत्र मनुः—लोभात्सहस्रं दण्ड्यस्तु मोहात्पूर्वं तु साहसम् ।
भयाद्द्वौ मध्यमौ दण्ड्यौ मैत्र्यात्पूर्वं चतुर्गुणम् ॥
कामाद्दशगुणं पूर्वं क्रोधात्तद्द्विगुणं परम् ।
अज्ञानाद्द्वे शते पूर्णे बालिश्याच्छतमेव तु ॥
कूटसाक्ष्यं तु कुर्वाणांस्त्रीन्वर्णान्धार्मिको नृपः ।
प्रवासयेद्दण्डयित्वा ब्राह्मणं तु विवासयेत् ॥ इति ।

विष्णुः—कूटसाक्षिणां सर्वस्वापहार उक्तश्चोपजीविनां च ॥ इति ॥ २३ ॥

नानृतवचने दोषो जीवनं चेत्तदधीनम् ॥ २४ ॥

यदा सत्यवचनात्परस्परवधोऽनृतवदने तु तदधीनमनृतवचननिबन्धनमन्यस्य जीवनं भवति न वधस्तत्रानृतवचने न पूर्वोक्तो दोष इति ।

अत्र याज्ञवल्क्यः—

वर्णिनां हि वधो यत्र तत्र साक्ष्यनृतं वदेत् ।
तत्पावनाय निर्वाप्यश्चरुः सारस्वतो द्विजैः ॥ इति ॥ २४ ॥

न तु पापीयसो जीवनम् ॥ २५ ॥

यदि त्वनृतवचनेन पापीयसः पापवत्तरस्य परपीडारतस्य जीवनं भवति तदा न तु न दोषः । अपि तु दोष एवेति ॥ २५ ॥

अथ साक्षिणः केन प्रष्टव्यास्तमाह—

राजा प्राड्विवाको ब्राह्मणो वा शास्त्रवित् ॥ २६ ॥

पृच्छतीति प्राट् । विविच्य वक्तीति विवाकः । न्यग्ङ्कादिषु दर्शना-

१ ग. मैत्र्यात्पू° ।

द्वैद्धिकुत्वे । राजा प्राड्विवाकः स्यात् । अन्यपरे तु तस्मिंस्तेन नियुक्तो ब्राह्मणो वा शास्त्रवित् । अत्र मनुः—

यदा स्वयं न कुर्यात्तु नृपतिः कार्यनिर्णयम् ।
तदा नियुञ्ज्याद्विद्वांसं ब्राह्मणं कार्यनिर्णये ॥ इति ॥ २६ ॥

प्राड्विवाकमध्याभवेत् ॥ २७ ॥

अधिरुपरिभाव ऐश्वर्ये वा । आङागमनार्थे । एनमुक्तलक्षणं प्राड्विवाकमुपर्यासीनमधस्थितश्चिरं वा गुणभूतः सन्नागच्छेत्कार्यार्थी । ननु प्राड्विवाकः स्वयं कार्यमुत्पाद्याऽऽह्वयेदिति । तथा च मनुः—

नोत्पादयेत्स्वयं कार्यं राजा नाप्यस्य पूरुषः । इति ॥ २७ ॥

संवत्सरं प्रतीक्षेताप्रतिभायाम् ॥ २८ ॥

यदाऽभियुक्तस्यार्थिनः साक्षिणो वाऽप्रतिभा भवति वक्तव्यं न प्रतिभाति स्वयं जाड्याद्युपेतत्वादर्थस्य वा चिरनिर्वृत्तत्वादिना दुर्निरूप्यत्वात्तदा संवत्सरं प्रतीक्षेत । एतावता कालेन निरूप्य ब्रूहीति कालं दद्यात् । अत्र कात्यायनः—

अस्वतन्त्रजडोन्मत्तबालदीक्षितरोगिणाम् ।
कालः संवत्सरादर्वाक्स्वयमेव यथेप्सितम् ॥

नारदः—गहनत्वाद्विवादानामसामर्थ्यात्स्मृतेरपि ।
ऋणादिषु हरेत्कालं कामं तत्त्वबुभुत्सया ॥ इति ।

प्रजापतिः—दिनमेकमथ द्वे वा त्रीणि वा पञ्च सप्त वा ।
कालस्तृणादौ गहन आत्रिपक्षादपि स्मृतः ॥ इति ॥२८॥

धेन्वनुडुत्स्त्रीप्रजननसंयुक्ते च शीघ्रम् ॥ २९ ॥

संयुक्तशब्दः प्रत्येकं संबध्यते । धेन्वादिसंयुक्ते विवादे शीघ्रं विवादयेत् । प्रजननं विवाहस्तद्धेतुत्वात् । स्त्री दास्यादिः । तथाऽऽह कात्यायनः-

धेनावनडुहि क्षेत्रे स्त्रीषु प्रजनने तथा ।
न्यासे चौरिककै दत्ते तथैव क्रयविक्रये ॥
कन्याया दूषणे स्तेये कलहे साहसे निधौ ।
उपधौ कूटसाक्ष्ये च सद्य एव विवादयेत् ॥ इति ॥२९॥

---

१ क. ग. प. दायितके ।

आत्ययिके च ॥ ३० ॥

व्यपैति गौरवं यत्र विनाशस्त्याग एव च ।
कालं तत्र न कुर्वीत कार्यमात्ययिकं हि तत् ॥ इति कात्यायनः ।
एवमादावात्ययिके कार्ये शीघ्रं विवादयेन्न कालं क्षपयेदिति ।

याज्ञवल्क्यः—साहसस्तेयपारुष्यगोभिशापात्यये स्त्रियाम् ।
विवादयेत्सद्य एव कालोऽन्यत्रेच्छया स्मृतः ॥ इति ॥३०॥

सर्वधर्मेभ्यो गरीयः प्राड्विवाके सत्यवचनं सत्यवचनम् ॥ ३१ ॥

श्रुतिस्मृतिचोदितेभ्यः सर्वधर्मेभ्यो गुरुतरमिदं यत्प्राड्विवाके पृच्छति सति सत्यं ब्रूयात् । द्विरुक्तिरध्यायसमाप्त्यर्था ॥ ३१ ॥

इति श्रीहरदत्तविरचितायां गौतमसूत्रवृत्तौ मिताक्षरायां त्रयोदशोऽध्याय ॥ १३ ॥

इति वर्णधर्मः ।

---

अथ चतुर्दशोऽध्यायः ।

---

अथाऽऽशौचनिर्णयः ।

शावमाशौचं दशरात्रमनृत्विग्दीक्षितब्रह्मचारिणां सपिण्डानाम् ॥ १ ॥

शवनिमित्तं शावम् । अशुचिभाव आशौचम् । दशरात्रं दशाहोरात्रं भवति सपिण्डानामृत्विगादिवर्जितानाम् । ऋत्विग्याजकः कर्मणि वर्तमानो दीक्षितः कृतदीक्षणीयः कर्मणि वर्तमानः । ब्रह्मचारी प्रसिद्धः । आवभृथं पूर्वयोः । आब्रह्मचर्यपर्यन्तं परस्य । किं पुनरिदमाशौचलक्षणम् । कर्मण्यनधिकारोऽभोज्यान्नताऽस्पृश्यता दानादिष्वनधिकारिता ।

अत्र मनुः—उभयत्र दशाहानि कुलस्यान्नं न भुज्यते ।
दानं प्रतिग्रहो यज्ञः स्वाध्यायश्च निवर्तते ॥
न स्पृशेयुरनासन्नाः प्रेतस्याऽऽसन्नबान्धवान् । इति च ।

अङ्गिराः—
सूतके तु यदा विप्रो ब्रह्मचारी विशेषतः ।
पिबेत्पानीयमज्ञानात्समश्नीयात्स्पृशेत वा ॥

पानीयपाने कुर्वीत पञ्चगव्यस्य भक्षणम् ।
त्रिरात्रं भोजने प्रोक्तं स्पृष्ट्वा स्नानं विधीयते ॥ इति ।

याज्ञवल्क्यः—उदक्याशौचिभिः स्नायात्संस्पृष्टस्तैरुपस्पृशेत् । इति ।

संवर्तः—अस्थिसंचयनादूर्ध्वमङ्गस्पर्शो विधीयते ॥ इति ।

व्याघ्रः—मरणादेव कर्तव्यं संयोगो यस्य नाग्निभिः ।
दहनादेव कर्तव्यं यस्य वैतानिको विधिः ॥ इति ।

शङ्खः—चतुर्थे दशरात्रं स्यात्पण्निशाः पुंसि पञ्चमे ।
षष्ठे चतुरहाच्छुद्धिः सप्तमे तु दिनत्रयम् ॥ इति ।

एतत्सर्वं निर्गुणविषयम् । गुणवद्विषये पराशरः—
एकाहाच्छुध्यते विप्रो योऽग्निवेदसमन्वितः ।
त्र्यहात्केवलवेदस्तु निर्गुणो दशभिर्दिनैः । इति ॥

बृहस्पतिः—त्रिरात्रेण विशुध्येत विप्रो वेदाग्निसंयुतः ।
पञ्चाहेनाग्निहीनस्तु दशाहाद्ब्राह्मणब्रुवः । इति ॥

अत्र ब्रह्मचारिग्रहणं गृहस्थव्यतिरिक्तानामाश्रमाणामुपलक्षणार्थम् । अत्र बृहस्पतिः—
नैष्ठिकानां व्रतस्थानां यतीनां ब्रह्मचारिणाम् ।
नाऽऽशौचं सूतके प्रोक्तं शावे वाऽपि तथैव च ॥ इति ।

दीक्षितग्रहणं चान्द्रायणादिव्रतप्रवृत्तानामुपलक्षणार्थम् । अत्र वसिष्ठः—
न राज्ञामथ दोषोऽस्ति व्रतिनां सत्रिणां तथा ।
ऐन्द्रस्थानमुपासीनां न चापूता हि ते सदा । इति ।

एकादशरात्रं क्षत्रियस्य ॥ २ ॥

दीक्षितब्रह्मचारिव्यतिरिक्तस्य ज्ञातिमरणे क्षत्रियस्यैकादशरात्रं भवति । द्वादशरात्रेणेति याज्ञवल्क्यः । पञ्चदशरात्रेणेति वसिष्ठः । दशरात्रेणेति पराशरः । षोडशाहमिति पैठीनसिः । एतेषां धृताग्निस्वाध्यायसमासव्यासापेक्षो विकल्पः ॥ २ ॥

द्वादशरात्रं वैश्यस्यार्धमासमेके ॥ ३ ॥

एकादशरात्रं पराशरः । विंशतिरात्रं वसिष्ठपैठीनसी । पूर्ववद्विकल्पः ॥ ३ ॥

---

१ ग. नो मन्त्रिणां । २ ग. °ना ब्रह्मभूता हि ते स्मृता° ।

मासं शूद्रस्य ॥ ४ ॥

सच्छूद्राणामर्धमासमित्युशना । ये त्रैवर्णिकान्परिचरन्तस्तेभ्यो वृत्तिं लिप्सन्ते ते सच्छूद्राः । सा हि तेषामुत्तमा वृत्तिरित्यवोचाम । दासविषये बृहस्पतिः—

दासान्तेवासिभृतकाः शिष्याश्चैकत्रवासिनः ।
स्वामितुल्येन शौचेन शुध्यन्ति मृतसूतके ॥ इति ।

अत्र क्रमविवाहे बौधायनः—

क्षत्रविट्शूद्रजातीया ये स्युर्विप्रस्य बान्धवाः ।
तेषामशौचे विप्रस्य दशाहाच्छुद्धिरिष्यते ॥
राजन्यवैश्यावप्येवं हीनजातिषु बन्धुषु ।
स्वमेवाशौचं कुर्यातां विशुध्यर्थमसंशयः । इति ॥

बृहस्पतिस्तु—शुध्येद्विप्रो दशाहेन जन्महान्योः स्वयोनिषु ।
सप्तपञ्चत्रिरात्रैस्तु क्षत्रविट्शूद्रयोनिषु ॥ इति ।

अत्र विष्णुर्विशेषमाह—ब्राह्मणस्य क्षत्रियविट्शूद्रेषु षड्रात्रत्रिरात्रैकरात्रैः । क्षत्रियस्य विट्शूद्रयोः षड्रात्रत्रिरात्राभ्याम् । वैश्यस्य शूद्रे षड्रात्राच्छुद्धिरिति प्रकृतम् । एषां वृत्ताद्यपेक्षया व्यवस्था । अधिकवर्णविषये मनुः—

सर्वे तूत्तमवर्णानामाशौचं कुर्युरादृताः ।
तद्वर्णविधिदृष्टेन स्वं त्वाशौचं स्वयोनिषु ॥ इति ।

उत्तमवर्णानां मरणप्रयुक्तमाशौचमुक्तं तद्वर्णविधिदृष्टेन प्रकारेण कुर्युः, स्वयोनिषु तु स्वाशौचं स्वजातिनिमित्तं कुर्युरिति । अत एव ज्ञायते मातृजातियुक्ता अनुलोमानां धर्मा इति ॥ ४ ॥

तच्चेदन्तः पुनरापतेच्छेषेण शुध्येरन् ॥ ५ ॥

अन्तरितस्य प्रतियोग्यपेक्षायां शावमाशौचं दशरात्रमिति प्रकृतं दशरात्राद्यभिसंबध्यते । शावस्य दशरात्रादेराशौचस्य मध्ये तस्मिन्वर्तमाने यद्यन्यच्छावाशौचं समानकालं न्यूनकालं वा पुनरापतेदागच्छेत्ततः शेषेण पूर्वं वर्तमानस्य दशरात्रादेर्यानि शिष्टान्यहानि तैरेव शुध्येरन् । न पुनरापतितस्य कालमतीक्षेति । अत्र जननेऽप्येवमित्यतिदेशात्पूर्णस्य जननाशौचस्य मध्ये समानकालं वा न्यूनकालं वा जननाशौचमागच्छे-

च्छेषेण शुध्येरन्। यत्र न्यूनकालस्याऽऽशौचस्य मध्ये पूर्णकालमापतेत्तेनैव गच्छति ।

अत्र मनुः—अन्तर्दशाहे स्यातां चेत्पुनर्मरणजन्मनी ।
तावत्स्यादशुचिर्विप्रो यावत्तत्स्यादनिर्दशम् ॥ इति ।
देवलः—आद्यानां यौगपद्ये तु ज्ञेया शुद्धिर्गरीयसी ॥ इति ।

अङ्गिराः—मातर्यग्रे प्रमीतायामशुद्धौ म्रियते पिता ।
पितुः शेषेण शुद्धिः स्यान्मातुः कुर्यात्तु पक्षिणीम् ॥ इति ।
सूतकाद्विगुणं शावं शावाद्विगुणमार्तवम् ।
आर्तवाद्विगुणा सूतिस्ततोऽधिशवदाहके ॥ इति ।

वृद्धात्रिः—अनेन दाहकस्य सूतिकायाश्च पूर्वाशौचविशेषेणोत्तरस्य शुद्धिरिति । अत्र षट्त्रिंशन्मतम्—

शावाशौच समुत्पन्ने सूतकं तु यदा भवेत् ।
शावेन शुध्यते सूतिर्न सूतिः शावशोधनी ॥ इति ॥ ५ ॥

रात्रिशेषे द्वाभ्याम् ॥ ६ ॥

पूर्वस्मिन्नाशौचे रात्रिशेषे सति यद्यन्यदापतेत्ततो द्वाभ्यामहोभ्यां शुध्येरन् ।

प्रभाते तिसृभिः ॥ ७ ॥

अथ दशाहादौ व्यतीतेऽपरेद्युः प्रभाते संगवे यद्यन्यदापतेत्ततस्तिसृभी रात्रिभिः शुध्येरन् । अत्र मनुः—

विगतं तु विदेशस्थं शृणुयाद्यो ह्यनिर्दशम् ।
यच्छेषं दशरात्रस्य तावदेवाशुचिर्भवेत् ॥ इति ॥ ७ ॥

गोब्राह्मणहतानामन्वक्षम् ॥ ८ ॥

गवार्थे ब्राह्मणार्थे वा हतानां ये सपिण्डास्तेषामाशौचमन्वक्षम् । अन्वक्षयते प्रत्यक्षयते शवस्तावत्संस्कारान्ते स्नात्वा शुध्येरन्निति । अत्र सद्यःशौचाधिकारे मनुः—

गोब्राह्मणस्य चैवार्थे यस्य चेच्छति पार्थिवः ॥ इति ।

गवा ब्राह्मणेन वा ये हतास्तज्ज्ञातीनामाशौचमन्वक्षमिति चार्थः । तथाऽऽहोशना—गोभिर्हतानां ब्राह्मणैर्हतानां च सद्यः शौचम् ॥ इति॥ ८॥

राजक्रोधाच्च ॥ ९ ॥

हतानामित्युपसमस्तमपेक्षते। राजक्रोधाद्ये हतास्तज्ज्ञातीनामप्यन्वक्षमाशौचम् ॥ ९ ॥

युद्धे ॥ १० ॥

चकारोऽनुवर्तते। युद्धे च हतानामन्वक्षमाशौचम्।
अत्र मनुः—डिम्बाहवहतानां च विद्युता पार्थिवेन च ॥ इति।

डिम्बो जनसंमर्दः। सद्यःशौचं प्रकृतम्। पाठान्तरं त्वस्मभ्यं न रोचते। यदि वा स एव पाठः। आयुद्धेति पदच्छेदः। आयुद्धमायोधनं सङ्ग्राम इति यावत्। सर्वथा नञ्समासो न रोचते ॥ १० ॥

प्रायानाशकशस्त्राग्निविषोदको-
द्बन्धनप्रपतनैश्चेच्छताम् ॥ ११ ॥

प्रायो महाप्रस्थानं तदनिच्छतोऽपि राजभयादिना संभवतीतीच्छतामित्युक्तम्। एवमुत्तरेष्वपि यथासंभवमिच्छानिच्छे द्रष्टव्ये। अश भोजनेऽशनमाशः। स एवाऽऽशकस्तद्विपर्ययोऽनाशकः। सत्येव भोज्यद्रव्ये क्रोधादिना भोजननिवृत्तिः। शस्त्राग्निविषोदकोद्बन्धनानि प्रसिद्धानि। प्रपतनं वृक्षात्पर्वताद्वा पातः। एतैः प्रायादिभिरात्मव्यापादने चकारादन्यैरप्येवंविधैरन्वक्षमाशौचमिति। अत्र ब्रह्मपुराणे—

क्रोधात्प्रायं विषं वह्निः शस्त्रमुद्बन्धनं जलम्।
गिरिवृक्षप्रपातं च ये कुर्वन्ति नराधमाः ॥
ब्रह्मदण्डहता ये च ये चैव ब्राह्मणैर्हताः।
महापातकिनो ये च पतितास्ते प्रकीर्तिताः ॥
पतितानां न दाहः स्यान्न च स्यादस्थिसंचयः।
न चाश्रुपातः पिण्डो वा कार्या श्राद्धक्रिया न च ॥ इति।

अत्राङ्गिराः—यदि कश्चित्प्रमादेन म्रियेताग्न्युदकादिभिः।
तस्याऽऽशौचं विधातव्यं कर्तव्या चोदकक्रिया ॥ इति ॥ ११ ॥
सपिण्डानामित्युक्तम्। के ते सपिण्डास्तानाह—

पिण्डनिवृत्तिः सप्तमे पञ्चमे वा ॥ १२ ॥

कूटस्थमारभ्य षष्ठपर्यन्तं सापिण्ड्यं सप्तमे तु निवृत्तिः। केवलं

सप्तमे सोदकत्वम् । सप्तमे तु निवर्तत इत्युक्तत्वात् । ततः परं सगोत्रत्वमेव । पञ्चमे वेति यदुक्तं तदौरसव्यतिरिक्तविषयम् । तत्रापि यथासंभवं द्रष्टव्यम् । एवं चार्थः–पितृपितामहप्रपितामहेभ्यस्तत्परमपि द्वाभ्यामित्यात्मना सह षष्ठपर्यन्तं पिण्डं दद्यात् । सप्तमे तु निवृत्तिः । पञ्चमे वेति पुत्रिकापुत्रविषयमेतत् । अत्र बौधायनः—कथं खलु पुत्रिकापुत्रस्य पिण्डदानम् । एतत्तेऽमुष्यै पितः । मम पितामह ये च त्वामनु, एतत्तेऽमुष्यै पितामह मम प्रपितामह ये च त्वामनु, एतत्तेऽमुष्यै प्रपितामह मम प्रपितामह ये च त्वामन्विति । अस्यैवं पिण्डं ददतः पञ्चमे प्राप्ते पिण्डनिवृत्तिः ।

मात्स्यपुराणे–लेपभाजश्चतुर्थाद्याः पित्राद्याः पिण्डभागिनः ।
सप्तमः पिण्डदस्तेषां सापिण्ड्यं साप्तपौरुषम् ॥ इति ॥ १२ ॥

जननेऽप्येवम् ॥ १३ ॥

शावमाशौचं दशरात्रमित्यादेः प्रभाते तिसृभिरित्यन्तस्यातिदेशः । यथा शावमाशौचं तथा जननेऽपीति द्रष्टव्यम् ॥ १३ ॥

मातापित्रोस्तन्मातुर्वा ॥ १४ ॥

तज्जननाशौचं मातापित्रोर्वा मातुरेव वा । मुख्यत्वाज्जनन्याः पितुः प्रागेव । ज्ञातीनां तत्र व्याघ्रः—

सूतकं तु सपिण्डानां पित्रोर्वा मातुरेव वा । इति ॥

मातापित्रोर्वा तन्निमित्तत्वादिति । मनुस्तु—

जननेऽप्येवमेव स्यान्निपुणां शुद्धिमिच्छताम् ।
सर्वेषां शावमाशौचं मातापित्रोस्तु सूतकम् । इति ॥

याज्ञवल्क्यः–त्रिरात्रं दशरात्रं वा शावमाशौचमिष्यते ।
ऊनद्विवर्षं उभयोः सूतकं मातुरेव हि ॥

बौधायनः–जनने तावन्मातापित्रोर्दशाहमाशौचं मातुरित्येके तत्परिहरणात् । पितुरित्येके शुक्रप्राधान्यात् । अयोनिजा ह्यपि पुत्राः श्रूयन्ते मातापित्रोरेव तु संसर्गसामान्यात् ।

अङ्गिराः—नाशौचं सूतके प्रोक्तं सपिण्डानां कथंचन ।
मातापित्रोरशौचं स्यात्सूतकं मातुरेव च ॥

---

१ क. ग. घ. चतुर्थः ।

सर्वेषां शावमाशौचं मातापित्रोस्तु सूतकम् ।
मातुर्वा सूतकं तस्मादुपस्पृश्य पिता शुचिः ॥

शङ्खलिखितौ—जननेप्येवं तत्र मातापितरावशुची मातेत्येके ॥ इति ।
पैठीनसिः—जनने सपिण्डाः शुचयो मातापित्रोस्तु सूतकम् ।
सूतकं मातुरेव स्यादुपस्पृश्य पिता शुचिः ॥ इति ।

अत्र वृत्ताद्यपेक्षो दशाहो नैषां विकल्पः । अन्ये भणन्ति अनधिकारलक्षणमाशौचं सर्वेषां भवति ।

उभयत्र दशाहानि कुलस्यान्नं न भुज्यते । इति मानवे दर्शनात् । अस्पर्शितालक्षणं तु मातापित्रोरेवेति । गृहान्तरे वसतस्तत्संसर्गमगच्छतः पितुश्च नेति ।

सूतके सूतकावर्जं संस्पर्शो न निषिध्यते । इति च पठन्ति ॥ १४ ॥

गर्भमाससमारात्रीः स्रंसने गर्भस्य ॥ १५ ॥

आ चतुर्थाद्भवेत्स्रावः पातः पञ्चमषष्ठयोः ।
अत ऊर्ध्वं तु नारीणां स्रवः प्रसव उच्यते ॥ इति ।

तिस्रो गर्भविपदस्ताः सर्वाः स्रंसनशब्देनोच्यन्ते । यावतिथे मासे गर्भस्य स्रंसनं तन्माससमा रात्रीराशौचं भवति । अत्यन्तसंयोगे द्वितीया । द्वितीयमासादियथामाससंख्यान्यहानीति ॥ १५ ॥

त्र्यहं वा ॥ १६ ॥

द्वितीयेऽपि मासे त्र्यहं वाऽपि भवति । चतुर्षु तूत्कर्षः ॥ १६ ॥

श्रुत्वा चोर्ध्वं दशम्याः पक्षिणीम् ॥ १७ ॥

दशमीग्रहणं दशाहादेः परिपूर्णाशौचस्योपलक्षणम् । अहर्द्वयमध्यगता रात्रिः पक्षिणी रात्रिद्वयमध्यगतमहर्वा । पूर्ववद्द्वितीयाप्राप्तिर्विपत्तिप्रकरणात् । मरणनिमित्तमूर्ध्वं दशाहादाशौचकालेऽतिक्रान्ते यदि ज्ञातिमरणं शृणुयात्ततः पक्षिणीमाशौचं भवति । दिवा श्रवणे तदहरन्तरा रात्रिष्वपरेद्युश्चाहः । रात्रौ श्रवणे सा रात्रिरपरेद्युरहोरात्र इति ।

---

१ क. घ. प. °र्णी न मा° । २ ग. सपिण्डाः शुचयः सर्वे मा° । ३ °शाहे तेषां विकल्पेन जन्मन्यन्ये । अ° । ४ ग. भग्नूरयता° ।

अत्र मनुः—अतिक्रान्ते दशाहे तु त्रिरात्रमशुचिर्भवेत्।

तथा जाबालिः—अतीते सूतके स्वे स्वे त्रिरात्रमशुचिर्भवेत्॥ इति।

अत्र सूतकशब्द आशौचपर्यायः। विष्णुस्तु—व्यतीते त्वासंवत्सरस्यान्त एकरात्रेणेति। एषा देशकालधर्मापेक्षया व्यवस्था।

वृद्धवसिष्ठः—

मासत्रये त्रिरात्रं तु षण्मासे पक्षिणी भवेत्।
अहस्तु नवमादर्वागूर्ध्वं स्नानेन शुध्यति॥

एतच्च सर्वं संवत्सरादर्वाक्।

संवत्सरे व्यतीते तु स्पृष्ट्वैवापो विशुध्यति॥ इति मनुः।

अत्र पैठीनसिः पितरौ चेन्मृतौ स्यातां दूरस्थोऽपि हि पुत्रकः।

श्रुत्वा तद्दिनमारभ्य दशाहं सूतकी भवेत्॥ इति।

स्मृत्यन्तरे—पितृपत्न्यां व्यतीतायां मातृवर्जं द्विजोत्तमः।

संवत्सरे व्यतिक्रान्ते त्रिरात्रमशुचिर्भवेत्॥
निर्दशं ज्ञातिमरणं श्रुत्वा पुत्रस्य जन्म च।
सवासा जलमाप्लुत्य शुद्धो भवति मानवः॥ इति।

एतत्तु समानोदकविषयम्॥ १७॥

## असपिण्डे योनिसंबन्धे सहाध्यायिनि च॥ १८॥

सपिण्डता यस्य निवृत्ता सोऽसपिण्डः समानोदकः। योनिसंबन्धो मातामहमातृष्वसृतत्पुत्रादयः स्त्रीणां प्रत्तानां पित्रादयः स्वस्रादयश्च। सहाध्यायी, एकस्मादुपाध्यायादधीतकृत्स्नवेदः। चकारात्स्मृत्यन्तरपठिताः पितृष्वसृतदपत्यादयोऽन्ये च। एतेषु मृतेषु परस्परं पक्षिणीमाशौचं भवति। पक्षिणीकाले त्वतीते स्नानमेव। मनुस्तु समानोदके त्रिरात्रमाह—

रजन्याऽह्नैव चैकेन त्रिरात्रैरेव च त्रिभिः।
शवस्पृशो विशुध्यन्ति त्र्यहात्तूदकदायिनः॥ इति।

अनयोः पूर्ववद्व्यवस्था। एतद्द्वयमप्यनुपनीतमरणविषयं ततोऽर्वाक्स्नानमेव। जननेऽपि समानोदकानां मनुना त्र्यहो दर्शितः—

जन्मन्येकोदकानां तु त्र्यहाच्छुद्धिरिहेष्यते॥ इति॥ १८॥

---

१ ग. °द्धाहेन विशुध्यति।

सब्रह्मचारिण्येकाहम् ॥ १९ ॥

समानो ब्रह्मचारी सब्रह्मचारी सुहृत्। तस्मिन्मृत एकमहोरात्रमाशौचं भवति ॥ १९ ॥

श्रोत्रिये चोपसंपन्ने ॥ २० ॥

श्रोत्रियोऽधीतवेदः । उपसंपन्न आश्रितो गृहवासादिना । तस्मिन्मृत एकाहमाशौचम् । चकारादेकाहमित्यनुवर्तते ।

अत्राङ्गिराः—

गृहे यस्य मृतः कश्चित्तत्सपिण्डः कथंचन ।
तस्याप्यशौचं विज्ञेयं त्रिरात्रं नात्र संशयः ॥ इति ।

मनुः—श्रोत्रिये तूपसंपन्ने त्रिरात्रमशुचिर्भवेत् ॥ इति ।

आङ्गिरसमपि वचनं श्रोत्रियविषयम् । अत्र विष्णुः—

स्त्रीणां विवाहः संस्कारः संस्कृतासु स्त्रीषु नाऽऽशौचं पितृपक्षे। तत्प्रसवमरणे पितृगृहे चेद्भवेतां, तदैकरात्रं त्रिरात्रं चेति । प्रसव एकरात्रं मरणे त्रिरात्रमिति व्यवस्थितो विकल्पः ॥ २० ॥

प्रेतोपस्पर्शने दशरात्रमाशौचमभिसंधाय चेत् ॥ २० ॥

नात्रोपस्पर्शशब्देन स्पर्शमात्रं विवक्षितम् । पतितचाण्डालेत्यादिना सचैलस्नानस्य तद्विषये वक्ष्यमाणत्वात् । किं तर्ह्युपस्पर्शनं प्रेतनिर्हरणम्। तस्मिन्दशरात्रमाशौचं भवति तच्चेन्निर्हरणमभिसंधाय वेतनादिप्रयोजनाभिसंधानेन भवति न धर्मार्थम् । सत्यप्याशौचाधिकारे पुनराशौचग्रहणं पूर्वस्मादाशौचादस्य वैधर्म्यज्ञापनार्थम् । तेन वक्ष्यमाणमधःशय्यासनादिकमस्मिन्विषये न भवति, अस्पृश्यताधिकारलक्षणमेव ॥२०॥

उक्तं वैश्यशूद्रयोः ॥ २१ ॥

अस्मिन्नभिसंधाय प्रेतोपस्पर्शनादिविषये वैश्यशूद्रयोरुक्तमाशौचं द्वादशरात्रमर्धमासमिति पूर्वोक्तम् ॥ २१ ॥

आर्तवीर्वा ॥ २२ ॥

ऋतुसमानसंख्या या रात्रीराशौचम् । षड्ऋतवः । पञ्च वा हेमन्तशिशिरयोः समासेन ॥ २२ ॥

पूर्वयोश्च ॥ २३ ॥

पूर्वयोर्ब्राह्मणक्षत्रिययोरपि वर्णयोरुक्तमाशौचमार्तवीर्वा रात्रीराशौचम्। उक्तस्यापि ब्राह्मणस्य पूर्वयोरिति पुनरुपादानमार्तवीर्वेति विकल्पसिध्यर्थम्। पूर्ववद्देशकालावस्थाद्यपेक्षो विकल्पः। अत्र भृतिरहिते निर्हारे मनुः—

> असपिण्डं द्विजं प्रेतं विप्रो निर्हृत्य बन्धुवत्।
> विशुध्यति त्रिरात्रेण मातुराप्तांश्च बान्धवान्॥
> यद्यन्नमत्ति तेषां यः स दशाहेन शुध्यति।
> अनदन्नन्नमह्नैव न चेत्तस्मिन्गृहे वसेत्॥ इति।

बन्धुवत्स्नेहादिना। ग्रामाद्बहिर्वासे वोढॄणां सज्योतिः। यथाऽऽह हारीतः—प्रेतस्पृशो ग्रामं न प्रविशेयुरानक्षत्रदर्शनाद्रात्रौ चेदादित्यदर्शनात्ततः शुद्धिरिति। ग्रामप्रवेशे तु, अनदन्नन्नमह्नैवेति मानवमेकाहः। अनाथविषये पराशरः—

> अनाथं ब्राह्मणं प्रेतं ये वहन्ति द्विजातयः।
> पदे पदे क्रतुफलमानुपूर्व्याल्लभन्ति ते॥
> प्रेतस्पर्शनसंस्कारैर्ब्राह्मणो नैव दुष्यति।
> वोढा चैवाग्निदाता च सद्यः स्नात्वा विशुध्यति॥ इति ॥ २३॥

त्र्यहं वा ॥ २४ ॥

प्रेतोपस्पर्शन इत्यारभ्य सर्वेषां वर्णानां त्र्यहं वा। अत्युत्कृष्टविषयमिदम्॥ २४॥

आचार्यतत्पुत्रस्त्रीयाज्यशिष्येषु चैवम् ॥ २५ ॥

उपनीय तु यः शिष्यमित्युक्तलक्षण आचार्यः। तत्पुत्र आचार्यपुत्रः। आचार्यपत्नी। याज्यो यजनीय ऋत्विगपेक्षया यजमानः। शिष्यः प्रसिद्धः। एतेषु मृतेषु चैवं त्र्यहमिति॥ २५॥

विजातीयनिर्हारविषयमाह—

अवरश्चेद्वर्णः पूर्ववर्णमुपस्पृशेत्पूर्वो वाऽवरं तत्र शवोक्तमाशौचम्॥ २६॥

अवरो जघन्यः क्षत्रियादिर्ब्राह्मणापेक्षया। पूर्वो ब्राह्मणादिः क्षत्रियाद्यपेक्षया। तयोरन्योन्यनिर्हारे शवजात्युक्तमाशौचं भवति। ब्राह्मणशव-

निर्हरणे क्षत्रियस्य दशरात्रम् । क्षत्रियस्य शवनिर्हरणे ब्राह्मणस्यैकादशरात्रमित्यादि । अत्रैव भृत्यर्थे व्याघ्रः—

अवरश्चेद्वरं वर्णमवरं वा वरो यदि ।
चरेच्छावं तदाऽऽशौचं दृष्टार्थे द्विगुणं भवेत् ॥ इति ॥२६॥

बुद्धिपूर्वशवस्पर्शमात्रे मासङ्गिकेन सह शुद्धिमाह—

पतितचण्डालसूतिकोदक्याशवस्पृष्टितत्स्पृष्टयुपस्पर्शने सचैलोदकोपस्पर्शनाच्छुध्येत् ॥ २७ ॥

पतितो ब्रह्महादिः । चण्डालसूतिकोदक्याशवाः प्रसिद्धाः । एतेषां स्पृष्टौ, तत्स्पृष्टौ स्प्रष्टॄणां च स्पृष्टावुपस्पर्शने तदुपस्पर्शने, स्प्रष्टॄणां स्पर्शने च सचैलोदकोपस्पर्शनात्स्नानाच्छुध्येत् । स्नानेन सचैलत्वेन शुद्धो । अतः क्रियाविशेषणपाठोऽयुक्तः । अबुद्धिपूर्वे मानवम्—

दिवाकीर्तिमुदक्यां च पतितं सूतिकां तथा ।
शवं तत्स्पृष्टिनं चैव स्पृष्ट्वा स्नानेन शुध्यति ॥ इति ॥ २७ ॥

शवानुगमने च ॥ २८ ॥

अनुगम्येच्छयाऽप्येतं ज्ञातिमज्ञातिमेव वा ।
स्नात्वा सचैलं स्पृष्ट्वाऽग्निं घृतं प्राश्य विशुध्यति ॥ इति ।

घृतप्राशनादूर्ध्वमपि स्नानं केचिदिच्छन्ति तत्र मूलं मृग्यम् । याज्ञवल्क्योऽपि स्पृष्ट्वाऽग्निं घृतभुक्शुचिरित्येतावदेवाऽऽह । इदं सजातीयविषयम् । ब्राह्मणस्य क्षत्रियानुगमने वसिष्ठोक्तम् । मानुष्यास्थि स्पृष्ट्वा त्रिरात्रमाशौचमस्थिन्ने त्वहोरात्रं शवानुगमने चैवमिति । एवमिति त्रिरात्राहोरात्रयोरतिदेशः । अत्र क्षत्रियानुगमन एकरात्रं वैश्यानुगमने त्रिरात्रमिति व्यवस्था । शूद्रानुगमने त्वङ्गिराः—

प्रेतीभूतं तु यः शूद्रं ब्राह्मणो ज्ञानदुर्बलः ।
अनुगच्छेन्नीयमानं त्रिरात्रं सोऽशुचिर्भवेत् ॥
त्रिरात्रे तु ततः पूर्णे नदीं गत्वा समुद्रगाम् ।
प्राणायामशतं कृत्वा घृतं प्राश्य विशुध्यति ॥ इति ।

क्षत्रियवैश्ययोर्वैश्यशूद्रानुगमने ब्राह्मणवत्कल्प्यम् । क्षत्रियस्य शूद्रानुगमन एकरात्रं प्राणायामशतं च । मनुः—

नारं स्पृष्ट्वाऽस्थि सस्नेहं सवासा जलमाविशेत् ।
आचम्यैव तु निःस्नेहं गां स्पृष्ट्वा वीक्ष्य वा रविम् ॥ इति ।

इदमबुद्धिपूर्वविषयम् । वृद्धमनुः—

दहनं वहनं चापि प्रेतस्यान्यस्य गर्भवान् ।
न कुर्यादुभयं तत्र कुर्यादेव पितुः सदा ॥
ज्येष्ठस्य वाऽनपत्यस्य मातुलस्य सुतस्य वा ॥ इति ।

पितुरिति मातुरप्युपलक्षणम् । आतुररोदने पारस्करः—

अस्थिसंचयनादर्वाग्रुदित्वा स्नानमाचरेत् ।
अन्तर्दशाहे विप्रस्य ऊर्ध्वमाचमनं स्मृतम् ॥ इति ।

विप्रस्य मृतस्यान्तर्दशाहे रुदतां सर्वेषां वर्णानां समानमिदम् । अत्र विष्णुः—सर्वस्यैव प्रेतस्य बान्धवैः सहाश्रुपातं कृत्वा स्नानेन । अकृतास्थिसंचये सचैलस्नानेन शुद्धिरिति प्रकरणाद्गम्यते । इदं क्षत्रियादिमरणे समानापकृष्टानां रोदने शूद्रवर्जम् । त्रिवर्णविषयात्तुररोदने ब्रह्मपुराणे पठन्ति—

अनस्थिसंचयो विप्रो रौति चेत्क्षत्रवैश्ययोः ।
तदा स्नातः सचैलस्तु द्वितीयेऽहनि शुध्यति ॥
कृते तु संचये विप्रः स्नानेनैव शुचिर्भवेत् ॥ इति ।

क्षत्रियस्य वैश्यातुरव्यञ्जनेऽप्येवमेवोहितव्यम् । शूद्रातुरव्यञ्जने पारस्करः—

अस्थिसंचयनादर्वाग्यदि विप्रोऽश्रु पातयेत् ।
मृते शूद्रे गृहं गत्वा त्रिरात्रेण विशुध्यति ॥
अस्थिसंचयनादूर्ध्वं मासो यावद्द्विजातयः ।
अहोरात्रेण शुध्यन्ति वाससां क्षालनेन च ॥

इत्यलं प्रसक्तानुप्रसक्तेन ॥ २८ ॥

शुनश्च ॥ २९ ॥

उपसमस्तमप्यपेक्षते । शुनश्चोपस्पर्शने सचैलोदकोपस्पर्शनाच्छुध्येत् । पृथक्करणं तत्स्पृष्टिन्यायनिवृत्त्यर्थम् ॥ २९ ॥

यदुपहन्यादित्येके ॥ ३० ॥

एके तु यदङ्गं श्वोपहन्यात्तस्यैव प्रक्षालनमिच्छन्ति । अत्राऽऽपस्त-

---

१ ग. °शुनश्च । २ ग. °तिरश्चा° ।

न्वीयो विशेषः—शुनोपहतः सचैलोऽवगाहेत । प्रक्षाल्य वा तं देशमग्निना संस्पृश्य पुनः प्रक्षाल्य पादौ चाऽऽचम्य प्रयतो भवति । इति । ऊर्ध्वाङ्गस्पर्शे स्नानमधः प्रक्षालनमिति व्यवस्थां जातूकर्ण्य आह—

ऊर्ध्वं नाभेः करौ मुक्त्वा स्पृशत्यङ्गं खरो यदि ।
स्नानं तत्र विधातव्यं शेषे प्रक्षाल्य शुध्यति ॥ इति ॥३०॥

उदकदानं सपिण्डैः कृतचूडस्य ॥ ३१ ॥

कृतचूडान्तस्य प्रेतस्य सपिण्डैरुदकदानं कर्तव्यं यावदाशौचम् । न ततोऽर्वागिति । अग्निसंस्कारोऽप्यस्यैव । यथाऽऽह लौगाक्षिः—

तूष्णीमेवोदकं दद्यात्तूष्णीमेवाग्निमेव च ।
सर्वेषां कृतचूडानामन्यत्रापीच्छया द्वयम् ॥ इति ।

एवं च कृतचूडस्य नियतोऽग्निसंस्कार उदकदानं च । अकृतचूडस्य त्वनियतं तदकरणे न प्रत्यवायः । चूडाकरणेन कालो लक्ष्यते तृतीयं वर्षम् । बहुषु स्मृतिषु तथा दर्शनात् । मनुरपि—

नात्रिवर्षस्य कर्तव्या बान्धवैरुदकक्रिया ।
जातदन्तस्य वा कुर्युर्नाम्नि चापि कृते सति ॥ इति ।

अग्न्युदकग्रहणमौर्ध्वदेहिकस्योपलक्षणम् । तत्र देवलो विशेषमाह—

द्वादशाद्वत्सरादर्वाक्पौगण्डमरणे सति ।
सपिण्डीकरणं न स्यादेकोद्दिष्टानि कारयेत् ॥ इति ॥३१॥

तत्स्त्रीणां च ॥ ३२ ॥

तदुदकदानं स्त्रीणां च कृतचूडानां कार्यम् ॥ ३२ ॥

एके प्रत्तानाम् ॥ ३३ ॥

एके मन्यन्ते प्रत्तानामेव स्त्रीणामुदकदानमप्रत्तानां तु नैवेति । प्रत्तानां च भर्तृपक्षैर्द्वयम् ॥ ३३ ॥

अथाऽऽशौचकाले ज्ञातयः कथं वर्तेरन्—

अधःशय्यासनिनो ब्रह्मचारिणः सर्वे ॥ ३४ ॥

भूमावेव शयीरन्नासीरंश्च न कटासनादिषु । मैथुनं च वर्जयेयुः । सर्वग्रहणं समानोदकार्थम् ॥ ३४ ॥

न मार्जयीरन् ॥ ३५ ॥

मार्जनं गात्रमलापकर्षणम् । तच्च न कुर्युः ॥ ३५ ॥

न मांसं भक्षयेयुरा प्रदानात् ॥ ३६ ॥

प्रदानं श्राद्धस्य, आ तदन्तं मांसं न भक्षयेयुः ॥ ३६ ॥

प्रथमतृतीयसप्तमनवमेषूदकक्रिया ॥ ३७ ॥

प्रथमादिष्वहःसु सपिण्डैः प्रेताय तिलमिश्रमुदकं देयमेवं गोत्रायैधशर्मणे प्रेतायैतत्तिलोदकं ददामीति । प्रथमे त्रीन् । तृतीये नव । सप्तमे त्रिंशत् । नवमे त्रयस्त्रिंशत् । इति पञ्चसप्ततिर्जलाञ्जलयो देयाः । आचारस्तु प्रथमेऽह्नि त्रयः । द्वितीयादिष्वेकोत्तरं दीयते ॥३७॥

वाससां च त्यागः ॥ ३८ ॥

उदकदानकाले परिहितानि वासांसि प्रथमतृतीयसप्तमनवमेषु त्याज्यानि । अन्यानि क्रमेण परिधेयानि ॥ ३८ ॥

अन्ते त्वन्त्यानाम् ॥ ३९ ॥

वर्णेष्वन्त्याः शूद्रास्तेषामन्त्ये नवमेऽहनि वाससां त्यागः ॥ ३९ ॥

दन्तजन्मादि मातापितृभ्याम् ॥ ४० ॥

दन्तजन्मप्रभृति पुत्रस्य मातापितरौ जलं दद्यातां तूष्णीं माता॥४०॥

बालदेशान्तरितप्रव्रजितासपिण्डानां सद्यःशौचम् ॥ ४१ ॥

बालोऽकृतचूडः । देशान्तरितो देशेन व्यवहितो देशान्तरस्थः । प्रव्रजिता नैष्ठिकवानप्रस्थपरिव्राजकाः । असपिण्डाः समानोदकाः । तेषां मरणे ज्ञातीनां सद्यः शौचं स्नानेन शुद्धिः । बालविषये याज्ञवल्क्यः—

ऊ*नद्विवार्षिकं प्रेतं निखनेन्नोदकं ततः ।
आ दन्तजन्मनः सद्य आ चूडान्नैशिकी स्मृता ॥
त्रिरात्रमाव्रतादेशाद्दशरात्रमतः परम् । इति ।

अङ्गिराः—यद्यप्यकृतचूडो वै जातदन्तस्तु संस्थितः ॥
दाहयित्वा तथाऽप्येनमाशौचं त्र्यहमाचरेत् ॥ इति ।

मनुस्तु—ऊनद्विवार्षिकं प्रेतं निदध्युर्बान्धवा बहिः ।
अलंकृत्य शुचौ भूमावस्थिसंचयनादृते ॥

---

* एतदर्धं मुद्रितयाज्ञवल्क्यस्मृतावेवं पठितम् । ऊनद्विवर्षं निखनेन्न कुर्यादुदकं ततः । इति । द्विवर्षे वर्तमाने दन्तजननात्परमित्यन्यो ग्रन्थोऽत्र नोपलभ्यते ।

नास्य कार्योऽग्निसंस्कारो नास्य कार्योदकक्रिया ।
अरण्ये काष्ठवत्त्यक्त्वा क्षपेत त्र्यहमेव तु ॥ इति ।

आश्वलायनः—अदन्तजाते परिजात एकाहम् । इति । आपस्तम्बस्तु—मातुश्च योनिसंबन्धेभ्यः पितुश्चा सप्तमात्पुरुषाद्यावता वा संबन्धो ज्ञायते तेषां प्रेतेषूदकोपस्पर्शनं गर्भान्परिहाप्यापरिसंवत्सरान्मातापितरावेव तेषु हर्तारश्चेति । एतेषां देशकुलधर्मापेक्षया व्यवस्था। अत्र कन्याविषय आपस्तम्बः—

अप्रौढायां तु कन्यायां सद्यः शौचं विधीयते । इति ।

अप्रौढाऽकृतचूडा ।

[याज्ञवल्क्यः]-अहस्त्वदत्तकन्यासु बालेषु च विशोधनम् । इति ।

इदं चौलादूर्ध्वम् । व्याघ्र आह—

बाले मृते सपिण्डानां सद्यः शौचं विधीयते ।
दशाहेनैव दंपत्योः सोदराणां तथैव च । इति ॥

इदं तु सूतकं दशाहान्तर्मरणविषयम् । तथा च—

अन्तर्दशाहे जातस्य शिशोर्निष्क्रमणं यदि ।
सूतकेनैव शुद्धिः स्यात्पित्रोः शातातपोऽब्रवीत् ॥ इति ॥ ४१ ॥

राज्ञां च कार्यविरोधात् ॥ ४२ ॥

राज्ञश्च सद्यःशौचं कार्यविरोधात् । कार्यं प्रजारक्षणादि । बहुवचननिर्देशाद्ये चान्येऽमात्यादयस्तत्कार्यवन्तस्तेषामपि । यस्य चेच्छति पार्थिव इति मनुः ॥ ४२ ॥

ब्राह्मणस्य च स्वाध्यायानिवृत्त्यर्थं
स्वाध्यायानिवृत्त्यर्थम् ॥ ४३ ॥

ब्राह्मणस्य च सद्यः शौचं स्वाध्यायनिवृत्तिर्मा भूदिति । बहुशिष्यस्याध्यापयत इदमुक्तम् । इत्याशौचम् ।

इति श्रीहरदत्तविरचितायां गौतमसूत्रविवृतौ मिताक्षरायां
चतुर्दशोऽध्यायः ॥ १४ ॥

---

## अथ पञ्चदशोऽध्यायः ।

---

### अथ श्राद्धम् ।

अथशब्दोऽधिकारार्थः । श्राद्धं नाम कर्माधिक्रियते । श्रद्धा यत्र विद्यते तच्छ्राद्धं तच्च पञ्चविधम्—

नित्यं नैमित्तिकं काम्यं वृद्धिश्राद्धमथापरम् ।
पार्वणं चेति विज्ञेयं श्राद्धं पञ्चविधं बुधैः ॥

तत्र नित्यं मनुराह—

दद्यादहरहः श्राद्धमन्नाद्येनोदकेन वा ।
पयोमूलफलैर्वाऽपि पितृभ्यः प्रीतिमावहन् ॥
एकमप्याशयेद्विप्रं पित्रर्थे पाञ्चयाज्ञिके ।
न चैवात्राऽऽशयेत्किंचिद्वैश्वदेवं प्रतिद्विजम् ॥ इति ।

ग्रहणादिषु यत्क्रियते तन्नैमित्तिकम् । तस्य प्रयोगः पार्वणवत् । एकोद्दिष्टं सपिण्डीकरणमष्टकेत्येतान्यपि नैमित्तिकान्येव । तत्रैकोद्दिष्टं षोडशविधम् ।

मृतेऽहनि तु कर्तव्यं प्रतिमासं तु वत्सरम् ।
प्रतिसंवत्सरं चैवमाद्यमेकादशेऽहनि ॥ इति याज्ञवल्क्यः ।

एकोद्दिष्टं तु कर्तव्यमित्याद्यपादे लौगाक्षिः ।

व्याघ्रः—एकादशेऽह्नि कर्तव्यं त्रिपक्षे च तथैव च ।
षण्मासे च ततः कुर्यादेकोद्दिष्टं प्रयत्नतः ॥ इति ।
ततः संवत्सरे पूर्णे त्रिपक्षे वा तथैव च ।
सपिण्डीकरणं कुर्यादर्वाग्वा वृद्धिसंभवे ॥ इति ।

जातूकर्ण्यः—

चतुर्थे पञ्चमे चैव नवमैकादशे तथा ॥
यदन्नं दीयते जन्तोस्तन्नवश्राद्धमुच्यते ।

इति च पठन्ति । वर्णानुपूर्व्यत्यवस्थितानि चत्वार्येतानि । तदेव श्राद्धमेकमेकादशेऽहनीति प्रधानम् । एकादशग्रहणमाशौचान्तोपलक्षणम् । तत्र च मासे तदेव मासिकम् । सपिण्डीकरणे प्रेतस्यैकोद्दिष्टं

---

१ ङ. ग. घ °त्वाद्यो° । २ ग. घ. ङ. °र् । वर्ष° ।

पित्रादिभ्यः पार्वणम् । तत्रापि मासे तदेव मासिकम् । मध्ये दश मासिकानि त्रिपक्षषाण्मासिकयोः प्रतिसंवत्सरं चापरं मृताहे सांवत्सरिकमिति षोडशैकोद्दिष्टानि ।

पठन्ति च—

नवत्रिपक्षषाण्मास्यसांवत्सरिकमासिकम् ।
श्राद्धैः षोडशभिः प्रेतः पिशाचत्वं विमुञ्चति ॥
यस्यैतानि न कुर्वन्ति एकोद्दिष्टानि षोडश ।
पिशाचत्वं स्थिरं तस्य कृतैः श्राद्धशतैरपि ॥ इति ।

हेमन्तशिशिरयोश्चतुर्णामपरपक्षाणामष्टमीष्वष्टकैकस्यां वा प्रथमेऽहनि क्रियमाणे रूपपत्यं जायत इत्यादि कामसंयोगेन क्रियमाणं काम्यं तदपि पार्वणवदेव । विवाहादिवृद्धिकर्मसु पूर्वेद्युः कर्तव्यं वृद्धिश्राद्धम् । तस्मात्पितृभ्यः पूर्वेद्युः क्रियत इति ब्राह्मणमूलम् । तत्र युग्मा ब्राह्मणा यवास्तिलार्थाः । अन्यत्पार्वणवत् पार्वणं तु वक्ष्यते ॥ १ ॥

अमावास्यायां पितृभ्यो दद्यात् ॥ २ ॥

सूर्याचन्द्रमसौ यस्यां सह वसतः साऽमावास्या । पितृभ्य इति बहुवचनात्पितृपितामहप्रपितामहेभ्यो दद्याद्दानप्रकारो गृह्येपृक्तः 'होमो ब्राह्मणभोजनं पिण्डनिर्वपणम्' इति इह तु ब्राह्मणभोजने विशेषः ॥२॥

पञ्चमीप्रभृतिषु वाऽपरपक्षस्य ॥ ३ ॥

अपरपक्षः कृष्णपक्षस्तस्य पञ्चमीप्रभृति वा दद्यात् ॥ ३ ॥

यथाश्रद्धं सर्वस्मिन्वा ॥ ४ ॥

सर्वस्मिन्वाऽपरपक्षे दद्याद्यथाश्रद्धं यथा श्रद्धा भवतीति ॥ ४ ॥

द्रव्यदेशब्राह्मणसंनिधाने वा कालनियमः ॥ ५ ॥

तिलमाषैरारभ्य वक्ष्यमाणं तत्तत्प्रशस्तं द्रव्यम् । देशो गया पुष्करादिः ।

पुष्करेष्वक्षयं श्राद्धं कुरुक्षेत्रे तथैव च ।
दद्यान्महोदधौ चैव हिरगोष्ठे गिरौ तथा ॥ इति व्यासः ।

यद्ददाति गयास्थश्च सर्वमानन्त्यमश्नुते । इति याज्ञवल्क्यः ।

ब्राह्मणाः पङ्क्तिपावना वक्ष्यमाणाः षडङ्गविदादयः । एतेषां द्रव्यादीनां संनिधाने समवाये कालनियमः संनिधिरेव काल इति । वाशब्दो विकल्पार्थः ॥ ५ ॥

शक्तितः प्रकर्षेद्गुणसंस्कारविधिरन्नस्य ॥ ६ ॥

अन्नस्य भक्ष्यभोज्यादेर्गुणविधयः पायसत्वविशदसिद्धत्वादयः । संस्कारविधयो भर्जनमरीचीजीरकलवणादिभिः सुरभीकरणादयः । एतान्यथाशक्ति प्रकर्षेत्प्रकृष्टान्कुर्यात् ॥ ६ ॥

नवावरान्भोजयेदयुजः ॥ ७ ॥

नवसंख्याऽवरा येषां ते नवावरास्तावतो ब्राह्मणान्भोजयेत् । अयुजोऽयुग्मसंख्यान् । नवपक्षे पितुस्त्रीन्पितामहस्य त्रीन्प्रपितामहस्य त्रीन् । अवरग्रहणादधिका अपि भवन्ति पञ्चदशैकविंशतिरित्यादयः । अयुज इति वचनाद्वादशादिव्यावृत्तिः ॥ ७ ॥

यथोत्साहं वा ॥ ८ ॥

यथासामर्थ्यं नवभ्योऽर्वागपि भोजयेत् । अयुज इत्यनुवृत्तेस्त्रीनेव । तथाचाऽऽपस्तम्बः—अयुग्मांश्चवरानिति । शास्त्रान्तरेषु विश्वेभ्यो देवेभ्यो ब्राह्मणभोजनमाम्नातं मातामहानां च यथाऽऽह याज्ञवल्क्यः—

द्वौ दैवे प्राक्त्रयः पित्र्य उदगेकैकमेव वा ।
मातामहानामप्येवं तन्त्रं वा वैश्वदेविकम् ॥ इति ।

दैवे द्वौ ब्राह्मणौ प्राङ्मुखावुपवेश्यौ पित्र्यर्थे त्रय उदङ्मुखाः । एकैकस्यैकैकमेव वेति । देवानामेकः पित्रादीनां त्रयाणामेक इति । मातामहानामप्येवं पितृश्राद्धवत् । द्वौ दैवे मातामहाद्यर्थे त्रयः । वैश्वदेविकं तन्त्रं वा भवति पितुः श्राद्धस्य मातामहश्राद्धस्य च ॥ ८ ॥

कीदृशान्भोजयेत्तत्राऽऽह—

श्रोत्रियान्वाग्रूपवयःशीलसंपन्नान् ॥ ९ ॥

श्रोत्रियानधीतवेदान् । वाक्संपत्तिः सुशिक्षितं वाक्यं संस्कृतमापणादि । रूपसंपन्नान्सौम्यवेषानन्यूनानधिकाङ्गाञ्श्यावदन्तकुनखिश्वित्रिपाण्डुरोगिणवर्जितान्वयः

संपन्नाननतिबालान् । शीलमन्तःकरणशुद्धिस्तत्संपन्नान् । एवंगुणान्भोजयेत् ॥ ९ ॥

युवभ्यो दानं प्रथमम् ॥ १० ॥

एवंगुणेभ्यो युवभ्यः श्राद्धदानं मुख्यः कल्पः ॥ १० ॥

एके पितृवत् ॥ ११ ॥

एके मन्यन्ते पितृवत्पित्राद्यनुरूपं दानमिति यथा पित्रे तरुणाः पितामहाय वृद्धाः प्रपितामहाय वृद्धतरा इति ॥ ११ ॥

न च तेन मित्रकर्म कुर्यात् ॥ १२ ॥

न च तेन श्राद्धेन मित्रकर्म कुर्यात् । येन मैत्री कार्या तस्मिन्नर्थापेक्षितं न भोजयेत् । मित्रलोभकारार्थं न भोजयेदित्यर्थः । आपस्तम्बस्तु--अनर्थापेक्षो भोजयेदिति विशेषेणाऽऽह ॥ १२ ॥

पुत्राभावे सपिण्डा मातृसपिण्डाः शिष्याश्च दद्युः ॥ १३ ॥

पुत्रा दद्युरिति प्रथमः कल्पः । तदभावे सपिण्डा भ्रातृतत्पुत्रादयः । तदभावे मातृसपिण्डा मातृभ्रातृतत्पुत्रादयः । तदभावे शिष्यः ॥ १३ ॥

तदभाव ऋत्विगाचार्यौ ॥ १४ ॥

शिष्याभाव ऋत्विक् । तदभाव आचार्यश्च दद्युरिति ॥ १४ ॥

श्रोत्रियाधीनत्वे सत्यपि वर्ज्यानाह--

न भोजयेत्स्तेनक्लीबपतितनास्तिकतद्वृत्तिवीरहाग्रेदिधिषुदिधिषुपतिस्त्रीग्रामयाजकाजापालोत्सृष्टाग्निमद्यपकुचरकूटसाक्षिप्रातिहारिकान् ॥ १५ ॥

स्तेनो हिरण्यस्तेनः । क्लीबो मोघवीर्यो न तृतीयाप्रकृतिः । अश्रोत्रियत्वात्पतितो ब्रह्महादिः । नास्तिकः प्रेत्यभावापवादी । तद्वृत्तिर्नास्तिकवृत्तिः । प्रेत्यभावमङ्गीकृत्यापि यस्तदनुकूलं न चेष्टते संसर्गवशात् । वीरहा यो बुद्धिपूर्वमग्नीनुद्वासयीत सत्यामप्युपपत्तौ । श्रूयते हि वीरहा एष देवानां योऽग्निमुद्वासयत इति । अग्रेदिधिषू इति दीर्घान्तं केचित्पठन्ति । पतिशब्दः प्रत्येकं संबध्यते । अग्रेदिधिषुपतिर्दिधिषुपतिरिति ।

ज्येष्ठायां यद्यनूढायां कन्यायामूह्यतेऽनुजा ।
सा त्वग्रेदिधिषूर्ज्ञेया पूर्वा तु दिधिषूः स्मृता ॥ इति ।

तयोः पती। नैघण्टुकास्तु—

पुनर्भूर्दिधिषूरूढा द्विस्तस्या दिधिषुः पतिः ।
स तु द्विजोऽग्रेदिधिषुः सैव यस्य कुटुम्बिनी ॥ इति ।

स्त्रीग्रामयाजकः। स्त्रीणां व्रतानामुपदेष्टाऽनुष्ठापयिता स स्त्रीयाजकः। ग्रामयाजको बहुयाजकः। अजापालोऽजारक्षणजीवकः। उत्सृष्टाग्निराशौचाद्यनुपपत्त्या प्रमादाद्वा विच्छिन्नाग्निः। मद्यपः सुराव्यतिरिक्तमदकरद्रव्यस्य पाता। सुरापस्तु पतितत्वेनोक्तः। कुचरः कुत्सिताचारः। साक्ष्येऽनृतवक्ता कूटसाक्षी। प्रातिहारिको द्वारपालवृत्तिः। एतान्न भोजयेत्। येषां पतितादीनां दर्शनस्पर्शनादिकं प्रतिषिद्धं तेषां प्रतिषेधः कृतप्रायश्चित्तानामपि वर्जनार्थः॥ १५॥

उपपतिः ॥ १६ ॥

उपपतिर्जारः॥ १६॥

यस्य च सः ॥ १७ ॥

स उपपतिर्यद्विषये स च साक्षात्पतिस्तावुभावपि न भोजनीयौ॥१७॥

कुण्डाशिसोमविक्रय्यगारदाहिगरदावकीर्णिगणप्रेष्यागम्यागामिहिंस्रपरिवित्तिपरिवेत्तृपर्याहितपर्याधातृत्यक्तात्मदुर्वालकुनखिश्यावदन्तश्वित्रिपौनर्भवकितवाजपराजप्रेष्यप्रातिरूपिकशूद्रापतिनिराकृतिकिलासिकुसीदिवणिक्शिल्पोपजीविज्यावादित्रतालनृत्यगीतशीलान् ॥ १८ ॥

*परदारेषु जायेते द्वौ सुतौ कुण्डगोलकौ ।*
पत्यौ जीवति कुण्डः स्यान्मृते भर्तरि गोलकः॥ इति मनुः।

तस्य कुण्डस्यान्नमश्नातीति कुण्डाशी कुण्डग्रहणं गोलकस्याप्युपलक्षणम्। कुण्डादीनां तु प्रतिषेधो दण्डापूपिकया सिद्धः। अपर आह—पाकभाजनं कुण्डं तत्रैव क्वचिद्देशेऽश्नन्ति तत्र त्यजन्ति ते कुण्डाशिनः। सोमविक्रयी यज्ञे सोमस्य विक्रेता। अगारदाही वेश्मदाहकः। गरदो विषस्य दाता। अवकीर्णी व्रतभ्रष्टः। अथ वा यो ब्रह्मचारी स्त्रियमुपेयात्सः। गणप्रेष्यो गणानां प्रेषणकृत्। अगम्यागामी समानप्रवरस्त्रीगामी। हिंस्रः प्राणिवधरुचिः।

परिवेत्ताऽनुजोऽनूढे ज्येष्ठे दारपरिग्रहात् ।
परिवित्तिस्तु तज्ज्यायान् ॥ इति निघण्टुः ।

ज्येष्ठेऽकृताधाने कृताधानः कनिष्ठः पर्याधाता ज्येष्ठः पर्याहितः । वसिष्ठः—

उन्मत्तः किल्बिषी कुष्ठी पतितः क्लीब एव च ।
यक्ष्मामयावी च तथा नं त्याज्यः स्यात्परीक्षितुम् ॥ इति ।

शातातपः—क्लीबे देशविनष्टे च पतिते प्रव्रजिते तथा ।
योगशास्त्राभियुक्ते च न दोषः परिवेदने ॥ इति च ।

त्यक्तात्मा साहसिक उद्बन्धनादौ प्रवृत्तः । दुर्वालः खलतिः । वेष्टितशेफेत्यन्ये । कुनखी विना कारणेन विवर्णनखो विनष्टनख इत्यन्ये । श्यावदन्तः स्वभावतः कृष्णदन्तः । श्वित्री श्वेतकुष्ठी । पौनर्भवो द्विरूढा पुनर्भूस्तस्याः पुत्रः । कितवो द्यूतकरः कितं वार्तीति पणपूर्वजीवी वा । अजपो विहितस्य सावित्र्यादिजपस्याकर्ता । राजप्रेष्यो दूतादिः । प्रातिरूपिकः कूटतुलामानादिव्यतिहारी । शूद्रापतिः सैव भार्या यस्य । निराकृतिरस्वाध्यायः । श्रोत्रियानित्युक्तेऽपि पुनः प्रतिषेधाद्रूपवयःशीलासंपत्तावेव्यसत्यां गतौ ग्रहणं भवति । किलासस्त्वग्दोषो वैलंलीति द्रविडानां प्रसिद्धः । भूम्नि मत्वर्थीयः । कुसीदी वार्धुषिकः वृद्ध्या जीवी । वैश्यवृत्त्या वाणिज्योपजीवी वणिक्, वणिगुपजीवी । चित्रकर्मादिभिरुपजीवी शिल्पोपजीवी शीलशब्दो ज्यादिभिः प्रत्येकं संबध्यते । ज्याशीलो धनुर्वेदोपजीवी । वादित्रशीलो भेर्यादिताडनवृत्तिः । तालशीलस्तालवृत्तिः । नृत्यगीतशीलौ च तथैतान्न भोजयेत् ॥ १८ ॥

पित्रा वाऽकामेन विभक्तान् ॥ १९ ॥

ये चानिच्छता पित्रा विभक्तास्तान्न भोजयेत् ॥ १९ ॥

शिष्यांश्चैके सगोत्रांश्च ॥ २० ॥

एक आचार्याः शिष्यान्सगोत्रांश्चाभोजनीयानाहुः । एकग्रहणाद्भोजनीया इति स्वमतम् । तत्र गुणवदसंभवे तेषां गुणवत्त्वे सतीति । तथा चाऽऽपस्तम्बः—समुदेतः सोदर्योऽपि भोजयितव्य इति ॥ २० ॥

---

१ ग. न त्याज्यः स्यादपरीक्षितुम् । २ ग. 'वपि स° । ३ ग. वर्त लौ° ।

भोजयेदूर्ध्वं त्रिभ्यः ॥ २१ ॥

यथोत्साहं वेत्यनेन सर्वार्थमेकस्यापि प्रसक्तं तन्निवृत्त्यर्थमिदम् । त्र्यवरान्भोजयेत् । त्र्यवरानित्यापस्तम्बीये दर्शनाच्च ॥ २१ ॥

गुणवन्तम् ॥ २२ ॥

एकवचनप्रयोगेण गुणवांश्चेदेकमपि भोजयेत् ।

वसिष्ठोऽपि—

अपि वा भोजयेदेकं ब्राह्मणं वेदपारगम् ।
शीलवृत्तगुणोपेतमवलक्षणवर्जितम् ॥ इति ।

मनुरपि—एकैकमपि विद्वांसं दैवे पित्र्ये च भोजयेत् ।
पुष्कलं फलमाप्नोति नामन्त्रज्ञान्बहूनपि ॥ इति ॥ २२ ॥

सद्यः श्राद्धी शूद्रातल्पगस्तत्पुरीषे
मासं नयति पितॄन् ॥ २३ ॥

येन श्राद्धं भुक्तं स तस्मिन्नहोरात्रे श्राद्धीत्युच्यते । श्राद्धमनेन भुक्तमिति अत इनिठनौ । समानकालः स यदि तदहः शूद्रातल्पं गच्छेत् । तल्पग्रहणं भार्यार्थम् । ऊढामपि शूद्रां यदि गच्छेत्सद्य एव तस्याः पुरीषे पितॄन्मासं नयति ॥ २३ ॥

इतरासु भार्यासु कल्प्यमत आह—

तस्मात्तदहर्ब्रह्मचारी च स्यात् ॥ २४ ॥

मानवे दातुरपि नियम उक्तः—

निमन्त्रितो द्विजः पित्र्ये नियतात्मा भवेत्सदा ।
न च च्छन्दांस्यधीयीत यस्य श्राद्धं च तद्भवेत् ॥ इति ॥ २४ ॥

श्वचाण्डालपतितावेक्षणे दुष्टम् ॥ २५ ॥

श्वादिभिरवेक्षितमन्नं दुष्टमभोज्यं भवति श्राद्धं चावेक्षितं दुष्टमकृतं भवति ॥ २५ ॥

यस्मादेवम्—

तस्मात्परिश्रिते दद्यात् ॥ २६ ॥

परिश्रयणं तिरस्करिण्यादिना व्यवधानम् ॥ २६ ॥

---

१ ग. °त्यथुतमु° ।

तदशक्तौ—

तिलैर्वा विकिरेत् ॥ २७ ॥

अत्र भृगुः—पानीयमपि यद्दत्तं तिलैर्मिश्रं द्विजस्य तु।
पितृभ्यः कामधुक्तत्स्यात्पितृगुह्यमिदं ततः ॥ इति ॥ २७ ॥

पङ्क्तिपावनो वा शमयेत् ॥ २८ ॥

पङ्क्तिर्येन पाव्यते स पङ्क्तिपावनः। श्वाद्यवेक्षणे यो दोषस्तं शमयेत्॥२८॥

स कः पुनरसौ तमाह—

पङ्क्तिपावनः षडङ्गविज्ज्येष्ठसामिकस्त्रिणाचिकेत-
स्त्रिमधुस्त्रिसुपर्णः पञ्चाग्निः स्नातको मन्त्रब्राह्मण-
विद्धर्मज्ञो ब्रह्मदेयानुसंतान इति ॥ २९ ॥

शिक्षा कल्पो व्याकरणं ज्योतिषं निरुक्तं छन्दोविचितिरिति षडङ्गानि तेषां पाठतोऽर्थतश्च ज्ञाता षडङ्गवित्। ज्येष्ठसामिकः, तलवकाराणामुद्वत्यं चित्रमित्येतयोर्गायको ज्येष्ठसामगश्छन्दोगानां तु तदिदासीती तीयं तेद्योगयेति(?) ज्येष्ठं साम तद्वेदिता ज्येष्ठसामिकः। त्रिणाचिकेतो. नाचिकेतो बहुषु शाखासु विधीयते तैत्तिरीये कठवल्लीषु शतपथे च—तं यो वेद ब्राह्मणेन सह स त्रिणाचिकेतः। "मधु वाता ऋतायते" इत्येतत्र्यृच त्रिमधु। तत्र प्रत्यृचं त्रयो मधुशब्दाः। आश्वलायनोऽप्याह—'तृप्ताञ्ज्ञात्वा मधुमतीः श्रावयेत्' इति। इह तु तदध्यायी पुरुषस्त्रिमधुः। त्रिसुपर्णं ऋग्वेद एकः सुपर्णः स समुद्रमाविवेशेत्यादिकस्त्र्यृचः। तैत्तिरीयके ब्रह्ममेतु मामित्यादयस्त्रयोऽनुवाकाः। तत्र हि "य इमं त्रिसुपर्णमयाचितं ब्राह्मणाय दद्यात्" इति श्रूयते। पूर्ववत्पुरुषे वृत्तिः। पञ्चाग्निः सभ्यावसथ्याभ्यां सह पञ्चानामनुवाकानामध्येता। स्नातको विद्याव्रताभ्याम्। मन्त्रब्राह्मणविन्मन्त्रब्राह्मणयोरर्थज्ञः। धर्मज्ञो धर्मशास्त्राणामर्थज्ञः। ब्रह्मदेयानुसंतानो ब्राह्मविवाहोढासंतानः। इतिकरणाद्यश्चान्य एवंयुक्तः। ये मातृतः पितृतश्चेति दशवर्षं समनुष्ठिता विद्यातपोभ्यां पुण्यैश्च कर्मभिर्येषामु-

---

१ ग °धीत ता°। २ ग °तद्वेद°। ३ ग °नुतिष्ठता।

मयतो नाब्राह्मणं निनयेयुः । पितृत इत्येक इत्येवमादिलक्षणः स एव सर्वः पङ्क्तिपावनः ॥ २९ ॥

हविःषु चैवम् ॥ ३० ॥

हविःशब्देन दैवानि मानुषाणि च कर्माण्युच्यन्ते । ज्येष्ठा अप्येवमुक्तलक्षणा एव ब्राह्मणा भोजयितव्याः । न तु प्रतिषिद्धाः स्तेनादय इति ॥ ३० ॥

दुर्वालादीञ्श्राद्ध एवैके ॥ ३१ ॥

एके तु दुर्वालानारभ्य येऽनुक्रान्तास्ताञ्छ्राद्ध एव न भोजयेत् । न तु दैवमानुषयोरिति मन्यन्ते । स्वमतं तु ते तत्राप्यभोज्या एवेति ॥३१॥

अकृतान्नश्राद्धे चैवं चैवम् ॥ ३२ ॥

द्विरुक्तिः पूर्ववत् ॥ ३२ ॥

इति श्रीहरदत्तकृतायां गौतमीयधर्मशास्त्रे मिताक्षरायां पञ्चदशोऽध्यायः ॥ १५ ॥

---

अथ षोडशोऽध्यायः ।

---

श्रावणादि वार्षिकं प्रोष्ठपदीं वोपाकृत्याधीयीत च्छन्दांसि ॥ १ ॥

श्रवणेन युक्ता पौर्णमासी श्रवणा श्रवणनक्षत्रेण युक्तः काल इत्युक्तस्याणो लुबविशेष इति लुप् । युक्तवद्भावस्तु न भवति विभाषा फाल्गुनीश्रवणेति निर्देशात् । श्रावणीत्यपि भवति पौर्णमास्यां हि लुबविशेष इति न भवति। फाल्गुनी कार्तिकी चैत्रीति निर्देशात् । श्रवणशब्दे तूभयं भवतीति ।

मेषादिस्थे सवितरि यो यो दर्शः प्रवर्तते ।
चान्द्रमासास्तत्तदन्ताश्चैत्राद्या द्वादश स्मृताः ॥
तेषु या या पौर्णमासी सा सा चैत्र्यादिका स्मृता ।
कादाचित्केन योगेन नक्षत्रस्येति निर्णयः ॥

तदेवं सिंहस्थे सवितरि याऽमावास्या तदन्ते चान्द्रमसे मासे पौर्णमासी सा श्रवणा श्रावणीति चोच्यते । श्रवणयोगस्तु भवतु मा वा

---

१ क. ख. ग. घ. ॰श्रव ।

भूत्। एतेन प्रोष्ठपदी व्याख्याता। प्रोष्ठपदीमित्यधिकरणे द्वितीया। अत्यन्तसंयोगे वा कथंचित्। श्रवणायां प्रौष्ठपद्यां वा पौर्णमास्यामुपाकृत्योपाकर्माख्यं कर्म यथागृह्यं कृत्वा तदा छन्दांसि मन्त्रब्राह्मणलक्षणान्यधीयीत। आचार्योऽध्यापयेच्छिष्या अधीयीरन्। तदिदमध्ययनं वार्षिकमित्याचक्षते। वर्षर्तौ प्रतिसंवत्सरं वा भवतीति। अध्यापनमप्यात्मापेक्षयाऽध्ययनं पारायणादिवत्। शिष्यापेक्षया त्वध्यापनम्॥ १॥

कियन्तं कालमधीयीत—

अर्धपञ्चमान्मासान्पञ्च दक्षिणायनं वा॥ २॥

अर्धं पञ्चमं येषां तानर्धपञ्चमानर्धाधिकांश्चतुरो मासान्पूर्णान्वा पञ्च मासान्यावद्वा दक्षिणायनम्। एवमधीयानः॥ २॥

ब्रह्मचार्युत्सृष्टलोमा न मांसं भुञ्जीत॥ ३॥

ब्रह्मचारी भवेत्स्त्रीसङ्गं वर्जयेत्। उत्सृष्टलोमा न रूढश्मश्रुरकस्मादित्यत्रोक्तम्। लोमकर्म तदुत्सृष्टं येन स उत्सृष्टलोमा। एवंभूतो भवेन्न मांसं भक्षयेत्। अयमध्यापयितुरुपदेशो ब्रह्मचारिणः प्राप्त्यभावात्। आपस्तम्बोऽप्याह—प्रवचनयुक्तो वर्षाशरदं मैथुनं वर्जयेदिति। यश्च केवलानि व्रतानि पारं नीत्वा जायामुपयम्य पश्चादधीते सोऽप्येवं तस्यार्थं ग्रहणार्थमप्येवम्। आश्वलायनोऽप्याह—समावृत्तो ब्रह्मचारिकल्पेनेति। तत्र ऋतुगमनं पाक्षिकमभ्युपगतम्। यथाऽऽह जायोपेयेत्येके प्राजापत्यं तदिति॥ ३॥

द्वैमास्यो वा नियमः॥ ४॥

द्वौ मासौ भूतभाविनौ वा द्विमास्यः। मासाद्वयसि यत्खञौ द्विगोर्यवयपम्यपि प्रयुञ्जते। स एव द्वैमास्यः। अयं ब्रह्मचर्यादिनियमो मासद्वयं वा भवति। शक्त्यपेक्षो विकल्पः॥ ४॥

अथानध्याया उच्यन्ते—

नाधीयीत वायौ दिवा पांसुहरे॥ ५॥

पांसून्हरतीति पांसुहरः, वायौ दिवा पांसुहरे वाति सति नाधीयीत। अपांसुहरे न दोषः। पांसुहरेऽपि रात्रौ न दोषः॥ ५॥

---

१ क °नमधाऽध्य°। २ क. ख घ °स्यार्थं च प्र°। ३ क. ख घ °ञ (त्रानुजमा°।

कर्णश्राविणि नक्तम् ॥ ६ ॥

व्यत्ययेनार्थे कर्मणि कर्तृप्रत्ययः । कर्णाभ्यां श्रूयत इति कर्णश्रावी । एवंभूते महाघोषे वायौ वाति सति नक्तं नाधीयीत ॥ ६ ॥

वाणभेरीमृदङ्गगर्तार्तशब्देषु ॥ ७ ॥

वाणो वीणाविशेषः । वाणः शततन्तुरिति महाव्रते दर्शनात् । भेरीमृदङ्गौ प्रसिद्धौ । गर्तो रथः । आरोहतं वरुण मित्र गर्तम् । " स्तुहि श्रुतं गर्तसदम् " इत्यादौ दर्शनात् । आर्ता बन्धुमरणादिना दुःखिताः । तेषां शब्दे श्रूयमाणे तावन्तं कालं नाधीयीत ॥ ७ ॥

श्वशृगालगर्दभसंह्रादे ॥ ८ ॥

संह्रादः सह शब्दनम् । शुनां शृगालानां गर्दभानां संह्रादे नाधीयीत । त्रयाणां तु सहशब्दने दण्डापूपिकया सिद्धः प्रतिषेधः ॥ ८ ॥

रोहितेन्द्रधनुर्नीहारेषु ॥ ९ ॥

आकाशे लोहिते, इन्द्रधनुषि दृश्यमाने, नीहारो हिमानी तस्यां च । तावन्तं कालं नाधीयीत ॥ ९ ॥

अभ्रदर्शने चापर्तौ ॥ १० ॥

अपर्तुरवर्षर्तुः । तत्र सोदकस्य मेघस्य दर्शने नाधीयीत ॥ १० ॥

मूत्रित उच्चारिते ॥ ११ ॥

संजातमूत्रेऽल्पे मूत्रितः । उच्चारितोऽपि तथा । तत्र श्रेयानपि नाधीयीत । उत्सर्गे तु मानसमप्यशुचिरिति वक्ष्यति ॥ ११ ॥

निशायां संध्योदकेषु ॥ १२ ॥

निशा रात्रेर्मध्यमो भागस्तस्मिन्संध्यायामुदके चावस्थितो नाधीयीत ॥ १२ ॥

वर्षति च ॥ १३ ॥

वर्षति च देवे तावन्नाधीयीत । धात्वर्थमात्रं विवक्षितं न परिमाणविशेषः ॥ १३

एके वलीकसंतानम् ॥ १४ ॥

एके मन्यन्ते वलीकसन्तानं वलीकं नीध्रं गृहपटलान्तस्तत्र वर्षधारा संतन्यते यथा तथा वर्षति देवे नाध्येयम् ॥ १४ ॥

आचार्यपरिवेषणे ॥ १५ ॥

आचार्यौ गुरुशुक्रौ तयोः परिवेषणे नाधीयीत। अपर आह—परिवेषणं भक्षभोज्याद्यन्नोपहरणम्। ब्राह्मणानन्नेन परिवेष्येत्यादौ दर्शनात्। आचार्यस्य परिवेषणे नाधीयीतेति ॥ १५ ॥

ज्योतिषोश्च ॥ १६ ॥

प्रसिद्धज्योतिषी सूर्याचन्द्रमसौ तयोश्च परिवेषणे नाधीयीत। पूर्वसूत्रे द्वितीयपक्षेऽत्रानुवृत्तस्य परिवेषणशब्दस्यार्थभेदोऽङ्गीकरणीयः॥१६॥

भीतो यानस्थः शयानः प्रौढपादः ॥ १७ ॥

भीतो वर्तमानभयः। यानस्थोऽश्वाद्यारूढः। शयानः शय्यामासेवमानः। प्रौढपादः पादे पादान्तराधायी पीठासनाद्यारोपितपादो वा। एवंभूतेन नाध्येयम् ॥ १७ ॥

श्मशानग्रामान्तमहापथाशौचेषु ॥ १८ ॥

श्मशानं शवदाहस्थानम्। ग्रामान्तो ग्रामसीमा। महापथः प्रसिद्धः। अशौचं शौचराहित्यम्। एतेषु स्थानेषु नाध्येयम्। अथ वाऽशौचं जननमरणनिमित्तमस्पर्शलक्षणं तस्मिन्नपि नाध्येयम् ॥ १८ ॥

पूतिगन्धान्तःशवदिवाकीर्त्यशूद्रसंनिधाने ॥ १९ ॥

पूतिगन्धे घ्राणगन्धे। दिवाकीर्त्यश्चण्डालः। अन्तःशब्द उभाभ्यां संबध्यते। अन्तःशवेऽन्तर्दिवाकीर्त्ये च ग्राम इति। शूद्रसंनिधाने नाध्येयम्। द्वंद्वैकवद्भावः। आपस्तम्बोऽपि—अन्तःशवेऽन्तश्चाण्डाल इति ॥ १९ ॥

भुक्के चोद्गारे ॥ २० ॥

भुक्तमम्लमम्ले चोद्गारे वर्तमाने नाधीयीत ॥ २० ॥

ऋग्यजुषं च सामशब्दो यावत् ॥ २१ ॥

ऋक्च यजुश्च ऋग्यजुषम्। अचतुरेत्यादिना निपातः। यावत्साम-

१ ङ. च. 'जुर्षां च।

शब्दः श्रूयते तावदृग्वेदं यजुर्वेदं च नाधीयीत । पञ्चन्तपाठस्तु नास्मभ्यं रोचते ॥ २१

आकालिका निर्घातभूमिकम्पराहुदर्शनोल्काः ॥ २२ ॥

निर्घातोऽशनिपातः । भूमिकम्पो भूचलनम् । राहुदर्शनं ग्रहणम् । उल्कोल्कापातः । एत आकालिका अनध्यायहेतव इति प्रकरणाल्लभ्यते । यस्मिन्काल एते भवन्ति परेद्युस्तत्पर्यन्तं काल आकालः । तत्संबद्ध आकालिकः ॥ २२ ॥

स्तनयित्नुवर्षविद्युतश्च प्रादुष्कृताग्निषु ॥ २३ ॥

स्तनयित्नुर्मेघशब्दः । प्रसिद्धमन्यत् । प्रादुष्कृतेष्वग्निष्वग्निहोत्रहोमकाले संध्यायां स्तनयित्नुप्रभृतयो भवन्तः प्रत्येकमाकालिकानध्यायहेतवः । अपर्ताविदम् ॥ २३ ॥

ऋतावाह—

अहर्ऋतौ ॥ २४ ॥

वर्षर्तावेते यदि भवेयुः संध्यायां तदा प्रातश्चेदहर्मात्रमनध्यायः । सायं तु रात्रावनध्याय इत्यर्थसिद्धत्वादनुक्तम् ॥ २४ ॥

विद्युति नक्तं चाऽऽपररात्रात् ॥ २५ ॥

यदि नक्तं विद्युद्दृश्यते न संध्यायां तदाऽऽपररात्राद्रात्रेस्तृतीयो भागोऽपररात्रमा तस्मादनध्यायः । ततोऽध्येयम् । प्रातस्तु संध्यायां विद्युति जाबाल आह—विद्युति प्रातरहरनध्याय इति ॥ २५ ॥

त्रिभागादिप्रवृत्तौ सर्वम् ॥ २६ ॥

यद्यह्नस्तृतीयाद्भागादारभ्य विद्युत्प्रवर्तते न केवलायां संध्यायां नापि नक्तं तदा सर्वरात्रमनध्यायः ॥ २६ ॥

उल्का विद्युत्समेत्येकेषाम् ॥ २७ ॥

उल्का च विद्युत्तुल्या यथा विद्युत्यनध्यायो विद्युति नक्तं चापररात्रादिति एवमुल्कापातेऽपीत्येकेषां मतम् ॥ २७ ॥

स्तनयित्नुरपराह्णे ॥ २८ ॥

स्तनयित्नुरपराह्णे यदि भवति न संध्यायां तदा विद्युत्समो भवति । आपररात्रादनध्यायं करोति ॥ २८ ॥

अपि प्रदोषे ॥ २९ ॥

प्रदोषेऽपि भवः स्तनयित्नुर्विद्युत्समः। आपररात्रादनध्यायहेतुः॥२९॥

सर्वं नक्तमार्धरात्रात् ॥ ३० ॥

प्रथमाद्रात्रिभागादारभ्याऽऽर्धरात्रात्प्रवृत्तः स्तनयित्नुः सर्वं नक्तमनध्यायहेतुः ॥ ३० ॥

अहश्चेत्सज्योतिः ॥ ३१ ॥

अहश्चेत्स्तनयित्नुर्भवति प्रागपराह्णात्तदा सज्योतिरनध्यायः। सकलं दिवसमित्यर्थः ॥ ३१ ॥

विषयस्थे च राज्ञि प्रेते ॥ ३२ ॥

यस्मिन्विषये स्वयं वसति तत्रस्थे तस्याधिपतौ राज्ञि प्रेते सज्योतिरनध्यायः। आकालिकमित्यन्ये ॥ ३२ ॥

विप्रोष्य चान्योन्येन सह ॥ ३३ ॥

यदा सहाध्यायिनः परस्परं विप्रवसेयुः केचिच्चाऽऽचार्येण संगतास्तदा सज्योतिरनध्यायः। आ परेषां मेलनादित्येके । आकालिकमित्यन्ये ॥ ३३ ॥

संकुलोपाहितवेदसमाप्तिच्छर्दिश्राद्ध-
मनुष्ययज्ञभोजनेष्वहोरात्रम्॥३४॥

संकुलश्चोरादिभिर्ग्रामाद्युपद्रवः। उपाहितोऽग्निदाहः । वेदसमाप्तिः शाखासमाप्तिः। छर्दनं भुक्तोद्गारः। श्राद्धमेकोद्दिष्टादि । मनुष्ययज्ञो वसन्तोत्सवादिः। भोजनशब्द उभाभ्यां संबध्यते । श्राद्धभोजने मनुष्ययज्ञभोजन इति । एतेषु निमित्तेष्वहोरात्रमनध्यायः । मनुष्यप्रकृतीनां देवानां यज्ञो मनुष्ययज्ञ इत्यन्ये । यथाऽऽहाऽऽपस्तम्बः—मनुष्यप्रकृतीनां देवानां यज्ञे भुक्त्वेत्येक इति । ये मनुष्या भूत्वा प्रकृष्टेन तपसा देवाः संपन्नास्तद्यज्ञस्तत्प्रीत्यर्थं ब्राह्मणभोजनम् ॥ ३४ ॥

अमावास्यायां च ॥ ३५ ॥

अमावास्यायामहोरात्रमनध्यायः ॥ ३५ ॥

द्व्यहं वा ॥ ३६ ॥

तदहः पूर्वेद्युश्च द्व्यहमनध्यायः । शुक्लचतुर्दश्यां त्वनध्यायस्य मूलान्तरं मृग्यम् । एवं प्रतिपत्सु च ॥ ३६ ॥

कार्तिकी फाल्गुन्याषाढी पौर्णमासी ॥ ३७ ॥

कार्तिक्याद्यास्तिस्रः पौर्णमास्योऽनध्यायहेतवोऽहोरात्रम् । पौर्णमास्यन्तरेष्वनध्याये मूलं मृग्यम् ॥ ३७ ॥

तिस्रोऽष्टकास्त्रिरात्रम् ॥ ३८ ॥

ऊर्ध्वमाग्रहायण्यास्त्रिष्वपरपक्षेषु तिस्रोऽष्टकाः । तास्त्रिरात्रमनध्यायहेतवस्तदहः पूर्वेद्युरपरेद्युश्च ॥ ३८ ॥

अन्त्यामेके ॥ ३९ ॥

एकेऽन्त्यामेकाष्टकामनध्यायहेतुं मन्यन्ते ॥ ३९ ॥

अभितो वार्षिकम् ॥ ४० ॥

श्रवणादि वार्षिकमिति यदुक्तं वार्षिकमनध्ययनं तदभितस्तस्योभयोः पार्श्वयोर्ये कर्मणी उपाकरणोत्सर्जने तयोरपि कृतयोस्त्र्यहमनध्यायमेक इच्छन्ति । तथा च मनुः—

उपाकर्मणि चोत्सर्गे त्रिरात्रं क्षपणं स्मृतम् । इति ।

उशना—उपाकर्मणि चोत्सर्गे त्र्यहमनध्यायः ॥ इति ॥ ४० ॥

सर्वे वर्षाविद्युत्स्तनयित्नुसंनिपाते ॥ ४१ ॥

वर्षादीनां त्रयाणां युगपत्संनिपाते त्रिरात्रमनध्याय इति सर्व एवाऽऽचार्या मन्यन्ते ॥ ४१ ॥

प्रस्यन्दिनि ॥ ४२ ॥

प्रकृष्टं स्यन्दनं वर्षं प्रस्यन्दस्तद्वति च काले यावत्प्रस्यन्दनमनध्यायो द्व्यहं त्र्यहं चतुरहं वा ॥ ४२ ॥

ऊर्ध्वं भोजनादुत्सवे ॥ ४३ ॥

उपनयनादावुत्सवे भोजनादूर्ध्वं तदहरनध्यायः ॥ ४३ ॥

प्राधीतस्य च निशायां चतुर्मुहूर्तम् ॥ ४४ ॥

उपाकृत्याध्येतुं प्रवृत्तः प्राधीतः। आदिकर्मणि क्तः कर्तरि च। तस्य निशायां चतुर्मुहूर्तं चतुरो मुहूर्तानष्टौ नाडिका अनध्यायः। 'श्रावण्यां पौर्णमास्यामध्यायमुपाकृत्य मासं प्रदोषे नाधीयीत' इत्यापस्तम्बीयेन समानार्थमिदम्। चकारात्त्रयोदशीप्रदोषेऽपि निशायां चतुर्मुहूर्तं निषेधो दर्शितः ॥ ४४ ॥

नित्यमेके नगरे ॥ ४५ ॥

एक आचार्या नगरे नित्यमेवाध्ययनं नेच्छन्ति। नित्यग्रहणं निशाधिकारनिवृत्त्यर्थम् ॥ ४५ ॥

मानसमप्यशुचिः ॥ ४६ ॥

अप्रयतः सन्मानसमप्यध्ययनं न कुर्यात्। एवं चान्येष्वनध्यायहेतुषु मानसमनिषिद्धम् ॥ ४६ ॥

श्राद्धिनामाकालिकम् ॥ ४७ ॥

श्राद्धमस्यास्तीति श्राद्धी श्राद्धस्य कर्ता। अत इनिठनौ। न तु श्राद्धमनेन भुक्तमिति भोक्तरि पूर्वमेव निषिद्धत्वात्। तेषां श्राद्धदातॄणामाकालिकमनध्यायः। अपर आह—ये श्राद्धे केवलं भुक्तवन्तो न पित्राद्यर्थं पात्रतया तेषां पूर्वकोऽहोरात्रनिषेधः। अयं त्वाकालिकनिषेधः पित्राद्यर्थं पात्रतया भुक्तवतामिति ॥ ४७ ॥

अकृतान्नश्राद्धिकसंयोगेऽपि ॥ ४८ ॥

भोजनासंभवे यद्यकृतान्नं पितृभ्यो दीयते तदकृतान्नश्राद्धिकं तत्संयोगेऽप्याकालिकमनध्यायः। न केवलं भुक्तवतः। तत्र मनुः—

प्राणि वा यदि वाऽप्राणि यत्किंचिच्छ्राद्धिकं भवेत्।
तदालभ्याप्यनध्यायः पाण्यास्या ब्राह्मणाः स्मृताः ॥ इति।

आमश्राद्धस्यैतदेव लिङ्गम् ॥ ४८ ॥

प्रतिविद्यं च यान्स्मरन्ति ॥ ४९ ॥

प्रतिविद्यं प्रतिधर्मशास्त्रं याननध्यायान्स्मरन्ति स्मर्तारस्तेष्वपि हेतुषु नाधीयीत। तत्र वसिष्ठः—

दिग्दाहपर्वतप्रपातेषूपलरुधिरपांसुवर्षेष्वाकालिकमिति।

श्लेष्मातकस्य शाल्मल्या मधूकस्य तथाऽप्यधः।
कदाचिदपि नाध्येयं कोविदारकपित्थयोः ॥ इति ॥

एवमन्यत्रापि द्रष्टव्यम् ॥ ४९ ॥

इति श्रीहरदत्तविरचितायां गौतमसूत्रविवृतौ मिताक्षरायां षोडशोऽध्यायः ॥ १६ ॥

---

अथ सप्तदशोऽध्यायः ।

---

मानसमप्यशुचिरित्युक्तं तच्चाशुचित्वमाहारजनितमपि भवतीति भक्ष्याभक्ष्यप्रकरणमारभ्यते—

प्रशस्तानां स्वकर्मसु द्विजातीनां ब्राह्मणो भुञ्जीत ॥ १ ॥

स्वकर्मसु वर्णप्रयुक्तेष्वाश्रमप्रयुक्तेषूभयप्रयुक्तेषु च ये प्रशस्ता अहो अयं स्वकर्मानुतिष्ठतीति तेषां द्विजातीनां गृहे ब्राह्मणो भुञ्जीत । क्षुदुपघातार्था भोजने प्रवृत्तिः । शक्या च यस्य कस्यचिद्गृहे भुञ्जानेन क्षुदुपहन्तुं तत्र परिसंचष्ट एषामेव गृहे ब्राह्मणो भुञ्जीत नान्येषामिति ॥ १ ॥

प्रतिगृह्णीयाच्च ॥ २ ॥

प्रतिग्रहोऽप्येषामेव सकाशान्नान्येषामिति ॥ २ ॥

अस्यापवादः—

एधोदकयवसमूलफलमध्वभयाभ्युद्यतशय्यासनावसथयानपयोदधिधानाशफरीप्रियङ्गुस्रङ्मार्गशाकान्यप्रणोद्यानि सर्वेषाम् ॥ ३ ॥

एधः काष्ठम् । उदकं घटादिस्थमपि । यवसं तृणादि । मूलमार्द्रकादि । फलमाम्रादि । मधु माक्षिकम् । अभयं परित्राणम् । अभ्युद्यतमयाचितेनापि दात्रा स्वयमानीतमिदं गृहाणेति । शय्या कटादि । आसनं पीठादि । आवसथः प्रतिश्रयः । यानं शकटादि । दधिपयसी प्रसिद्धे । धाना भृष्टा यवाः । शफरी मत्स्यविशेषः । [प्रियङ्गू राजिका]

---

१ क. ख. ग. काष्ठादि ।

सद्व्याला । मार्गं मृगमांसं, पन्था वा मार्गः । शाकं वास्तुकादि । एतान्येधादीन्यप्रणोद्यानि सर्वतः प्रतिग्राह्याणि याचित्वाऽपि । अभ्युद्यतं पक्वान्नाद्यप्रणोद्यमप्रत्याख्येयं प्रत्याख्याने दोषः ।

तथा चाऽऽपस्तम्बः—उद्यतामाहृतां भिक्षां पुरस्तादप्रवेदिताम् ।

भोज्यां मेने प्रजापतिरपि दुष्कृतकारिणः ॥
न तस्य पितरोऽश्नन्ति दश वर्षाणि पञ्च च ।
न च हव्यं वहत्यग्निर्यस्तामभ्यवमन्यते ॥ इति ।

अस्यापवादः–चिकित्सकस्य मृगयोः शल्यकृन्तस्य पाशिनः ।
कुलटायाश्च षण्ढस्य तेषामन्नमनाद्यम् ॥ इति ॥ ३ ॥

पितृदेवगुरुभृत्यभरणेऽप्यन्यत् ॥ ४ ॥

पितृभरणमविच्छेदेन श्राद्धकरणम् । देवभरणमग्निहोत्रादि । गुरवः पित्रादयः । भृत्याः पुत्रदासादयः । तेषां भरणं भक्तादिदानम् । एतेषु निमित्तेष्वन्यदप्युक्तादन्यदप्यप्रणोद्यम् । मनुश्च—

गुरून्भृत्यांश्चोज्जिहीर्षन्नर्चिष्यन्देवतातिथीन् ।
सर्वतः प्रतिगृह्णीयान्न तु तृप्येत्स्वयं ततः ॥ इति ।

वृत्तिश्चेन्नान्तरेण शूद्रात् ॥ ५ ॥

यदि शूद्रप्रतिग्रहमन्तरेण वृत्तिर्जीवनं न निर्वर्तते तदा शूद्रादपि प्रतिगृह्णीयात् ॥ ५ ॥

पशुपालक्षेत्रकर्षककुलसंगतकारयि-
तृपरिचारका भोज्यान्नाः ॥ ६ ॥

वणिक्चाशिल्पी ॥ ७ ॥

वणिक्च भोज्यान्नः स चेदशिल्पी कुम्भकारादिको न भवति ॥ ७ ॥
अथाभोज्यमाह—

नित्यमभोज्यम् ॥ ८ ॥

नित्यं परगृहे न भोक्तव्यम् । गृहस्थस्यायं प्रतिषेधः ।
उपासते गृहस्था ये परपाकमबुद्धयः । इति मानवे दर्शनात् ।
अन्येभ्यो यावत्प्रत्यहं दीयते तन्नित्यमभोज्यम् ॥ ८ ॥

केशकीटावपन्नम् ॥ ९ ॥

यच्चान्नं केशैः कीटैर्वा संबद्धं तदप्यभोज्यम् । अत्र वसिष्ठः—कामं तु केशकीटानुत्सृज्याद्भिः प्रोक्ष्य भस्मनाऽवकीर्य वाचा प्रशस्तमुपयुञ्जीत ॥ इति ।

मनुस्तु—पक्षिजग्धं गवा घ्रातमवधूतमवक्षुतम् ।
केशकीटावपन्नं च मृत्प्रक्षेपेण शुध्यति ॥ इति ।

तदेषां रुचितो व्यवस्था । अपर आह—पाकादारभ्य यत्केशकीटावपन्नं तत्र गौतमीयमूर्ध्वं तु वासिष्ठमानवे ॥ इति ॥ ९ ॥

रजस्वलाकृष्णशकुनिपदोपहतम् ॥ १० ॥

कृष्णशकुनिः काकः । पदग्रहणं तुण्डादेरप्यवयवस्योपलक्षणम् । रजस्वलया कृष्णशकुनिपदेन वोपहतं स्पृष्टमन्नमभोज्यम् । प्रभूते त्वन्ने पराशरः—

शृतं द्रोणाधिकं चान्नं श्वकाकैरुपघातितम् ।
न त्याज्यं तस्य शुध्द्यर्थं ब्राह्मणेभ्यो निवेदयेत् ॥
गायत्र्यष्टसहस्रेण मन्त्रपूतेन वारिणा ।
भोज्यं तत्प्रोक्षितं विप्रैः पर्यग्निकृतमेव च ॥ इति ।

उपहतं प्रदेशमुद्धृत्येदं कार्यम् ॥ १० ॥

भ्रूणघ्नाऽवेक्षितम् ॥ ११ ॥

भ्रूणहा ब्रह्महा । तथा च वसिष्ठः—ब्राह्मणं हत्वा भ्रूणहा भवतीति । तेन प्रेक्षितमप्यभोज्यम् ॥ ११ ॥

---

१ क. ख. घ. °पास्याये गृ°। २ क. ख. अनाथेभ्यो ।

भावदुष्टम् ॥ १२ ॥

भोजयित्राऽवज्ञानेन दत्तं भोक्तुर्वा मनसो दुष्टिकरं भावदुष्टं तदप्यभोज्यम् ॥ १२ ॥

गवोपघ्रातम् ॥ १३ ॥

गवा चोपसमीपे घ्रातमभोज्यम् ॥ १३ ॥

शुक्तं केवलमदधि ॥ १४ ॥

यत्पक्वं कालवशादम्लरसं तत्केवलं शुक्तं तदभोज्यम् । केवलग्रहणात्क्षीरोदकादिसंपृक्तमम्लमपि भोज्यम् । दधि तु केवलमप्यम्लं भोज्यम् । तक्रकाञ्जिकयोरपक्वत्वान्नायं प्रतिषेधः । आचारोऽपि तक्रे निर्विवादः । काञ्जिके सविवादः ॥ १४ ॥

पुनः सिद्धम् ॥ १५ ॥

सकृत्पक्वस्य तादृश एव पाकः पुनः क्रियते पूर्वं शुक्तपक्वमिति तत्पुनः सिद्धं तदभोज्यम् । अन्यथा पक्वस्य तु पाकान्तरे भर्जनादौ न दोषः ॥ १५ ॥

पर्युषितमशाकभक्षस्नेहमांसमधूनि ॥ १६ ॥

उदयास्तमयान्तरितं पर्युषितम् । दिवा पक्वं रात्रौ रात्रिपक्वं दिवा तदशुक्तमप्यभोज्यम् । शाकादि तु पर्युषितमपि भोज्यम् । शाकमुक्तम् । भक्षाः पृथुकापूपादयः । स्नेहो घृततैलादिः । मांसं प्रसिद्धम् । मधु च । एतानि पर्युषितान्यपि भोज्यानि । स्नेहमध्वादीनामपक्वत्वादेवापर्युषितत्वं तस्मात्स्नेहमधुग्रहणं तत्संसृष्टस्यापि पर्युषितस्य पर्युदासार्थम् । तेन तत्संसृष्टं पर्युषितमपि भोज्यमगर्हितम् ।

तत्पर्युषितमप्याद्यं हविःशेषं च यद्भवेत् ॥ इति ॥ १६ ॥

उत्सृष्टपुंश्चल्यभिशस्तानपदेश्यदण्डिकतक्षककदर्यबन्धनिकचिकित्सकमृगय्वनिषुचार्युच्छिष्टभोजिगणविद्विषाणानाम् ॥ १७ ॥

उत्सृष्टः पितृभ्यां परित्यक्तः ।

गण्डस्योपरिजातानां परित्यागो विधीयते ॥

१ ग. क्षीरकाञ्जिकादि॰ । २ ग. जातानां ।

इत्यादिना कारणेन, दुर्भिक्षे रक्षणाशक्त्या, प्रातिकूल्येन वा। पुंश्चली, अनियतपुंस्का व्यभिचारिणी गणिका च। अभिशस्तः सताऽसता वा दोषेण ख्यातः। अनपदेश्यैवंभूतोऽयमिति व्यपदेशानर्हः। स्त्रीत्वपुंस्त्वाभ्यामनिर्देश्या तृतीया प्रकृतिरित्यन्ये। दण्डिको राजा दण्डाधिकारे नियुक्तः। शूद्रात्प्रातिलोम्येन वैश्यायां जातस्तक्षा वैश्यात्क्षत्रियायां जातो माहिष्यः, शूद्रायामूढायां वैश्याज्जाता करणी, तस्यां करण्यां माहिष्याज्जातो रथकारः स तक्षेत्यन्ये। कदर्यो लुब्धो यमधिकृत्य मनुराह—

श्रोत्रियस्य कदर्यस्य वदान्यस्य च वार्धुषेः। इति।

बन्धनिको बन्धकागाररक्षी। चिकित्सको वैद्यः शल्यकर्ता वा। यो मृगयुः सन्निषुचारी न भवति किंतु पाशचारी स मृगय्वनिषुचारी वागुरिकः। उच्छिष्टभोजी निगदसिद्धः। गणो जनसमुदायः। विद्विषाणः शत्रुः। एतेषामुत्सृष्टादीनामन्नमभोज्यम्। येऽत्र प्रशस्ता द्विजातयो न भवन्ति तेषां ग्रहणमुदितप्रतिषेधार्थम्। तथा चाऽऽपस्तम्बः—

चिकित्सकस्य मृगयोरित्यादि आपद्यपि प्रतिषेधार्थमित्यन्ये ॥ १७ ॥

अपङ्क्त्यानां प्राग्दुर्वालात् ॥ १८ ॥

ये चापङ्क्त्याः प्रागुपदिष्टास्त्यक्तात्मपर्यन्तास्तेषामप्यन्नमभोज्यम्॥१८॥

वृथान्नाचमनोत्थानव्यपेतानि ॥ १९ ॥

यदात्मार्थं पच्यते नातिथ्याद्यर्थं तद्वृथान्नम्। श्रूयते हि–'मोघमन्नं विन्दते अप्रचेताः' इत्यादि। भोजनमध्ये यत्र कोपादिना पुनराचम्यत उत्थीयते वा। अपेतादन्यद्यपेतं सहितमिति। एते आचमनोत्थानव्यपेते अन्ने। एतानि वृथान्नादीन्यभोज्यानि। अत्रोशना–अगुरुभिराचमनोत्थानं चेति। एकस्यां पङ्क्तौ बहुषु भुञ्जानेष्वेकेनापि गुरुव्यतिरिक्तेनाऽऽचमन उत्थाने वा कृत इतरेषामप्यभोज्यमिति। गुरुभिः कृते न दोषः ॥ १९ ॥

समासमाभ्यां विषमसमे पूजातः ॥ २० ॥

कुलशीलादिभिस्तुल्यः समः। विपरीतोऽसमः। विषमसमशब्दौ भावपरौ विषमसम इति समाहारद्वंद्वः। पूजातः पूजायामासनपरिचरणादि-

कायां समेन सह पूजायां विषमेऽसमेन च साम्ये क्रियमाणे तदन्नम-भोज्यम् ॥ २० ॥

अनर्चितं च ॥ २१ ॥

यच्चानर्चितं दीयते वैधवेय भक्षयेति तदप्यभोज्यम् । प्रतिग्रहेऽपि तुल्यमेतत् । यथाऽऽह मनुः—

योऽर्चितं प्रतिगृह्णाति ददात्यर्चितमेव यः ।
तावुभौ गच्छतः स्वर्गं नरकं तु विपर्यये ॥ इति ।

सायं प्रातरशनान्यभिपूजयेदिति वसिष्ठः । तदकरणमनर्चितमित्यन्ये ॥ २१ ॥

गोश्च क्षीरमनिर्दशायाः सूतके ॥ २२ ॥

सूतकं प्रसवः । प्रसूताया अनतिक्रान्तदशाहाया गोः क्षीरमभोज्यम् ॥ २२ ॥

अजामहिष्योश्च ॥ २३ ॥

अजामहिष्योः सूतकेऽनिर्दशाहयोः क्षीरमपेयम् ॥ २३ ॥

नित्यमाविकमपेयमौष्ट्रमैकशफं च ॥ २४ ॥

नित्यग्रहणान्न केवलमनिर्दशाहमेव । अविरेवाविकः । उष्ट्रः प्रसिद्धः । एकशफा एकखुरा अश्वादयः । अविकादीनां संबन्धि क्षीरं नित्यमपेयम् । मनुस्तु—

आरण्यानां तु सर्वेषां मृगाणां महिषं विना ।
स्त्रीक्षीरं चैव वर्ज्यानि सर्वशुक्तानि चैव हि ॥ इति ॥ २४ ॥

स्यन्दिनीयमसूसंधिनीनां च ॥ २५ ॥

यस्याः स्तनेभ्यः क्षीरं स्यन्दते सा स्यन्दिनी । यमसूर्युग्मवत्सप्रसूतिका । या गर्भिणी दुग्धे सा संधिनी । एककालदोहनेत्यन्ये । एवंभूतानां गवादीनां क्षीरमपेयम् ॥ २५ ॥

विवत्सायाश्च ॥ २६ ॥

वत्सेन वियुक्ता विवत्सा तस्याश्च गवादेः क्षीरमपेयम् । अत्र प्रकरणे प्रतिषिद्धविकारस्यापि दध्यादेः प्रतिषेधमिच्छन्ति । आचारस्त्वनिर्दशायां तथाऽन्यत्रानियतः ॥ २६ ॥

---

१ ग. ँष्ट. । उद° ।

इदानीं स्वरूपत एवाभक्ष्यानाह—

पञ्चनखाश्चाशल्यकशशश्वाविड्गोधाखड्गकच्छपाः ॥ २७ ॥

अभक्ष्या इत्युत्तरत्र वक्ष्यति । येषां पाणिपादेषु पञ्चपञ्च नखास्ते पञ्चनखा वानरादयोऽभक्ष्याः शल्यादीन्वर्जयित्वा । शल्यको वराहविशेषो यस्य नाराचाकाराणि लोमानि । शशः प्रसिद्धः । श्वाविस्कल्पको यस्य चर्मणा तनुत्राणं क्रियते । गोधा कृकलासाकृतिर्महाकायः । खड्गो मृगविशेषः शृङ्गमृत्युः । कच्छपः प्रसिद्धः । अत्र पठन्ति—

अभक्ष्याणां तु यन्मूत्रं तदुच्छिष्टं तथैव च ।
अभोज्यमिति निर्दिष्टं विष्ठा चैव प्रयत्नतः ॥ इति ॥ २७ ॥

उभयतोदत्केश्यलोमैकशफकलविङ्कप्लवचक्रवाकहंसाः ॥२८॥

उभयतोदन्ता अश्वादयः। दद्भाव आर्षः । केशिनः केशातिशययुक्ताश्चमर्यादयः । अलोमानः सर्पादयः । एकशफा एकखुराः । अनुभयतोदन्तार्थमिदम् । कलविङ्को ग्रामचटकः । प्लवः शकटबिलाख्यः पक्षी । हंसचक्रवाकौ प्रसिद्धौ । एते चाभक्ष्याः ॥ २८ ॥

काककङ्कगृध्रश्येना जलजा रक्तपाद-
तुण्डा ग्राम्यकुक्कुटसूकराः ॥ २९ ॥

काकादयः प्रसिद्धाः। जलजा अपि पक्षिण एव काकादिसंनिधानात् । तेषां विशेषणं रक्तपादतुण्ड इति । ग्रामे भवो ग्राम्यः । उत्तरयोश्चैतद्विशेषणं ग्राम्यकुक्कुटो ग्राम्यसूकर इति । आरण्ययोरप्रतिषेधः ॥ २९ ॥

धेन्वनडुहौ च ॥ ३० ॥

धेनुः पयस्विनी गौः । अनड्वाननोवहनयोग्यो बलीवर्दः । द्वंद्वेऽचतुरेत्यादिसमासान्तनिपातनाद्धेन्वनड्वाहाविति प्राप्नोति तदनादृतम् । अपपाठो वा । धेन्वनडुहौ चाभक्ष्यौ । आपस्तम्बीये तु—गोग्राभ्यां मांसं भक्ष्यमुक्त्वा धेन्वनडुहोर्भक्ष्यं मेध्यमानडुहमिति वाजसनेयकमित्युक्तम् । आनडुहं न केवलं भक्ष्यं किं तर्हि मेध्यमपीत्यर्थः । बह्वृचब्राह्मणेषु श्रूयते—तद्यथैवादो मनुष्यराज आगतेऽन्यस्मिन्वाऽर्हत्युक्षाणं वा वेहतं वाऽक्षदन्त इति । तत्रातिथेर्भक्ष्यमन्येषामभक्ष्यमिति । यथाऽपि

किल तत्रानुज्ञातः 'दाशगोघ्नौ संप्रदाने' गौर्यस्मै हन्यते स गोघ्नोऽतिथिरिति। एवं किल पूर्वमाचारः। इदानीं गन्धोऽपि (?)॥ ३० ॥

अपन्नदन्नवसन्नवृथामांसानि ॥ ३१ ॥

अपन्नदन्नपतितदन्तः। सोऽप्रतिषिद्धोऽपि न भक्ष्यः। 'यदा वै पशोर्दन्ताः पद्यन्तेऽथ स मेध्यो भवति' इति बह्वृचब्राह्मणम्-योऽपन्नदन्मलं तत्पशूनामिति विज्ञायत इत्यापस्तम्बः। अवसन्नो व्याधितः। वृथामांसं वृथान्नेन व्याख्यातम्। पुनः प्रतिषेधस्तु मांसस्य प्रायश्चित्तगौरवार्थः॥ ३१ ॥

किसलयक्याकु(किम्पाकु)लशुननिर्यासाः ॥ ३२ ॥

किसलयः पल्लवोऽग्रप्ररोहः क्याकु(किम्पाकु)श्छत्राकः। लशुनं प्रसिद्धम्। निर्यासो वृक्षत्वग्भूतो घनीभूतो रसो हिङ्ग्वादिः किसलयादयोऽप्यभक्ष्याः॥ ३२ ॥

लोहिता व्रश्चनाः ॥ ३३ ॥

वृक्षादिषु वृक्णप्रदेशे भवा व्रश्चना निर्यासास्ते लोहिताश्चेन्न भक्ष्याः। स्वयं सूना निर्यासा लोहिता अलोहिताश्चाभक्ष्याः। व्रश्चनप्रभवास्तु लोहिता एव। मनुस्तु—

लोहितान्वृक्षनिर्यासान्व्रश्चनप्रभवांस्तथा। इति।

केचित्तु लोहितशब्दं किसलयादिष्वपि पठन्ति। हिङ्गुस्तु निर्यासो व्रश्चनप्रभवो न वेति चिन्त्यम्। सर्वथा शिष्टा अपि भक्षयन्ति। कर्पूरस्तु न निर्यासो न व्रश्चनप्रभवो न लोहितस्तस्माद्भक्ष्य एव॥ ३३ ॥

निचुदारुबकबलाकाशुकमद्गुटिट्टिभ-
मान्धालनक्तंचरा अभक्ष्याः ॥ ३४॥

निचुदारुर्दार्वाघाटः। मद्गुर्जलवायसः। मान्धालो वाग्वदः। नक्तंचरा उलूकादयः। अन्ये प्रसिद्धाः। अभक्ष्या इति पञ्चनखा इत्यारभ्य संबध्यते॥ ३४॥

भक्ष्याः प्रतुदविष्किरजालपादाः ॥ ३५ ॥

तुण्डेन प्रतुद्य प्रतुद्य ये भक्षयन्ति ते प्रतुदाः। ये पादाभ्यां विकीर्य भक्षयन्ति मयूरादयस्ते विकिराः। जालाकारौ पादौ येषां ते जाल-

पादाः । एते भक्ष्याः । यद्यप्यभक्ष्येपूक्तेष्वन्ये भक्ष्या इति गम्यते तथाऽपि भक्ष्या इत्युपादानं मनूक्तानामापद्येव भक्षणं स्यादनापदि मा भूदिति ॥ ३५ ॥

मत्स्याश्चाविकृताः ॥ ३६ ॥

विकृता मनुष्यशिरस्कादयस्तद्विपरीता अविकृता भक्ष्या इति ॥ ३६ ॥

वध्याश्च धर्मार्थे ॥ ३७ ॥

ये भक्ष्या उक्तास्ते न केवलं स्वयं मृता अन्यहता वा भक्ष्या अपि तु वध्याश्च । धर्मार्थेऽतिथिपूजादौ । अपरश्चाऽऽह—ये धर्मार्थे यज्ञादौ वध्या * ह........तिपा अपि भक्ष्या अनृत्विजामपीति । धर्मार्थ इति वचनादवकीर्णिपशोर्मांसमभक्ष्यम् । तस्य प्रायश्चित्तार्थत्वात्॥३७॥

व्यालहतादृष्टदोषवाक्प्रशस्तानभ्युक्ष्योपयुञ्जीतोपयुञ्जीत ॥३८॥

अतिथीनप्याशयेद्भक्षयेच्च । न तु श्वादेरुच्छिष्टमिति वर्जयेत् । मनुरप्याह—श्वा मृगग्रहणे शुचिरिति । द्विरुक्तिरुक्ता । अत्र मनुः—

अनुमन्ता विशसिता निहन्ता क्रयविक्रयी ।
संस्कर्ता चोपहर्ता च खादकश्चेति घातकाः ॥
न मांसभक्षणे दोषो न मद्ये न च मैथुने ।
प्रवृत्तिरेषा भूतानां निवृत्तिस्तु महाफलम् ॥ इति ।

अमतिपिद्धेष्वपि भक्षणान्निवृत्तिरेव ज्यायसीत्यर्थः ॥ ३८ ॥

इति श्रीहरदत्तविरचितायां गौतमसूत्रविवृतौ मिताक्षरायां सप्तदशोऽध्यायः ॥ १७ ॥

---

अथाष्टादशोऽध्यायः ।

---

अथ स्त्रीधर्मानाह—

अस्वतन्त्रा धर्मे स्त्री ॥ १ ॥

श्रौते गार्ह्ये च धर्मे स्त्री भर्तुरेवानुष्ठानमनुप्रविशति । व्रतोपवासादि-

---

* अत्र किंचित्पदं पुस्तकेषु त्रुटितम् ।

---

१ ग. स्यादना° ।

भिरपि स्मार्तैः पौराणैश्च धर्मैर्नान्तरेण भर्तुरनुज्ञां स्वातन्त्र्येणाधिक्रियते । आह शङ्खः—न च व्रतोपवासैर्नियमेज्यादानधर्मो वाऽनुग्रहकरणं स्त्रीणामन्यत्र पतिशुश्रूषायाः कर्म तु भर्तुरनुज्ञया व्रतोपवासनियमादीनामभ्यासः स्त्रीधर्म इति । नारदोऽप्याह—

स्त्रीकृतान्यप्रमाणानि कार्याण्याहुरनापदि ।
विशेषतो गृहक्षेत्रदानाध्ययनविक्रयात् ॥
एतान्येव प्रमाणानि भर्ता यद्यनुमन्यते ॥ इति ।

मनुस्तु—बाल्ये पितुर्वशे तिष्ठेत्पाणिग्राहस्य यौवने ।
पुत्रस्य स्थविराभावे न स्त्री स्वातन्त्र्यमर्हति ॥
बालया वा युवत्या वा वृद्धया वाऽपि योषिता ।
न स्वातन्त्र्येण कर्तव्यं कार्यं किंचिद्गृहेष्वपि ॥ १ ॥

नातिचरेद्भर्तारम् ॥ २ ॥

भर्तारं नातिक्रामेद्भर्तुरन्यं मनसाऽपि न चिन्तयेत् ॥ २ ॥

वाक्चक्षुःकर्मसंयता ॥ ३ ॥

यावदर्थसंभाषिणी वाक्संयता । प्रेक्षकादीनामप्रेक्षिणी चक्षुःसंयता । स्वकुटुम्बार्थकर्मव्यतिरिक्तानां कर्मणामकर्त्री कर्मसंयता । एवंभूता स्यात् ॥ ३ ॥

अथ नातिचरेद्भर्तारमित्यस्यापवादः—

अपतिरपत्यलिप्सुर्देवरात् ॥ ४ ॥

अनपत्याया यस्याः पतिर्मृतः साऽपत्यं लिप्समाना सती देवराल्लिप्सेत । पत्युर्भ्राता देवरः कनिष्ठ इत्युपदेशः ॥ ४ ॥

तत्र प्रकारः—

गुरुप्रसूता नर्तुमतीयात् ॥ ५ ॥

गुरुभिः पतिपक्षैः पितृपक्षैर्वा नियुक्ता सती संयुज्येत । तत्रापि नर्तुमतीयादृतुकालं नातिक्रामेत । तत्रापि प्रथमे गमने गर्भसंभवः । श्रूयते हि तत्प्रकाराणां ब्राह्मणे—'यद्वा प्रथमेऽहनि रेतः सिच्यते स गर्भः संभवत्यथ यत्र तस्मिन्न्यत्ते मुधैव तत्प्रगासिच्यत इति । ततश्चतावपि

---

१ [illegible]

सकृदेव गमनम् । । अत्रौशनसो विशेषः—नियुक्ता सर्वाङ्गं घृताभ्यक्तम् । तेन सर्वाङ्गमात्मानमभ्यज्य गच्छेदिति ॥ ५ ॥

देवराभावे क्रमेण गमनीयानाह—

पिण्डगोत्रर्षिसंबन्धेभ्यो योनिमात्राद्वा ॥ ६ ॥

पिण्डसंबन्धः सपिण्डः । गोत्रसंबन्धः सगोत्रः । ऋषिसंबन्धः समानप्रवरा हरितकुत्सादयः । एतेभ्यः क्रमेणापत्यं लिप्सेत योनिमात्राद्वा । अत्र स्मृत्यन्तरम् । सर्वाभावे योनिमात्राद्ब्राह्मणजातिमात्रादिति ॥ ६ ॥

नादेवरादित्येके ॥ ७ ॥

एके मन्यन्ते देवरादेव लिप्सेत नादेवरादिति ॥ ७ ॥

नातिद्वितीयम् ॥ ८ ॥

प्रथममपत्यमतीत्य द्वितीयं न जनयेदिति ॥ ८ ॥

अथैवमुत्पादितमपत्यं क्षेत्रिणो बीजिनो वेति विषये निर्णयमाह—

जनयितुरपत्यम् ॥ ९ ॥

जनयितुस्तदपत्यं भवति न क्षेत्रिणः । आपस्तम्बोऽपि—उत्पादयितुः पुत्र इति हि ब्राह्मणमित्यादि ॥ ९ ॥

समयादन्यस्य ॥ १० ॥

यदि ज्ञातयः समयं कृत्वा नियुञ्जते क्षेत्रिणोऽपत्यमस्त्विति यथा विचित्रवीर्यस्य क्षेत्रं सत्यवती तस्यां व्यासेनोत्पादितमपत्यमिति ॥१०॥

जीवतश्च क्षेत्रे ॥ ११ ॥

यदा च जीवन्नेव क्षेत्री वन्ध्यो रुग्णो वा प्रार्थयते मम क्षेत्रे पुत्रमुत्पादयेति । तदा क्षेत्रिण एवापत्यं न बीजिनः ॥ ११ ॥

परस्मात्तस्य ॥ १२ ॥

परस्माद्देवरादिव्यतिरिक्तात्तदनियुक्तायामप्यपत्यवत्यामनपत्यायां चोत्पन्नः पुनस्तस्यैव बीजिनो भवति न क्षेत्रिणः ॥ १२ ॥

द्वयोर्वा ॥ १३ ॥

एवमुत्पादितमपत्यं द्वयोर्वा भवति बीजिक्षेत्रिणोः । इदं नियुक्ताविषयम् ।

तथा च याज्ञवल्क्यः–अपुत्रेण परक्षेत्रे नियोगोत्पादितः सुतः ।
उभयोरप्यसौ रिक्थी पिण्डदाता च धर्मतः ॥ इति ॥ १३ ॥

रक्षणात्तु भर्तुरेव* ॥ १४ ॥

यदि भर्ता क्षेत्र्येव रक्षणं भरणं पोषणं संस्कारादि करोति न बीजी तदा भर्तुरेव तदपत्यमिति । एवं सूते ॥ १४ ॥

श्रूयमाणेऽभिगमनम् ॥ १५ ॥

यदा तु भर्ता श्रूयते तस्मिन्देशे स्थित इति तदा तमभिगच्छेत् ॥ १५ ॥

प्रव्रजिते तु निवृत्तिः प्रसङ्गात् ॥ १६ ॥

यदि तु भर्ता प्रव्रजितो भवति मोक्षाश्रमं प्राप्तो भवति तदा सर्वस्मात्प्रसङ्गान्निवृत्तिः । स्वयमपि निवृत्तिमुखी संयतैव स्यादिति ॥ १६ ॥

द्वादश वर्षाणि ब्राह्मणस्य विद्यासंबन्धे ॥ १७ ॥

विद्याधिगमार्थं प्रोषितस्य ब्राह्मणस्य भार्या द्वादश वर्षाणि क्षपयेत् । नापत्योत्पत्तिर्नाभिगमनम् ॥ १७ ॥

भ्रातरि चैवं ज्यायसि यवीयान्कन्याग्न्युपयमेषु ॥ १८ ॥

ज्येष्ठे भ्रातर्यकृतदारेऽनाहिताग्नौ च प्रोषिते कनीयान्भ्रातैवं द्वादश वर्षाणि प्रतीक्षेत ततः कन्यामुपयच्छेदग्नींश्चाऽऽदधीत । अत्र वासिष्ठो विशेषः–अष्टौ दश द्वादश वर्षाणि ज्येष्ठं भ्रातरमनिविष्टं न प्रतीक्षमाणः प्रायश्चित्तीयो भवतीति ।

द्वादशैव तु वर्षाणि ज्यायान्धर्मार्थयोगतः ।
न्याय्यः प्रतीक्षितुं भ्राता श्रूयमाणः पुनः पुनः ॥ इति च ॥ १८ ॥

षडित्येके ॥ १९ ॥

एके मन्यन्ते षडेव वर्षाणि प्रतीक्षेतेति । प्रोषिते चात्यन्तवृद्धे स्थिते चात्यन्तधर्मपर इदम् ॥ १९ ॥

गतं प्रासङ्गिकं पुनरपि स्त्रीधर्मानाह—

* इत उत्तरं ङ. च. पुस्तकयोः सूत्रमन्यत्:–'नष्टे भर्तरि षड्वार्षिकं पक्षगम् (क्षपणम्)' एतत्सूत्रं वर्तते ।

१ ग. पोषतः ।

त्रीन्कुमार्यृतूनतीत्य स्वयं युज्येतानिन्दितेनोत्सृज्य पित्र्यानलंकारान् ॥ २० ॥

यदि कन्यां पित्रादिर्न दद्यात्ततस्त्रीनृतूनतीत्य स्वयमेवानिन्दितेन कुलविद्याशीलादियुक्तेन भर्त्रा युज्येत पित्र्यान्पितृकुलायातानलंकारानुत्सृज्य ।

अत्र मनुः—अलंकारं नाऽऽददीत पित्र्यं कन्या स्वयंवरा ।
मातृकं भ्रातृदत्तं वा स्तेयं स्याद्यदि किंचन ॥ इति ॥ २० ॥

अत एव—

प्रदानं प्रागृतोः ॥ २१ ॥

ऋतुदर्शनात्प्रागेव देया कन्या ॥ २१ ॥

अप्रयच्छन्दोषी ॥ २२ ॥

तस्मिन्कालेऽप्रयच्छन्पित्रादिर्दोषवान्भवति । अत्र याज्ञवल्क्यः—
पिता पितामहो भ्राता सकुल्यो जननी तथा ।
कन्याप्रदः पूर्वनाशे प्रकृतिस्थः परः परः ॥
अप्रयच्छन्समाप्नोति भ्रूणहत्यामृतावृतौ ॥ इति ॥ २२ ॥

प्राग्वाससः प्रतिपत्तेरित्येके ॥ २३ ॥

एके मन्यन्ते यदा कन्या वासः प्रतिपद्यतेऽथवा लज्जते तावदेव प्रदेयेति ॥ २३ ॥

द्रव्यादानं विवाहसिद्ध्यर्थं धर्मतन्त्रसंयोगे च शूद्रात् ॥ २४ ॥

द्रव्यमननुज्ञातमपि शूद्राच्चैलादिकमादेयं विवाहसिद्ध्यर्थं यावता विवाहः सिध्यति तावत् । अधिके दोषः । तथा धर्मस्य पशुबन्धादेः प्रवृत्तस्य यत्तन्त्रमङ्गमश्वादि तस्य संयोगेऽविच्छेदसिद्ध्यर्थं यावता तन्निवर्तते तावदननुज्ञातमप्यादेयं शूद्रात् । अधिके दोषः ॥ २४ ॥

अन्यत्रापि शूद्राद्बहुपशोर्हीनकर्मणः ॥ २५ ॥

इतराभ्योऽपि दृश्यन्त इति पञ्चम्याख्रल् । शूद्रादन्यतोऽपि द्रव्यमादेयं स चेद्बहुपशुस्तथा हीनकर्मा भवति तदनुरूपं कर्म न करोति निषिद्धं वा कर्म सेवते । शूद्रग्रहणं विधिरयं यथा स्यादिति । तेन शूद्रालाभे वैश्यात् । तदलाभे क्षत्रियात् ॥ २५ ॥

उक्तमेवार्थमुदाहरणेन दर्शयति—

शतगोरनाहिताग्नेः ॥ २६ ॥

गोग्रहणमुपलक्षणम् । यस्तावद्द्रव्यो भवत्यग्नींश्च नाऽऽधत्ते निषिद्धकर्मसेवी तु दण्डापूपिकया व्याख्यातः ॥ २६ ॥

सहस्रगोश्चासोमपात् ॥ २७ ॥

पूर्वेण गतम् । यः सहस्रगुश्च भवति सोमं च न पिबति तस्मादिति ॥ २७ ॥

सप्तमीं चाभुक्त्वाऽनिचयाय ॥ २८ ॥

सप्तम्यर्थे द्वितीया । षट्सु वेलासु भोज्यालाभेनाभुक्त्वा सप्तम्यां वेलायां यावता वृत्तिस्तावदननुमतमप्यादेयम् । अनिचयः पुनस्तेन निचयो न कर्तव्यः । श्वो भोज्यमपि नाऽऽदेयम् । अत्र मनुः—

तथैव सप्तमे भक्ते भक्तानि षडनश्नता ।
अश्वस्तनविधानेन हर्तव्यं हीनकर्मणा ॥ इति ॥ २८ ॥

अप्यहीनकर्मभ्यः ॥ २९ ॥

अस्यामवस्थायामहीनकर्मभ्योऽप्यादेयम् । अपिशब्दः कथंचिदस्यानुज्ञातमिति दर्शयति । तेन प्राणसंशय एवेदं भवति ॥ २९ ॥

आचक्षीत राज्ञा पृष्टः ॥ ३० ॥

यद्यसावेवं कुर्वन्स्वामिभिर्गृहीतो राजसकाशं नीतस्तेन पृष्टः किमित्यमकार्षीरिति तदा स्वामवस्थामाचक्षीत । न तु मिथ्यावदेदिति॥३०॥

तेन हि भर्तव्यः श्रुतशीलसंपन्नश्चेत् ॥ ३१ ॥

हिश्चार्थे तेन च राज्ञा स न केवलमदण्ड्यः किं तर्हि तत आरभ्य भर्तव्यस्तवेयमवस्था मया न ज्ञातेति सान्त्वयित्वा स चेच्छ्रुतवृत्तशीलसंपन्नो भवति । श्रुतं शास्त्रपरिज्ञानं शीलं तदनुकूल आचारः । इतरोऽपि न दण्ड्यो भरणं तु तस्य तादृशं न कार्यम् । दण्डाभावः पूर्वयोरपि निमित्तयोः समानः ॥ ३१ ॥

धर्मतन्त्रपीडायां तस्याकरणे दोषः ॥ ३२ ॥

यदि पशुबन्धादौ धर्मे प्रवृत्तस्य तदङ्गं पश्वादि केनचिर्त्याटितं भवति

१ ग. ॰िमयं भैरवदा॰ ।

हृतमपहृतं वा तस्मिन्निवेदिते तदैव तस्य प्रतिविधानं कार्यं राज्ञा। अकरणे दोषो भवति।

इति श्रीहरदत्तविरचितायां गौतमसूत्रविवृतौ मिताक्षराया-मष्टादशोऽध्यायः ॥ १८ ॥

इति द्वितीय. प्रश्नः ।

---

अथैकोनविंशोऽध्यायः ।

---

पञ्चविधो धर्मः—वर्णधर्म आश्रमधर्म उभयधर्मो गुणधर्मो नैमित्तिकश्चेति। तत्र वर्णप्रयुक्तो धर्मो वर्णधर्म उपनयनं ब्राह्मणस्याष्टम इति। आश्रमप्रयुक्त आश्रमधर्मो ब्रह्मचर्यादिः समिदाधानादिरिति। उभयप्रयुक्त उभयधर्मो ब्राह्मणस्य ब्रह्मचारिणः पालाशो दण्ड इत्यादि। अभिषेकगुणयुक्तस्य प्रजापालनादिर्गुणधर्मः। ब्रह्महत्यादौ निमित्ते कर्तव्यो नैमित्तिको धर्मः प्रायश्चित्तम्। तत्र नैमित्तिकं वक्ष्यन्नुक्तमनुभाषते—

उक्तो वर्णधर्मश्चाऽऽश्रमधर्मश्च ॥ १ ॥

उभयधर्मगुणधर्मयोरप्युपलक्षणमेतत्। यद्यप्यन्यत्रोक्तं नानुभाष्यतेऽननुभाषणेऽपि वक्ष्यमाणं शक्यते वक्तुमिति तथाऽपीहानुभाष्यत आशङ्कानिवृत्त्यर्थम्। अन्यथोपरिष्टाद्वैविकानि पुनःस्तोमादीनि प्रायश्चित्तान्युदाहरिष्यन्ते तानि च शूद्रस्य न संभवन्त्यतस्तद्वदेव प्रायश्चित्तान्तराण्यपि शूद्रस्य न स्युरिति कश्चिदाशङ्केत। अपर आह—य उक्तो धर्मः स एव वर्णिनामाश्रमिणां च धर्मः। वक्ष्यमाणस्तु पुरुषमात्रधर्मः। यदाह—अथ खल्वयं पुरुषश्चेति। किं सिद्धं भवति। प्रतिलोमानामपि प्रायश्चित्तेष्वधिकारः सिद्धो भवति। यद्यपि तेषां भक्ष्याभक्ष्यविवेको नास्ति तथाऽपि गोब्राह्मणादिवधे ब्राह्मणस्वर्णादिहरणे च प्रायश्चित्तं भवत्येव। अकुर्वाणा एव तु प्रायश्चित्तं राज्ञा वध्याः। अहिंसासत्यास्तेयब्रह्मचर्यापरिग्रहादिर्मनुष्यमात्रधर्मा न वर्णेष्वाश्रमेषु वा नियताः। अतस्तदतिक्रमे युक्तमेव प्रायश्चित्तम्। यत्तु पूर्वमुक्तं प्रतिलोमास्तु धर्महीना इति तदैहिकामुष्मिकश्रेयःसाधनेषु कर्मस्वधिकारनिवृत्तिपरमिति ॥ १ ॥

प्रायश्चित्तस्य निमित्तान्याह—

अथ खल्वयं पुरुषो याप्येन कर्मणा लिप्यते यथैतदयाज्ययाजनमभक्ष्यभक्षणमवद्यवदनं शिष्टस्याक्रिया प्रतिषिद्धसेवनमिति ॥२॥

अथ खल्विति वाक्यालंकारे। अयं पुरुष इति संघातवर्तिनं प्रत्यगात्मानं निर्दिशति। याप्यं कुत्सितम्। याप्येन पापेन कर्मणा लिप्यते। तज्जन्येनाधर्मेण लिप्यमाने कर्मणा लिप्यत इति भाक्तो वादः। याप्यस्य कर्मण उदाहरणप्रपञ्चो यथैतदित्यादि। यथेत्युदाहरणे। अयाज्याः पतितादयस्तेषां याजनम्। अभक्ष्या लशुनादयस्तेषां भक्षणम्। अवद्यमनृतासभ्यादि तेषां वदनं कथनम्। शिष्टं विहितं संध्योपासनादि तस्याक्रियाऽकरणम्। प्रतिषिद्धस्य हिंसादेः सेवनं करणम्। इति समाप्तौ। एतावदेव याप्यं कर्मेति। प्रतिषिद्धसेवनमित्येव सिद्धेरयाज्ययाजनादिग्रहणं याजनाध्यापनप्रतिग्रहाः सर्वेषामित्यापद्यनुज्ञा तत्रापि प्रायश्चित्तार्थम्। तत्रोशना—आपद्विहितैः कर्मभिरापदं तीर्त्वा पुनस्तेषां प्रायश्चित्तं चतुर्भागं कुर्यादिति। अभक्ष्यभक्षणग्रहणमप्यापदि व्याध्यादौ लशुनादिभक्षणविषयं च। अवद्यवदनग्रहणं तु प्राणिनां तु वधो यत्र तत्र साक्ष्यनृतं वदेदित्यादिविषयं च। तथा यत्र ब्राह्मण इति ज्ञाते ताडयेयुरर्थं वा हरेयुस्तत्र तद्ग्रहणार्थम्। असभ्यानृतभाषणेनापि तं निवार्य पश्चात्तामापदं तीर्त्वा प्रायश्चित्तं चतुर्भागं चरेदिति ॥२॥

तत्र प्रायश्चित्तं कुर्यान्न कुर्यादिति मीमांसन्ते ॥ ३॥

तत्र तस्मिन्याप्यकर्मलोपे प्रायश्चित्तम्।

प्रायो नाम तपः प्रोक्तं चित्तं निश्चय उच्यते।
तपोनिश्चयसंयोगात्प्रायश्चित्तमिति स्मृतम् ॥

इत्येवंलक्षणं कर्तव्यं न कर्तव्यमिति विचारयन्ति ब्रह्मवादिनः॥३॥

तत्र केचित्—

न कुर्यादित्याहुः ॥ ४ ॥

तत्र हेतुः—

न हि कर्म क्षीयत इति ॥ ५ ॥

हिशब्दो हेतौ यस्मात्कृतं कर्म पुण्यं पापं च नान्तरेणोपभोगं क्षीयत इति। तथा च शास्त्रः—

यथा पृथिव्यां बीजानि रत्नानि निधयो यथा ।
एवमात्मनि कर्माणि तिष्ठन्ति प्रसवन्ति च ॥ इति ।

उत्पन्ने तु फले नश्यति यथा बीजमङ्कुरे । प्रायश्चित्तानि तु निमित्ते कर्मान्तराणि । यथा गृहदाहादौ क्षामवत्यादयः ॥ ५ ॥

कुर्यादित्यपरम् ॥ ६ ॥

कुर्यात्प्रायश्चित्तमित्यपरं दर्शनम् । नास्मात्परमस्तीत्यपरसिद्धान्तः॥६॥

तत्र प्रमाणत्वेन श्रुतिवाक्यान्युदाहरति—

पुनःस्तोमेनेष्ट्वा पुनःसवनमायान्तीति विज्ञायते ॥ ७ ॥

अप्रतिग्राह्याद्ब्रह्म प्रतिगृह्य पुनः स्तोमेन यजेतेति श्रूयते, अभक्ष्यभक्षणमवद्यवदनं पुनःस्तोमेन तरतीति च । असत्प्रतिग्रहादिदोषदूषिताः पुनस्तोमनाम्नैकाहेनेष्ट्वा पुनः सवनमायान्ति । सवनशब्देन कर्मोच्यते । पुनरपि श्रौतानि स्मार्तानि च कर्माण्यायान्त्याप्नुवन्ति तद्योग्या भवन्ति ॥ ७ ॥

व्रात्यस्तोमैश्चेष्ट्वा ॥ ८ ॥

पुनःसवनमायान्तीत्यनुषङ्गः । व्रात्या यथाकालमनुपनीताः । तेषां कर्तव्याः प्रायश्चित्तयागा व्रात्यस्तोमाः । बहुवचननिर्देशाद्बहवस्ते प्रत्येतव्याः ॥ ८ ॥

तरति सर्वं पाप्मानं तरति ब्रह्म-
हत्यां योऽश्वमेधेन यजते ॥ ९ ॥

इति चेति वक्ष्यमाणमपेक्ष्यते । विज्ञायत इत्यनुषङ्गः ॥ ९ ॥

अग्निष्टुताऽभिशस्यमानं याजयेदिति च ॥१०॥

अग्निष्टुन्नामैकाहस्तेनाभिशस्यमानं याजयेत् । अत्र पुनःस्तोमादीनां दोषनिर्घातार्थतया श्रुतत्वादुपभोगेनेव प्रायश्चित्तेनापि पापकं कर्म क्षीयते । शङ्खवचनं चाकृतप्रायश्चित्तविषयं पुण्यविषयं च । अथ कस्माद्वचनगम्येऽर्थे विचारः क्रियते कुर्यान्न कुर्यादिति । न ह्युपनयनादावेवं विचारः कृत इति उच्यते । प्रायश्चित्तस्तुत्यर्थोऽयं विचारः ॥ १० ॥

---

१८ प्रनारायो । २ ग °अप पु° ।

इदानीं येष्वाहत्य न प्रायश्चित्तं विहितं तेषु प्रायश्चित्तान्युपदिशति—

तस्य निष्क्रयणानि जपस्तपो होम उपवासो दानम् ॥ ११ ॥

तस्य याप्यस्य कर्मणो जपादीनि पञ्च निष्क्रयणानि शोधनानि॥११॥

तत्र जप इत्युक्तं जपानाह—

उपनिषदो वेदान्तः सर्वच्छन्दःसु संहिता मधून्यघमर्षणमथर्वशिरो रुद्राः पुरुषसूक्तं राजतरौहिणे सामनी बृहद्रथंतरे पुरुषगतिर्महानाम्नो महावैराजं महादिवाकीर्त्यं ज्येष्ठसाम्नामन्यतमद्बहिष्पवमानं कूष्माण्डानि पावमान्यः सावित्री चेति पावमानानि ॥ १२ ॥

उपनिषदो रहस्यब्राह्मणान्याध्यात्मिकानि । तद्व्यतिरिक्ता आरण्यकभागा वेदान्ताः । सर्वच्छन्दःसु सर्वेषु प्रवचनेषु संहिता संहितापाठो न पदक्रमादिपाठः । मधूनि मधुशब्दयुक्तानि यजूंषि ब्रह्मेतु मामित्यादीनि । अघमर्षणम् 'ऋतं च सत्यं च' इति सूक्तं षड्ऋचमघमर्षणेन ऋषिणा दृष्टम् । अथर्वशिरोऽथर्ववेदे प्रसिद्धम् । 'देवा ह वै स्वर्गं लोकमगमन्' इत्यादि । रुद्राः 'नमस्ते रुद्र मन्यवे' इत्याद्या अनुवाका एकादश, एकशतं यजुःशाखास्तासु सर्वासु पठ्यन्ते । पुरुषसूक्तम् 'सहस्रशीर्षा' इत्यादि । राजतरौहिणे सामनी 'इन्द्रं नरो नेमधिता हवन्ते' इत्यस्यामृचि गीयते । 'त्वामिद्धि हवामहे' इत्यस्यां बृहत् । 'अभि त्वा शूर नोनुमः' इत्यत्र रथंतरम् । 'अहमस्मि प्रथमजा ऋतस्य' इत्यस्यां पुरुषगतिः । महानाम्न्यः 'विदामघवन्' इत्याद्या ऋचः । महावैराजम् 'पिबा सोमम्' इत्यस्यां गीतं साम । महादिवाकीर्त्यम् 'विभ्राड्बृहत्पिबतु' इत्यस्याम् । ज्येष्ठसामानि तलवकारिणाम् 'उदुत्यं चित्रम्' इत्येतयोर्गीतानि । छन्दोगास्त्वाहुः 'मूर्धानं दिवः' इत्यस्यां गीतानि त्रीणि सामान्याज्यदोहादीनि ब्राह्मणे तथा श्रुतत्वात् । बहिष्पवमानम् 'उपास्मै गायता नरः' इत्येतासु गीतम् । कूष्माण्डानि तैत्तिरीयके स्वाध्यायब्राह्मणे 'यद्देवा देवहेडनं' 'यददीव्य ऋणाम' 'आयटे विश्वतोऽदधत' इति त्रयोऽनुवाकाः ।

पञ्चत्वाभिप्रायो नपुंसकनिर्देशः । तत्रैवाच्छिद्राख्ये प्रश्ने 'यद्देवा देवहेळनम्' इत्यनुवाके या ऋचस्ताः कूष्माण्डचः । पवमानः सोमो देवता यासां ताः पावमान्यः 'स्वादिष्ठया मदिष्ठया' इत्याद्या आ मण्डलसमाप्तेः । 'तत्सवितुर्वरेण्यम्' इत्येषा सावित्री प्रसिद्धा न या काचन सवितुर्देवत्या । इतिशब्दः प्रकारवचनः । एवंप्रकाराण्यन्यान्यपि पावमानानीति । तत्र मनुः—

कौत्सं जप्त्वाऽप इत्येतद्वासिष्ठं च त्र्यृचं प्रति ।
माहित्रं शुद्धवत्यश्च सुरापोऽपि विशुध्यति ॥
सकृज्जप्त्वाऽस्यवामीयां शिवसंकल्पमेव च ।
सुवर्णमपहृत्यापि क्षणाद्भवति निर्मलः ॥
हविष्पान्तीयमभ्यस्य न तमंह इतीति च ।
जप्त्वा तु पौरुषं सूक्तं मुच्यते गुरुतल्पगः ॥
सोमारौद्रं तु बह्वीनां मासमभ्यस्य शुध्यति । इत्यादि ।

प्रायश्चित्तप्रकरणे पुनः पावमानानीतिवचनात्प्रायश्चित्तव्यतिरेकेणाप्यृद्धिकामस्याहरहरेतानि जप्यानि ॥ १२ ॥

जपे प्रवृत्तस्याऽऽहारनियममाह—

पयोव्रतता शाकभक्षता फलभक्षता प्रसृतयावको हिरण्यप्राशनं घृतप्राशनं सोमपानमिति मेध्यानि ॥ १३ ॥

पयोव्रतता क्षीराहारता । व्रतग्रहणादुपवासन्यायेन । शाकं वास्तुकादि । फलं कदल्यादेः । प्रसृतयावकः प्रसृतपरिमितैर्यवैः पक्व ओदनः । तत्रौशनसो विशेषः प्रातः शुचिर्भूत्वोदितेषु नक्षत्रेषु ताम्रभाजने प्रसृतयावकं श्रपयेद्यथा यवागूर्भवति । तस्य श्रपणकाले रक्षां कुर्यात् । 'नमो रुद्राय भूताधिपतये पर्वतानां पतये त्वमिमं रक्षस्व' इति । शृतेऽवरोप्य देवस्य त्वा सवितुरित्यादिनोत्पूय ततोऽभिमन्त्रयेत्—

यवोऽसि धान्यराजोऽसि वारुणो मधुसंयुतः ।
निर्णोदः सर्वपापानां पवित्रमृषिभिः स्मृतम् ॥
वाचा कृतं कर्मकृतं मनसा दुर्विचिन्तनम् ।
अलक्ष्मीं कालकर्णीं च सर्वं पुनत मे यवाः ॥

---

१ ग. केन शाद्रका°। २ क. ख. घ. 'यथाभिमन्त्रयेत्'। ३ ग. सो विन°।

महापातकसंयुक्तं दारुणं राजकिल्बिषम् ।
बालवृत्तमधर्मं च सर्वं पुनत मे यवाः ॥
सुवर्णस्तैन्यमव्रत्यमयाज्यस्य च याजनम् ।
ब्राह्मणानां परीवादं सर्वं पुनत मे यवाः ॥
श्वसूकरावभूतं च काकाद्युच्छिष्टमेव च ।
मातापित्रोरशुश्रूषां सर्वं पुनत मे यवाः ॥
गणान्नं गणिकान्नं च शूद्रान्नं श्राद्धसूतकम् ।
चोरस्यान्नं तथाऽभक्ष्यं सर्वं पुनत मे यवा ॥ इत्येतैः षड्भिः।

ततो ब्रह्मा देवानामिति प्राश्य ततः प्राणाय स्वाहेत्यादिभिर्यथोक्तं सर्वं प्राश्नीयात्पक्वान्नम् । ततो नियमातिक्रमजात्प्रतिषिद्धसेवनजादभक्ष्यभक्षणजाच्च सर्वस्मात्पापात्प्रमुच्यते । सप्तरात्रं पीत्वा भ्रूणहत्यां गुरुतल्पं सुवर्णस्तैन्यं सुरापानं च पुनाति । एकादशरात्रं पीत्वा सर्वकृतं पापं नुदति । एकविंशतिरात्रं पीत्वा गणान्पश्यति गणाधिपतिं पश्यति विद्यां पश्यति विद्याधिपतिं पश्यति । एवमहरहरनन्याहारो यवागूं प्राश्नीयादिति । सर्पिरादौ हिरण्यं निघृष्य प्राशनं हिरण्यप्राशनम् । घृतप्राशनं प्रसिद्धम् । सोमपानं क्रतावुक्तम् । बहिरण्यन्ये । इतिकरणाद्यच्चान्यदेवमुक्तं पञ्चगव्यशङ्खपुष्पादि तस्य प्राशनं मेध्यं विज्ञेयम् ॥ १३ ॥

अथ जपादीनां स्थानमाह—

सर्वे शिलोच्चयाः सर्वाः स्रवन्त्यः पुण्या ह्रदास्तीर्थान्यृषिनिवासा गोष्ठपरिस्कन्धा इति देशाः ॥ १४ ॥

शिलोच्चयाः शैलाः । स्रवन्त्यो नद्यः । सर्वग्रहणात्पुण्यापुण्यविभागो नाऽऽदरणीयः । पुण्या ह्रदाः पुष्करिण्यादयः । प्रयागादीनि तीर्थानि । ऋषिनिवासा वसिष्ठादीनामाश्रमाः । गोष्ठं गवां स्थानम् । परिस्कन्धो देवालयः । इतिकरणान्नैमिषारण्यादीनि ॥ १४ ॥

व्याख्यातः सहपरिकरेण जपः । तपःस्वरूपमाह—

ब्रह्मचर्यं सत्यवचनं सवनेषूदकोपस्पर्शनमार्द्रवस्त्रताऽधःशायिताऽनाशक इति तपांसि ॥ १५ ॥

ब्रह्मचर्यं मैथुनत्यागः । सत्यवचनं दृष्टार्थवादित्वम् । सवनेषु प्रात-

१ ग °फराद° ।

मध्यंदिने सायं चोदकस्पर्शनं स्नानम्। आर्द्रवस्त्रता स्नानसमये परिहितस्य वाससस्तथैवापीडितस्य धारणम्। अधःशायिता स्थण्डिलशायिता। अशनमाशः स एवाऽऽशकस्तस्याभावोऽनाशकोऽनशनम्। अत्राऽपीतिकरणात्प्राणायामादीनां ग्रहणम्। अत्र मनुः—

सव्याहृतिकाः सप्रणवाः प्राणायामास्तु षोडश।
अपि भ्रूणहनं मासात्पुनन्त्यहरहः कृताः॥ इति।

होमाः कूष्माण्डगणहोमादयः प्रसिद्धत्वादिहानुक्ताः। तत्र श्रुतिः 'कूष्माण्डैर्जुहुयाद्योऽपूत इव मन्येत' इत्यादि। गणहोमस्तु बौधायनोक्तः—

क्षापवित्रं सहस्राक्षो मृगारोंऽहोमुचौ गणौ।
पावमान्यश्च कूष्माण्ड्यो वैश्वानर्य ऋचश्च याः॥
घृतौदनेन ता जुह्वत्सप्ताहं सवनत्रयम्।
मौनव्रती हविष्याशी निगृहीतेन्द्रियक्रियः॥
मुच्यते सर्वपापेभ्यो महतः पातकादपि॥ इति।

याज्ञवल्क्यः—यत्र यत्र च संकीर्णमात्मानं मन्यते जनः।

तत्र तत्र तिलैर्होमः सावित्र्याः प्रत्यहं जपः॥ इति।

मनुः—न सावित्रीसमं जप्यं नाऽऽव्याहृतिसमं हुतम्।
नान्नतोयसमं दानं न चाहिंसापरं तपः॥ इति।

उपवासो भक्तत्यागः। स एव तपःस्वपि पुनः पुनः पठ्यत आदरख्यापनार्थम्। अपर आह—निष्क्रयणेषु पठित उपवास इन्द्रियनिग्रहः।

व्यावृत्तस्यैव दोषेभ्यो यस्तु वासो गुणैः सह।
उपवासं तमाहुस्तु न शरीरस्य शोषणात्॥

इति पुराणे दर्शनादिति॥ १५॥

अथ देयान्याह—

हिरण्यं गौर्वासोऽश्वो भूमिस्तिला
घृतमन्नमिति देयानीति॥ १६॥

निगदव्याख्यातमेतत्॥ १६॥

अथ कियान्कालो जपादीनामित्यत आह—

संवत्सरः षण्मासाश्चत्वारस्त्रयो वा द्वौ वैकश्चतुर्विंशत्यहो द्वादशाहः षडहस्त्र्यहोऽहोरात्र इति कालाः ॥ १७ ॥

एतेषु यावता शुद्धो मन्यते तावान्कालः ॥ १७ ॥

एतान्येवाऽनादेशे विकल्पेन क्रियेरन् ॥ १८ ॥

एतान्येव जपादीनि निष्क्रयणान्यनादेशे यत्राऽऽहत्य प्रायश्चित्तमनिर्दिष्टं तत्र विषये विकल्पेन कर्तव्यानि। एवकारः पौनर्वचनिकः। तद्यथा देवदत्तो ग्रामं गच्छतु स एवारण्यमिति। किं सिद्धं भवति। येषु नियतेष्वाहत्य प्रायश्चित्तमुक्तं तेष्वप्यभ्यासानुबन्धादौ प्रतिपूरणापेक्षायां जपादीनामनुप्रवेशः सिद्धो भवति ॥ १८ ॥

किं तुल्यवद्विकल्पो नेत्याह—

एनःसु गुरुषु गुरूणि लघुषु लघूनि ॥ १९ ॥

अभिसंधिकृतमेनो गुरु तद्विपरीतं लघु। एवमभ्यासानुबन्धावपि द्रष्टव्यम्। यथाऽऽहाऽऽपस्तम्बः—यः प्रमत्तो हन्ति प्राप्तं दोषफलं सह संकल्पेन भूय एवमन्येष्वपि दोषवत्सु कर्मसु *तथा पुण्यफलेषु यथा कर्माभ्यास इति ॥ १९ ॥

कृच्छ्रातिकृच्छ्रौ चान्द्रायणमिति सर्वप्रायश्चित्तम् ॥ २० ॥

कृच्छ्रातिकृच्छ्रौ चान्द्रायणं चोपरिष्टाद्वक्ष्यन्ते। सर्वग्रहणान्न केवलमनादेशे। एतानि च गुरूण्येनांसि समस्तानि समुदितानि प्रायश्चित्तं लघून्येकमेकं लघुतरेऽतिकृच्छ्रो लघुतमे कृच्छ्रः। मनुरप्याह—

संवत्सरस्यैकमपि चरेत्कृच्छ्रं द्विजोत्तमः।
अज्ञातभुक्तशुद्ध्यर्थं ज्ञातस्य तु विशेषतः ॥ इति।

इतिकरणाद्यच्चान्यदेवमुक्तम्। तत्र मनुः—

यतात्मनोऽप्रमत्तस्य द्वादशाहमभोजनम्।
पराको नाम कृच्छ्रोऽयं सर्वपापप्रणाशनः ॥ इति ॥ २० ॥

इति श्रीहरदत्तविरचितायां गौतमीयधर्मशास्त्रे मिताक्षरायामेकोनविंशोऽध्यायः ॥ १९ ॥

---

* आपस्तम्बसूत्रे तु—तथा पुण्यक्रियासु इति वर्तते।

## अथ विंशोऽध्यायः ।

अथ यो याप्यं कर्म कृत्वाऽपि प्रायश्चित्तं न प्रतिपद्यते स किं कर्तव्यः । त्याज्य इत्याह—

त्यजेत्पितरं राजघातकं शूद्रयाजकं शूद्रार्थयाजकं वेदविप्लावकं भ्रूणहनं यश्चान्त्यावसायिभिः सह संवसेदन्त्यावसायिन्यां वा ॥ १ ॥

राजाऽत्राभिषिक्तो न जातिमात्रोपजीवी । तं हतवान्राजघातकः । शूद्रं यो याजयत्येतया निषादस्थपतिं याजयेदित्यादौ विषये स शूद्रयाजकः । यः शूद्रादर्थमधिगम्य यजते स शूद्रार्थयाजकः । अनध्यायानध्याप्याध्ययनादिना यो वेदं विप्लावयति व्याकुली करोति स वेदविप्लावकः । भ्रूणहा ब्रह्महा । एतन्महापातकिनामप्युपलक्षणम् ।

चण्डालः श्वपचः क्षत्ता सूतो वैदेहिकस्तथा ।
मागधायोगवौ चैव सप्तैतेऽन्त्यावसायिनः ॥ इत्यङ्गिराः ॥

तैः सहैकस्मिन्स्थाने यो यो वसति स तथोक्तः । अन्त्यावसायिन्याम् । यः सह वसतीत्यपेक्षते । तस्यां संवासो मैथुनाचरणम् । एतेषु निमित्तेषु पितरमपि त्यजेत् । पितृग्रहणात्किमुत पुत्रादिकमिति ॥१॥

अथ त्यागप्रकारः—

तस्य वियागुरून्योनिसंबन्धांश्च संनिपात्य सर्वाण्युदकादीनि प्रेतकार्याणि कुर्युः ॥ २ ॥

तस्य त्याज्यस्य ये विद्यागुरव आचार्यगुरूपाध्याया योनिसंबन्धा मातुलादयस्तान्सर्वान्संनिपात्यैकत्र समवेतान्कृत्वोदकादीनि श्राद्धान्तानि सर्वाणि प्रेतकर्माणि कुर्युः । के । पुत्रादयो ज्ञातयः । पितरमित्युपक्रमाद्बहुवचननिर्देशाच्च ॥ २ ॥

पात्रं चास्य विपर्यस्येयुः ॥ ३ ॥

अस्य त्याज्यस्य पात्रं किंचित्कल्पयित्वा त एव विपर्यस्येयुः । विपर्यासोऽधोमुखीकरणम् । यथा तदनुदकं भवति ॥ ३ ॥

---

१ ग. 'त तिर्यश्चिकानि ।

तत्र प्रकारः--

दासः कर्मकरो वाऽवकरादमेध्यपात्रमानीय दासी-
घटात्पूरयित्वा दक्षिणामुखो यदा विपर्यस्येदमु-
कमनुदकं करोमीति नामग्राहम् ॥ ४ ॥

दासः प्रसिद्धः कर्मकरो भृतकः । तयोरन्यतरोऽवकरादवस्करात् । वर्चस्केऽवस्करः । अमेध्यात्स्थानादशुचि पात्रं किंचिदुपादाय येन दास्युदकमाहरति तस्माद्घटाद्गृहीतेनोदकेन पूरयित्वा दक्षिणामुखो भूत्वा यदाऽपसव्येन विपर्यस्येदपसव्यमधोमुखं विक्षिपेत् । तत्र मन्त्रः- अमुकमनुदकं करोमीति । नामग्राहम् । अमुकमिति स्थाने त्याज्यस्य नाम द्वितीयान्तं गृहीत्वा । नाम्न्यादिशिग्रहोरिति णमुल् । ग्रह इति पाठे नाम्नो ग्रहणं कर्तव्यमित्यर्थः । ग्राह इति पाठे रूपसिद्धिश्चिन्त्या ॥ ४ ॥

तं सर्वेऽन्वालभेरन्प्राचीनावीतिनो मुक्तशिखाः ॥ ५ ॥

तं विपर्यस्यन्तं सर्वे ज्ञातयः प्राचीनावीतिनो मुक्तशिखाः सन्तोऽन्वालभेरन्स्पृशेयुः ॥ ५ ॥

विद्यागुरवो योनिसंबन्धाश्च वीक्षेरन् ॥ ६ ॥

न तु संस्पृशेयुः ॥ ६ ॥

अप उपस्पृश्य ग्रामं प्रविशन्ति ॥ ७ ॥

एवमिदं कर्म कृत्वाऽप उपस्पृश्य स्नात्वा ग्रामं संविशन्ति प्रविशेयुः । अत एव ज्ञायते ग्रामाद्बहिरिदं कर्मेति ॥ ७ ॥

अत उत्तरं तेन संभाष्य तिष्ठेदेकरात्रं
जपन्सावित्रीमज्ञानपूर्वम् ॥ ८ ॥

अतस्त्यागादूर्ध्वं तेन त्यक्तेन सह संभाषणमज्ञानात्कृत्वैकमहोरात्रं तिष्ठेन्न भुञ्जीत न शयीत नाऽऽसीतेति । अज्ञानपूर्वमितिवचनादेकवचननिर्देशाच्च ज्ञातिव्यतिरिक्तस्यापीदं भवति ॥ ८ ॥

ज्ञानपूर्वं च त्रिरात्रम् ॥ ९ ॥

यस्तु तन ज्ञानपूर्वं संभाषते स त्रिरात्रमुक्तक्रमेण तिष्ठेत् । कार्याकार्यनिरूपणादाविदम् । परिभाषादौ तु पराशरोक्तम्—

क्षुते निष्ठीवने चैव दन्तस्पृष्टे तथैव च ।
पतितानां च संभाषे दक्षिणं श्रवणं स्पृशेत् ॥ इति ॥ ९ ॥

यस्तु प्रायश्चित्तेन शुध्येत्तस्मिञ्शुद्धे शातकुम्भमयं पात्रं पुण्यतमाद्ध्रदात्पूरयित्वा स्रवन्तीभ्यो वा तत एनमप उपस्पर्शयेयुः॥१०॥

प्रायश्चित्तेनेतिवचनाद्राजदण्डेन शुद्धस्य वक्ष्यमाणस्वीकरणविधिर्न भवति तस्य केवलं परत्रैव शुद्धिः ।

राजभिर्धृतदण्डास्तु कृत्वा पापानि मानवाः ।
निर्मलाः स्वर्गमायान्ति सन्तः सुकृतिनो यथा ॥ इति ।

तस्मिँल्लोकसमक्षं शुद्धे शातकुम्भमयं सौवर्णं पात्रं पुण्यतमाद्ध्रदान्नदीभ्यो वाऽऽहृतेन जलेन पूरयित्वा ततस्तस्मादावर्जिता अप एनं चरितप्रायश्चित्तमुपस्पर्शयेयुस्ताभिरद्भिः स्नापयेयुर्ज्ञातयः ॥ १० ॥

अथास्मै तत्पात्रं दद्युस्तत्संप्रतिगृह्य जपेच्छान्ता द्यौः शान्ता पृथिवी शान्तं शिवमन्तरिक्षं यो रोचनस्तमिमं गृह्णामीति ॥ ११ ॥

अथ स्नापनानन्तरमस्मै स्नाताय तत्सौवर्णं पात्रं दद्युर्ज्ञातयः । स च तत्पात्रं प्रतिगृह्य जपेच्छान्ता द्यौरित्यादि गृह्णामीत्यन्तम् ॥ ११ ॥

एतैर्यजुर्भिः पावमानीभिस्तरत्समन्दीभिः कुष्माण्डैश्चाऽऽज्यं जुहुयाद्धिरण्यं ब्राह्मणाय दद्यात् ॥१२ ॥

होमान्ते दानम् ॥ १२ ॥

गां वा ॥ १३ ॥

इच्छातो विकल्पः ॥ १३ ॥

आचार्याय च ॥ १४ ॥

य आत्मन आचार्यस्तस्मा अपि हिरण्यं दद्याद्गां वा ॥ १४ ॥

यस्य तु प्राणान्तिकं प्रायश्चित्तं स मृतः शुध्येत् ॥ १५ ॥

उत्तरविवक्षयेदमुच्यते । प्रायश्चित्तस्य शुद्ध्यर्थत्वादेव सिद्धा शुद्धिः ॥ १५ ॥

सर्वाण्येव तस्मिन्नुदकादीनि प्रेतकर्माणि कुर्युः ॥ १६ ॥

यद्यपि तस्य नास्मिँल्लोके प्रत्यापत्तिस्तथाऽपि मरणादेव शुद्ध इति सर्वाण्येव प्रेतकर्माणि कर्तव्यानि । सर्वग्रहणादाशौचमपि । योऽपि द्वादशवार्षिकादौ प्रायश्चित्ते प्रवृत्तो मध्ये म्रियते तद्विषये व्यास आह—

यजमानः सदा धर्म्ये म्रियते यदि मध्यतः ।
प्राप्नोत्येव तु तत्सर्वमत्र मे नास्ति संशयः ॥ इति ॥ १६ ॥

एतदेव शान्त्युदकं सर्वेपूपपात-
केषु सर्वेपूपपातकेषु ॥ १७ ॥

एतदेवानन्तरोक्तं शान्ता द्यौरित्यादिभिरभिमन्त्रितं सर्वेपूपपातकेषु कर्तव्यं प्रायश्चित्तस्यान्ते । आर्द्रावित्यन्ये । द्विरुक्तिः पूर्ववत् ॥ १७ ॥

इति श्रीहरदत्तमिश्रविरचितायां गौतमसूत्रविवृतौ मिताक्ष-
रायां विंशोऽध्यायः ॥ २० ॥

---

अथैकविंशोऽध्यायः ।

---

पतितानां त्यागविधिरुक्तः के पुनस्ते तानाह—

ब्रह्महसुरापगुरुतल्पगमातृपितृयोनिसंबन्धागस्तेननास्तिकनि-
न्दितकर्माभ्यासिपतितात्याग्यपतितत्यागिनः पतिताः ॥ १ ॥

ब्राह्मणस्य हन्ता ब्रह्महा ।

गौडी माध्वी च पैष्टी च विज्ञेया त्रिविधा सुरा ।
यथैवैका न पातव्या तथा सर्वा द्विजोत्तमैः ॥ इति मनुः ।

तत्र या यस्य सुरा प्रतिपिद्धा स तस्याः पाता सुरापः । गुरुः पिताऽऽचार्यश्च । तल्पशब्देन भार्या लक्ष्यते । गमनं मैथुनम् । मातृसंबन्धा मातृपक्षे प्राक्पञ्चमाद्भवाः । पितृसंबन्धाः पितृपक्षेऽर्वाक्सप्तमाद्भवाः । योनिसंबन्धा भगिन्यादयः । य एता भार्यात्वेनाधिगच्छति स मातृपितृयोनिसंबन्धगः । स्तेनो ब्राह्मणसुवर्णापहारी । नास्तिकः प्रेत्यभावापवादी । निन्दितं प्रतिपिद्धं तस्य कर्मणो बुद्धिपूर्वं सातत्येनानुष्ठाता निन्दितकर्माभ्यासी । पतितानेव सतः पुत्रादीन्स्नेहादिना यो न त्यजति स पतितात्यागी । यस्त्वपतितानेव द्वेषादिना त्यजति सोऽपतितत्यागी । एते ब्रह्महादय पतिताः ॥ १ ॥

पातकसंयोजकाश्च ॥ २ ॥

पातकैः कर्माभर्ये परान्संयोजयन्ति तत्र प्रवर्तयन्ति द्रव्यप्रदानादिना मच्छत्रुमित्थं व्यापादय त्वच्छत्रोर्व्यापादनेऽयमभ्युपाय इति । तथा केनचिज्जिघांसितं पलायमानं यो निवारयति निवारितश्च हन्यते सोऽपि प्रयोजकः । यस्यानुमतिमन्तरेणार्थो न निवर्तते स मन्ता । स इह पृथङ्नोपादीयते प्रयोजककोटिरेवायमिति । आपस्तम्बस्तु कियताऽप्यवान्तरभेदेन तमेव पृथगुदितवान्—प्रयोजिता मन्ता कर्ता चेति स्वर्गनरकफलेषु कर्मसु भागिनो यो भूय आरमते तस्मिन्फलविशेष इति ॥ २॥

तैश्चाब्दं समाचरन् ॥ ३ ॥

तैः पतितैः सह योऽब्दं समाचरति यानासनशयनादीनि सोऽपि पतितः । अत्र कण्वः—संवत्सरेण पतति पतितेन समाचरन् ।

यानासनाशनैर्नित्यमित्याहुर्ब्रह्मवादिनः ॥ इति ।

याजनादौ तु याज्ञवल्क्य आह—

याजनं योनिसंबन्धं स्वाध्यायं सहभोजनम् ।
कृत्वा सद्यः पतत्येव पतितेन समाचरन् ॥ इति ।

सहभोजनमेकस्मिन्पात्रे ।

संवत्सरेण पतति पतितेन समाचरन् ।
याजनाध्यापनाद्यौनात्र तु यानासनाशनात् ॥

इति मानवमप्येवं व्याख्येयं यानादिभिः संवत्सरेण पतति न तु याजनादिभिः किंतु तैः सद्य एवेति ॥ ३ ॥

किं पुनरेषां पतितत्वम्—

द्विजातिकर्मभ्यो हानिः पतनम् ॥ ४ ॥

द्विजातीनां यानि कार्याण्यध्ययनादीनि श्रौतानि गार्ह्याणि स्मार्तानि च तेभ्यो हानिस्तेष्वनधिकारः ॥ ४ ॥

तथा परत्र चासिद्धिः ॥ ५ ॥

यान्यनेन प्रागर्जितानि कुशलानि कर्माणि तान्यप्यस्य परत्र न सिध्यन्ति फलदानि न भवन्ति । तदेतदेताभ्यां पतितशब्दस्य निर्वचनं कृतं कर्तव्येभ्यः कर्मभ्यः पूर्वार्जितानां सुकर्मणां फलेभ्यश्च पातः प्रच्यवनं पतितत्वमिति ॥ ५ ॥

तमेके नरकम् ॥ ६ ॥

येयं कर्मभ्यो हानिर्या च परत्रासिद्धिस्तामेवैके नरकं मन्यन्ते । नरकसामानाधिकरण्यात्पुंलिङ्गमेकवचनं च । कर्मभ्यो हीनस्य बन्धुभिस्त्यक्तस्य दुःखमुत्पद्यते परत्रासिद्धेः सुखलवो न भवत्यतो नरक एवायमिति । स्वमतं तु विशिष्टे देशे दुःखैकतानस्य वासो नरक इति ॥ ६ ॥

त्रीणि प्रथमान्यनिर्देश्यान्यनु ॥ ७ ॥

अनुक्रान्तानां पातकानां मध्ये प्रथमानि त्रीणि ब्रह्महत्यासुरापानगुरुतल्पगमनान्यनिर्देश्यान्यनिर्देश्यप्रायश्चित्तानि तेषां प्रायश्चित्तमनिर्देश्यमिति । मनुराह—

कामतो ब्राह्मणवधे निष्कृतिर्न विधीयते । इति ब्रह्मवधे ।

सुरापाने—

मतिपूर्वमनिर्देश्यं प्राणान्तिकमिति स्थितिः । इति । गुरुतल्पे मृग्यम् ॥ ७ ॥

न स्त्रीष्वगुरुतल्पं पततीत्येके ॥ ८ ॥

एके मन्यन्ते स्त्रीषु प्रवृत्तो गुरुतल्प एव पतितो नान्यत्रेति । स्वयं त्वन्यत्रापि पततीति आह मनुरपि—

---

१ ग. °सिद्धये सु°। २ क. ख. घ. मृग्या ।

चाण्डालान्त्यस्त्रियो गत्वा भुक्त्वा च प्रतिगृह्य च ।
पतत्यज्ञानतो विप्रो ज्ञानात्साम्यं तु गच्छति ॥ इति ॥ ८॥

अथ स्त्रियाः पतनहेतुमाह—

भ्रूणहनि हीनवर्णसेवायां च स्त्री पतति ॥ ९ ॥

भ्रूणहेति भावपरम् । भ्रूणो गर्भः । आत्मापेक्षायां गर्भहत्यायां स्त्री पतति । यो हीनवर्णो ब्राह्मण्याः क्षत्रियादिः क्षत्रियाया वैश्यादिर्वैश्यायाः शूद्रस्तत्सेवायां च स्त्री पतति । चकाराद्ब्रह्महत्यादिषु च । अपर आह— भ्रूणहनं हीनवर्णं च या सेवते न तस्य भार्या भवति सा पतति । चकाराद्ब्रह्महत्यादिषु चेति । भ्रूणहग्रहणं पतितोपलक्षणम् ॥ ९ ॥

कौटसाक्ष्यं राजगामि पैशुनं गुरोरनृता-
भिशंसनं महापातकसमानि ॥ १० ॥

कूटसाक्षिणो भावः कौटसाक्ष्यं साक्षिणोऽनृतवचनम् । सतोऽसतो वा परदोषस्य ख्यापनं पैशुनम् । राजनीति वक्तव्ये राजगामीति वचनं यत्रोक्तं पारम्पर्येणापि राजानं गच्छति तदपि वर्ज्यमित्येवमर्थम् । गुरोः पितुराचार्यस्य वाऽनृतेनासत्येन दोषेणाभिशंसनं दुष्टत्वाख्यापनं गुरोरनृताभिशंसनम् । एतानि [महा]पातकसमानि । साम्यातिदेशे प्रायश्चित्तमर्धमिति स्मार्तो व्यवहारः ॥ १० ॥

अपङ्क्त्यानां प्राग्दुर्वालाद्गोहन्तृब्रह्मघ्नतन्मन्त्र-
कृदवकीर्णिपतितसावित्रीकेषूपपातकम् ॥ ११ ॥

स्तेनादयो गीतशीलान्ता एकपञ्चाशन्न भोजयितव्या इत्युक्ताः श्राद्धप्रकरणे ऽपङ्क्त्यास्तेषामपङ्क्त्यानां मध्ये दुर्वालात्प्राग्यावन्तस्त्यक्तात्मपर्यन्ता एकत्रिंशत्तेषु पतितः कूटसाक्षी चान्तर्भूतस्तत्र पतितस्य पतितत्वं कूटसाक्षिणस्तत्साम्यमुक्तं व्यतिरिक्तेषूपपातकं पापम् । नास्तिकोऽपि तेषु पठितः स च त्रिविधः । यथाऽऽहुः पौराणिकाः—

नास्तिका त्रिविधा ज्ञेया धर्मज्ञैस्तत्त्वदर्शिभिः ।
क्रियादुष्टो मनोदुष्टो वाग्दुष्टश्चेति ते त्रयः ॥ इति ।

अत्र वाग्दुष्ट उपपातकोऽभिप्रेतः। इतरयोः पातक एव। गोहन्ता हननं दण्डकाष्ठादिना ताडनम्। ब्रह्म वेदस्तमधीतं यः प्रमादादमिहतवान्विस्मृतवान्स ब्रह्मघ्नः। बुद्धिपूर्वे मानवम्—

ब्रह्मघ्नत्वं वेदनिन्दा कौटसाक्ष्यं सुहृद्वधः।
गर्हितान्नाद्ययोर्जग्धिः सुरापानसमानि षट्॥ इति।

तन्मन्त्रकृद्गोहन्तृब्रह्मघ्नयोर्याजनादिकृत्। यो ब्रह्मचारी स्त्रियमुपेयात्सोऽवकीर्णी। अस्यापङ्क्त्येषु पठितस्य पुनर्वचनं कृतेऽप्यवकीर्णिप्रायश्चित्ते पृथगुपपातकप्रायश्चित्तमपि कर्तव्यमित्येवमर्थम्। एतच्चापत्योत्पादनपर्यन्तगमने द्रष्टव्यम्। पतितसावित्रीको यथाकालमनुपनीतो व्रात्यः। एतेषूपपातकं पापमिति॥ ११॥

अज्ञानादनध्यापनादृत्विगाचार्यौ पतनीयसेवायां च हेयौ॥ १२॥

अज्ञानादनध्यापनादिति। यदि कर्मणि प्रवृत्त ऋत्विङ्मन्त्रान्कर्मपद्धतिं वा न जानाति स च, य आलस्यादिना नाध्यापयत्याचार्यस्तावुभौ हेयौ त्याज्यौ। इदं पतितेन सह शयनासनादेः सेवायां प्रागप्यब्दात्परित्यागार्थम्। तर्हि संवत्सरेण पततीति वचनमनर्थकम्। न तादृशस्त्यागोऽत्र विवक्षितः। किं तर्ह्यृत्विगाचार्यान्तरमुपादेयम्। अनुपादाने दोष इति॥ १२॥

अन्यत्र हानात्पतति॥ १३॥

अन्यत्राज्ञानादनध्यापनादन्यत्र तयोस्त्यागो न कर्तव्यः। कुर्वन्पतति॥ १३॥

तस्य च प्रतिग्रहीतेत्येके॥ १४॥

तस्यर्त्विजमाचार्यमीदृशं त्यजतः प्रतिग्रहीता तं यः प्रतिगृह्णाति याज्यत्वेन शिष्यत्वेनर्त्विगाचार्यौ वा सोऽपि पततीत्येके मन्यन्ते। एकेग्रहणाज्ज्ञात्वा प्रतिग्रहे पातित्यं नान्यत्रेति॥ १४॥

न कर्हिचिन्मातापित्रोरवृत्तिः॥ १५॥

न कस्यांचिदप्यवस्थायां मातापित्रोरवृत्तिरशुश्रूषा कर्तव्या किंतु कर्तव्येति। पतितयोरपि तयोर्नमस्कारादिका शुश्रूषा कर्तव्या। तथाचाऽऽ-

१ ग °र्त्वग°।

पस्तम्बः—माता पुत्रस्य भूयांसि कर्माण्यारभते तस्यां शुश्रूषा नित्या पतितायामपीति ॥ १५ ॥

दायं तु न भजेरन् ॥ १६ ॥

तदीयं तु धनं तदभावे न भजेरन्पुत्रादयः । राजगामि तद्भ-वति ॥ १६ ॥

ब्राह्मणाभिशंसने दोषस्तावान् ॥ १७ ॥

यो ब्राह्मणमभिशंसति तस्य सन्तं दोषं प्रथमं ख्यापयति तस्य दोषस्तावान्भवति यावान्कर्तुरिति । यथाऽऽहाऽऽपस्तम्बः—

दोषं दृष्ट्वा न पूर्वः परेभ्यः पतितस्य समाख्याने स्याद्वर्जयेत्त्वेनं धर्मेषु । इति ॥ १७ ॥

द्विरनेनसि ॥ १८ ॥

अनेनसि विषये दोषाभिशंसने द्विर्दोषोऽस्य भवति । द्विर्द्विगुणः । अत्राभिशंसनमात्रे दोष उक्तः । मानवे तु—

पतितं पतितेत्युक्त्वा चोरं चोरेति वा पुनः ।
वचनात्तुल्यदोषः स्यान्मिथ्या द्विर्दोषभाग्भवेत् ॥ इति ।

पातित्यचौर्यविषयमभिशंसनमुक्तम् । वसिष्ठस्तु—ब्राह्मणमनृतेनाभि-शस्य पतनीयेनोपपतनीयेन वा मासमब्भक्षः शुद्धवतीरावर्तयेत्पूतो भवतीति विज्ञायते ॥ १८ ॥

दुर्बलहिंसायां च विमोचने शक्तश्चेत् ॥ १९ ॥

दुर्बले प्रबलेन हिंस्यमाने यः शक्तः सन्न मोचयति तस्यापि तावा-न्दोषो यावान्हिंसितुः ॥ १९ ॥

अभिक्रुद्धावगोरणं ब्राह्मणस्य वर्षशतमस्वर्ग्यम् ॥ २० ॥

योऽभिक्रुद्धः सन्ब्राह्मणं प्रहर्तुं हस्तमायुधं वाऽवगुरत उद्यम्य कम्प-यति तस्य तदवगोरणं वर्षाणां शतमस्वर्ग्यं भवति स्वर्गप्राप्तिं निरुणद्धि तन्निमित्तानि सुकृतानि हन्तीत्यर्थः । अस्वर्ग्यमिति नरकपातो वा लक्ष्यते । सजातीयविषयमिदम् । विजातीयविषये तु—

द्विगुणं त्रिगुणं चैव चतुर्गुणमथापि च ।
क्षत्रविट्शूद्रजातीनां ब्राह्मणस्य वधे स्मृतम् ॥ इति ।

अनेनैव न्यायेन ब्राह्मणेनावगोरणे कृते त्रिपाद्यं द्विपाद्यं पाद्यं पादश्चेति क्षत्रियादिषु द्रष्टव्यम् । एवमन्यत्रापि प्रतिलोमानुलोमभेदेनाधरोत्तरभावे तारतम्यं कल्प्यम् ॥ २० ॥

निघाते सहस्रम् ॥ २१ ॥

यः स्वर्णेन हन्ति तस्य वर्षसहस्रमस्वर्ग्यम् । उपसमस्तं वर्षपदमपेक्ष्यते ॥ २१ ॥

लोहितदर्शने यावतस्तत्प्रस्कन्य पांसून्संगृह्णीयात् ॥ २२ ॥

यदि तेन निघातेन लोहितमुत्पादयेत्ततस्तल्लोहितं प्रस्कन्द्य निःसृत्य यावतः पांसून्संगृह्णीयात्पिण्डान्कुर्यात्तावन्ति वर्षाणि तदस्वर्ग्यं भवति । तस्माद्ब्राह्मणाय नावगुरेत न निहन्यान्न लोहितं कुर्यादिति गम्यमानत्वादनुक्तम् ॥ २२ ॥

इति श्रीहरदत्तकृतायां गौतमीयधर्मशास्त्रे मिताक्षरायामेकविंशोऽध्यायः ॥ २१ ॥

---

अथ द्वाविंशोऽध्यायः ।

---

एवं प्रायश्चित्तनिमित्तान्युक्तानि । अथ प्रायश्चित्तान्युच्यन्ते—

प्रायश्चित्तम् ॥ १ ॥

अधिकारोऽयम् । निश्चत्य तपसोऽनुष्ठानं प्रायश्चित्तम् ।
तथा चाङ्गिराः—

प्रायो नाम तपः प्रोक्तं चित्तं निश्चय उच्यते ।
तपोनिश्चयसंयोगात्प्रायश्चित्तमिति स्मृतम् ॥ इति ॥ १ ॥

अग्नौ सक्तिर्ब्रह्मघ्नस्त्रिरवच्छातस्य ॥ २ ॥

सक्तिः सङ्गः पतनम् । अवच्छातोऽवशीर्णो भक्तत्यागेन कृशीभूतः ।

---

१ क. ख घ 'ठोमादुत्तरो' । ग. ए. एतन्नै भनेम६ ।

ब्रह्महा भक्तत्यागेन कृशो भूत्वाऽग्नौ त्रिः पतेदुत्थायोत्थाय । इदमस्य प्रायश्चित्तम् । अत्र मानवो विशेषः—

प्रास्येदात्मानमग्नौ वा समिद्धे त्रिरवाक्शिराः ॥ इति ।

काठकश्रुतिः—" अनशनकर्शितोऽग्निमारोहेत् " इति ।

नेदं मरणान्तिकं त्रिरिति नियमात् । त्रिः पतने जीवन्नपि शुध्यतीति ॥ २ ॥

लक्ष्यं वा स्याज्जन्ये शस्त्रभृताम् ॥ ३ ॥

जन्यं युद्धम् । शस्त्रभृत इष्वासा लक्ष्यमिति वचनाद्युद्ध इष्वासानामिषूनस्यतां मध्ये लक्ष्यं वेध्यं भूत्वा तिष्ठेत् । तैर्विद्धो जीवन्मृतो वा शुध्यति । याज्ञवल्क्यः—

सङ्ग्रामे वा हतो लक्ष्यभूतः शुद्धिमवाप्नुयात् ।
मृतकल्पः प्रहारार्तो जीवन्नपि विशुध्यति ॥ इति ॥ ३ ॥

खट्वाङ्गकपालपाणिर्वा द्वादश संवत्सरान्ब्रह्मचारी भैक्षाय ग्रामं प्रविशेत्कर्माऽऽचक्षाणः ॥ ४ ॥

खट्वाङ्गं पाशुपतानां प्रसिद्धम् । कपालं स्वव्यापादितस्य ब्राह्मणस्य शिरः कपालं ते पाण्योर्यस्य स खट्वाङ्गकपालपाणिः । खट्वाङ्गं दक्षिणे पाणौ कपालं सव्ये भिक्षार्थं पानीयपानार्थं भोजनार्थं च । तत्राऽऽपस्तम्बः—पुरुषशिरः प्रतिपानार्थमादाय खट्वाङ्गं दण्डार्थमिति । मनुस्तु—कृत्वा शवशिरोध्वजम् । इति । तस्मिन्पक्षे खट्वाङ्गस्याग्रे ध्वजः । तन्मूले शवशिरः । भिक्षाचरणं तु लोहितेन खण्डशरावेणाऽऽपस्तम्बीयदर्शनात् । एवंभूतो भैक्षाय ग्रामं प्रविशेत् । एतावानस्य ग्रामे प्रवेशोऽन्यदाऽरण्ये । भैक्षं च कर्माऽऽचक्षाणश्चरेत् ।

वेश्मनो द्वारि तिष्ठामि भिक्षार्थी ब्रह्मघातकः । इति पराशरः ।

द्वादश संवत्सरानेवं चरन्ब्रह्मचारी भवेत् । स्त्रीषु न प्रसजेत् । भिक्षाचरणे सप्तागाराण्यसंकल्पितानीत्यापस्तम्बः । संवर्तस्तु—

भिक्षादि प्रविशेद्ग्रामं वन्यैर्यदि न जीवति । इति ।

एककालाहार इति वसिष्ठः ॥ ४ ॥

पथोऽपक्रामेत्संदर्शनादार्यस्य ॥ ५ ॥

आर्यस्त्रैवर्णिकस्तस्मिन्दृष्टे पथोऽपक्रामेदपयायात्। अत्र व्याघ्रः—

चाण्डालं पतितं दृष्ट्वा दूरतः परिवर्जयेत्।
गोबालव्यजनादर्वाक्सचैलं स्नानमाचरेत् ॥ इति।

शूद्रोऽपि स्पर्शं वर्जयेत्। यथाऽऽह लौगाक्षिः—

महापातकिसंस्पर्शे वर्णानां स्नानमुच्यते।
अस्नात्वा भोजने चैव सप्तरात्रं समाविशेत् ॥
त्रिरात्रं स्यादमत्या चेच्छङ्खपुष्पीशृतं पयः।
एवमार्तविचण्डालशवानामपि कीर्तयेत् ॥ इति।

स्थानासनाभ्यां विहरन्सवनेषूदकोपस्पर्शी शुध्येत् ॥ ६ ॥

तिष्ठेदहनि रात्रावासीत यथाशक्ति प्रातर्मध्यंदिने सायमिति सवनेषु त्रिसंध्यमुदकोपस्पर्शी स्यात्स्नायात्। एवं द्वादश वर्षाणि चरन्नन्ते शुध्येत्। स्नानविधानादेव तदन्तर्भूतमन्त्रादिप्राप्तिरिति गम्यते। शुचिना कर्तव्यमिति च सर्वकर्मसाधारणम्। अतः संध्योपासनमप्यस्य भवति।

संध्याहीनोऽशुचिर्नित्यमनर्हः सर्वकर्मसु।
यत्किंचित्कुरुते कर्म न तस्य फलभाग्भवेत् ॥

इति दक्षस्मरणात्। द्विजातिकर्मभ्यो हानिः पतनमित्यनेन तु प्रायश्चित्तव्रतचर्यानङ्गभूतानां कर्मणां हानिर्न सर्वेषाम्। अत्र च यस्य द्वे ब्रह्महत्ये, स चतुर्विंशतिवर्षाणि व्रतं चरेत्। यस्य तिस्रः, स षट्त्रिंशतं न पुनर्देहकालकर्त्रैक्यात्प्रायश्चित्तस्य तन्त्रता। यस्य चतस्रो, न तस्येह लोके निष्कृतिः। एतदेवं व्रतमोत्तमादुच्छ्वासाचरेत्। तथा च मनुः—

विधेः प्राथमिकादस्माद्द्वितीये द्विगुणं चरेत्।
तृतीये त्रिगुणं प्रोक्तं चतुर्थे नास्ति निष्कृतिः ॥ इति।

याज्ञवल्क्यः—द्विगुणं सवनस्थे तु ब्राह्मणे व्रतमादिशेत्। इति ॥ ६ ॥

प्राणलाभे वा तन्निमित्ते ब्राह्मणस्य ॥ ७ ॥

यदि चोरव्याघ्रादिभिः प्रमाप्यमाणस्य ब्राह्मणस्य तन्निमित्तः प्राणलाभो भवति तदा शुध्येत्। एकस्य च्छिन्नाः प्राणा अपरस्य दत्ताः को न्वत्र विशेषः। अनेनैव न्यायेन सर्वेषामेव हनने तज्जातीयस्य तद्धेतुके प्राणलाभे शुद्धिर्द्रष्टव्या ॥ ७ ॥

---

१ ग. 'दृष्टेता°। २ ग. 'व प्रमोत्तम मु°।

द्रव्यापचये त्र्यवरं प्रतिराद्धः ॥ ८ ॥

ब्राह्मणस्येति वर्तते ब्राह्मणस्य द्रव्ये चोरादिभिरपचीयमानेऽपह्रियमाणे तस्य प्रत्यानयनाय चोरादिसमीपं गतस्तैः शस्त्रादिभिः क्षतो वर्जितः सकृत्, पुनः पुनश्चैवं त्रिवाराद्यूनं प्रतिराद्धोऽभियुक्तः सन्नप्रत्यानीतेऽपि द्रव्ये शुध्येत्। प्रत्यानीते तु सकृत्प्रयोगेऽपि शुध्येत्।

त्र्यवरं प्रतिराद्धो वा सर्वस्वमवजित्य च। इति मनुः।

अनेनैव न्यायेन स्वद्रव्यप्रदानेनापि शुद्धिर्ज्ञेया। तथा च मनुः—

सर्वस्वं वा वेदविदे ब्राह्मणायोपपादयेत्।
धनं वा जीवनायालं गृहं वा सपरिच्छदम्॥ इति।

याज्ञवल्क्यस्तु—पात्रे धनं वा पर्याप्तं दत्त्वा शुद्धिमवाप्नुयात्।
आदातुश्च विशुद्ध्यर्थमिष्टिर्वैश्वानरी स्मृता॥ इति ॥८॥

अश्वमेधावभृथे वा ॥ ९ ॥

स्नात्वेति शेषः। परकीयस्याश्वमेधस्यावभृथे स्वयं स्नात्वा वा शुध्येत्। प्राणलाभ इत्यादिसूत्रेषु वाशब्दो विकल्पार्थः। अत्र मानवो विशेषः—

शिष्ट्वा वा भूमिदेवानां नरदेवसमागमे।
स्वमेनोऽवभृथे स्नात्वा हयमेधे विमुच्यते।

भूमिदेवा ब्राह्मणा ऋत्विजः। नरदेवो राजा यजमानः। तेषां समवाये स्वमेनः शिष्ट्वा विख्याप्य ॥ ९ ॥

अन्ययज्ञेऽप्यग्निष्टुदन्तश्चेत् ॥ १० ॥

अश्वमेधादन्ययज्ञेऽप्यवभृथे स्नात्वा शुध्येत्। किमविशेषेण। न। तस्य चेदन्तर्मध्येऽग्निष्टुन्नामैकाहो भवति पञ्चदशरात्रादेर्ग्रहणम्। अपर आह—अग्निष्टुदन्तोऽग्निष्टुत्समाप्तिको भवतीति। अत्र पक्षे सर्वमेधादेर्ग्रहणम्। अत्र च शुध्येदिति द्वादशवार्षिकमुपसंहृत्य विधानाद्वाग्रहणाच्च सर्वाण्येतानि स्वतन्त्राणि वैकल्पिकानि प्रयोजकानि प्रयोजकादिविषयाणि वा द्रष्टव्यानि। अन्ये तु द्वादशवार्षिकप्रवृत्तस्येत्याहुः। तथा च शङ्खो द्वादशे वर्षे शुद्धिमाप्नोतीत्यभिधायाऽऽह—अन्तराले वा

१ ग. धर्तोऽगमितः।

ब्राह्मणं मोचयित्वा गवां वा द्वादशानां परित्राणादिति । वाशब्दस्तु परस्परापेक्षया विकल्पार्थः ॥ १० ॥

सृष्टश्चेद्ब्राह्मणवधेऽहत्वाऽपि ॥ ११ ॥

सर्ग उत्साहो निश्चयश्च तद्वान्सृष्टः । यदि ब्राह्मणवधे सृष्टो भवति केनचिद्दैवाद्वा निवारितः सोऽहत्वाऽपि ब्रह्महा भवति । अतस्तस्याप्यनन्तरोक्तेषु प्रायश्चित्तेषु यलघु तद्भवति ॥ ११ ॥

आत्रेय्याश्चैवम् ॥ १२ ॥

ऋतुस्नातामात्रेयीमाहुस्तत्र यदपत्यं भवतीति वसिष्ठः । तस्यामपि ब्राह्मण्यां हतायामेवं ब्रह्महा भवतीति तदीयमेव प्रायश्चित्तमिति । क्षत्रियाद्यात्रेयीवधे तत्तत्पुरुषवधनिमित्तं प्रायश्चित्तम् । अन्ये त्वत्रिगोत्रामात्रेयीमाहुः ॥ १२ ॥

गर्भे चाविज्ञाते ॥ १३ ॥

ब्राह्मणस्य गर्भे स्त्रीपुंनपुंसकत्वेनाविज्ञाते ब्राह्मण्यामाहित औषधादिना हते ब्रह्महत्याप्रायश्चित्तम् । विज्ञाते तु यथालिङ्गम् । क्षत्रियादिगर्भेऽपि तदनुगुणम् । राजन्यवैश्ययोरपि सवनं गतयोर्वध एतदेव । यथाऽऽह मनुः—हत्वा गर्भमविज्ञातमेतदेव व्रतं चरेत् ।
राजन्यवैश्यौ चेजानौ चाऽऽत्रेयीमपि च स्त्रियम् । इति ।

अप्रदुष्टां स्त्रियं हत्वा शूद्रहत्याव्रतं चरेत् । इति ।
षण्मासाञ्छूद्रहाऽप्येतद्धेनूर्दद्याद्दशाथ वा ॥ इति ।
दुर्वृत्ता ब्रह्मविट्क्षत्रशूद्रयोषाः प्रमाप्य तु ।
दृतिं धनुर्बस्तमविं क्रमाद्दद्याद्विशुद्धये ॥ इति ।

यत्तु हारीतेनोक्तम्—पञ्चवर्षाणि राजन्ये प्राकृतं ब्रह्मचर्यम् । वैश्ये त्रीणि, सार्धमब्दं शूद्रे, क्षत्रियवद्ब्राह्मणीषु, वैश्यवत्क्षत्रियायां शूद्रवद्वैश्यायां, शूद्रां हत्वा नव मासानिति, तदत्यन्तोत्कृष्टाचार्यादिविषयम् ॥ १७ ॥

गां च वैश्यवत् ॥ १८ ॥

गां च हत्वा वैश्यवधे यत्प्रायश्चित्तं वैश्यवधे त्रैवार्षिकमृषभैकशताश्च गा दद्यादिति तच्चरेत् । इदं वृत्तस्वाध्यायवतो दुर्गतस्य बहुकुटुम्बस्य या गौर्बहुक्षीरा तरुणी तस्या बुद्धिपूर्ववधे । तादृश्या एकफलाया गर्भिण्याः कर्माङ्गभूताया वधे याम्यम्—

गोसहस्रं शतं वाऽपि दद्यात्सुचरितव्रतः ।
अविद्यमाने सर्वस्वं वेदविभ्यो निवेदयेत् ॥ इति ।

द्वैमासिकं व्रतमत्र प्रकृतम् । अत्रैवं बुद्धिपूर्वं कात्यायनीयं गोदानरहितं त्रैवार्षिकम्—

गोघ्नस्तच्चर्मसंवीतो वसेद्गोष्ठेऽथ वा पुनः ।
गाश्चानुगच्छेत्सततं मौञ्जीचीराजिनादिभिः ॥
वर्षशीतातपक्लेशवह्निपङ्कभयार्दितः ।
मोक्षयेत्सर्वयत्नेन पूयते वत्सरैस्त्रिभिः ॥ इति ।

वसिष्ठः—गां चेद्धन्यात्तस्याश्चर्मणाऽऽर्द्रेण परिवेष्टितः षण्मान्कृच्छ्रं तप्तकृच्छ्रं वा तिष्ठेदृषभवेहतौ च दद्याताम् । इति । वेहद्वृषभोपहता गौः । दद्यातामिति कर्मणि कर्तृप्रत्ययः ।

याज्ञवल्क्यः—

पञ्चगव्यं पिबन्गोघ्नो मासमासीत संयतः ।
गोष्ठेशयो गोऽनुगामी गोप्रदानेन शुध्यति ॥

---

१ ग. 'षं मदूरसू' । २ ग 'हुस्रा' ।

नस्यानभिषिक्तस्य वधे केवलं पड्वार्षिकम् । अनभिषिक्तस्य तूभयवतो वासिष्ठम्—ब्राह्मणो राजन्यं हत्वाऽष्टौ वर्षाणि व्रतं चरेत् । इति । एतेषामेवाबुद्धिपूर्वेऽर्धं कल्प्यम् । जातिमात्रवधे, स्त्रीशद्रविट्क्षत्रवधो नास्तिक्यं चोपपातकमित्युक्त्वा

एतदेव व्रतं कुर्युरुपपातकिनो द्विजाः ।
अवकीर्णिवर्जं शुद्ध्यर्थं चान्द्रायणमथापि वा ॥ इति मनुनोक्तं द्रष्टव्यम् ।

किंचिद्गुणवतो वधेऽग्न्युत्सादिनिराकृत्युपपातकेषु चैवमिति वक्ष्यमाणं सांवत्सरिकं प्राकृतं ब्रह्मचर्यम् । एवमुत्तरत्रापि द्रष्टव्यम् । सर्वत्राबुद्धिपूर्वेऽर्धं बुद्धिपूर्वे कृत्स्नमिति ॥ १४ ॥

अथ वैश्यवधे—

वैश्ये तु त्रैवार्षिकमृषभैकशताश्च गा दद्यात् ॥ १५ ॥

इदमत्यन्तगुणवतो बुद्धिपूर्ववधे । एतेन परं व्याख्यातम् ॥ १५ ॥

शूद्रे संवत्सरमृषभैकादशाश्च गा दद्यात् ॥ १६ ॥

इदमप्यत्यन्तगुणवद्विषयम् । अत्यन्तनिर्गुणस्य शूद्रस्य वध औशनसम्—शूद्रं हत्वा तप्तकृच्छ्रमिति । अथानुलोमविषये व्याघ्रः—

सर्वेषामनुलोमानां तन्मात्रहनने तु यत् ।
तदेव निर्दिशेद्विद्वान्स्त्रीणामर्धं तथैव च ॥
आत्रेयीहनने ब्रूयाद्यद्भर्तुरुपदिश्यते ।
गर्भे चैव तथा ज्ञाते व्याघ्रस्य वचनं यथा ॥ इति ।

प्रतिलोमवधे लौगाक्षिः—

हनने प्रतिलोमानां शूद्रजानां कथं भवेत् ।
ज्ञानपूर्वे पराकः स्यादज्ञाने त्वैन्दवं स्मृतम् ॥
इतरेषां चतुर्भागं पितुरुक्तं मनीषिभिः । इति ॥ १६ ॥

अनात्रेय्यां चैवम् ॥ १७ ॥

आत्रेयीव्यतिरिक्ताया वधे चैवं शूद्रे संवत्सरमृषभैकादशाश्च गा दद्यादिति । इदं ब्राह्मण्याश्चारित्रवत्याः कुटुम्बिन्या बुद्धिपूर्ववधे ।

याज्ञवल्क्यश्च—

एतेषां बुद्धिपूर्वाबुद्धिपूर्वभेदेन ब्राह्मणादिपरिग्रहेण यथार्हं विषय-विभाग ऊहितव्यः ।

षट्त्रिंशन्मते विशेषः—

पाद उत्पन्नमात्रे तु द्वौ पादौ दृढतां गते ।
पादोनं व्रतमादिष्टं हत्वा गर्भमचेतनम् ॥
अङ्गप्रत्यङ्गसंपूर्णे गर्भे चेतःसमन्विते ।
द्विगुणं गोव्रतं कुर्यादेषा गोघ्नस्य निष्कृतिः ॥

बृहत्प्रचेताः—एकवर्षे हते वत्से कृच्छ्रपादो विधीयते ।
अबुद्धिपूर्वे पुंसः स्याद्द्विपादस्तु द्विहायने ॥
त्रिहायने त्रिपादं स्यात्प्राजापत्यमतः परम् । इति ।

स्मृत्यन्तरम्—अतिवृद्धामतिकृशामतिबालां च रोगिणीम् ।
हत्वा पूर्वविधानेन चरेदर्धव्रतं द्विजः ॥
ब्राह्मणान्भोजयेच्छक्त्या दद्याद्धेमतिलांस्तथा ॥ इति ।

संवर्तापस्तम्बौ—एका चेद्बहुभिः कैश्चिद्दैवाद्व्यापादिता क्वचित् ।
पादं पादं तु हत्यायाश्चरेयुस्ते पृथक्पृथक् ॥
व्यापन्नानां बहूनां तु रोधने बन्धनेऽपि वा ।
भिषङ्मिथ्योपचारे च द्विगुणं गोव्रतं चरेत् ॥ इति ।

बहूनामपि व्यापादने द्विगुणमेव वचनबलात् । न तु प्रतिनिमित्तं नैमित्तिकावृत्तिः ।

व्यासः—औषधं लवणं चैव पुण्यार्थमपि भोजनम् ।
अतिरिक्तं न दातव्यं काले स्वल्पं तु दापयेत् ॥
अतिरिक्ते विपत्तिश्चेत्कृच्छ्रपादो विधीयते । इति ।

आपस्तम्बः—पाषाणैर्लगुडैर्वाऽपि शस्त्रैर्वाऽन्येन वा बलात् ॥
निपातयन्ति ये गास्तु तस्मिन्कुर्युर्व्रतं हि ते ।
पादमेकं चरेद्रोधे द्वौ पादौ बन्धने चरेत् ॥
योजने पादहीनं स्याच्चरेत्सर्वं निपातने । इति ।

वसिष्ठः—न नालिकेरेण न शाणवालै-
र्न चापि मौञ्जेन न वर्धशृङ्खलैः ।

कृच्छ्रं चैवातिकृच्छ्रं च चरेद्वाऽपि समाहितः ।
दद्यात्त्रिरात्रं चोपोष्य वृषभैकादशास्तु गाः ॥ इति ।

जाबालः—प्राजापत्यं चरेन्मासं गोहन्ता चेदकामतः ।
गोहितो गोनुगामी स्याद्गोप्रदानेन शुध्यति ॥ इति ।

विष्णुः—गोघ्नस्य पञ्चगव्येन मासमेकं पलत्रयम् ।
प्रत्यहं स्यात्पराको वा चान्द्रायणमथापि वा ॥ इति ।

काश्यपः—गां हत्वा तच्चर्मणा परिवृतो मासं गोष्ठेशयस्त्रिषवणस्नायी नित्यं पञ्चगव्याहारः । इति ।

शातातपः—मासं पञ्चगव्याहारः । इति ।

शङ्खप्रचेतसौ—गोघ्नः पञ्चगव्याहारः । पञ्चविंशतिरात्रमुपवसेत्सशिखं वपनं कृत्वा गोचर्मणा परिवृतो गाश्चानुगच्छेद्गोष्ठेशयो गां च दद्यात् । इति ।

पैठीनसिः—गोघ्नो मासं यवागूं प्रसृततण्डुलशृतां भुञ्जानो गोभ्यः प्रियं कुर्वञ्शुध्यति । इति ।

मनुः—उपपातकसंयुक्तो गोघ्नो भुञ्जीत यावकम् ।
कृतवापो वसेद्गोष्ठे चर्मणाऽऽर्द्रेण संवृतः ॥
चतुर्थकालमश्नीयादक्षारलवणं मितम् ।
गोमूत्रेणाऽऽचरेत्स्नानं द्वौ मासौ नियतेन्द्रियः ॥

इत्यारभ्य—अनेन विधिना यस्तु गोघ्नो गा अनुगच्छति ।
स गोहत्याकृतं पापं त्रिभिर्मासैर्व्यपोहति ॥
ऋषभैकादशा गाश्च दद्यात्सुचरितव्रतम् ॥ इति ।

सुमन्तुः—गोघ्नस्य गोप्रदानं गोष्ठे शयनं द्वादशरात्रं पञ्चगव्यप्राशनं गवामनुगमनं च । इति ।

संवर्तः—सक्तुयावकभैक्षाशी पयो दधि घृतं शकृत् ।
एतानि क्रमशोऽश्नीयान्मासार्धं सुसमाहितः ॥
ब्राह्मणान्भोजयित्वा तु गां दद्यादात्मशुद्धये ॥ इति ।

बृहस्पतिः—द्वादशरात्रं पञ्चगव्याहारः । इति ।

अष्टमुष्टि भवेत्किंचित्किंचिदष्टौ तु पुष्कलम् ।
पुष्कलानि तु चत्वारि आढकः परिकीर्तितः ॥
चतुराढको भवेद्द्रोण इति मानस्य लक्षणम् । इति स्मृतिः ।

अनस्थिमतां तु तावन्तः प्राणायामाः ।

तथा च मनुः—किंचिदेव तु विप्राय दद्यादस्थिमतां वधे ।
अनस्थ्नां चैव हिंसायां प्राणायामेन शुध्यति ॥ इति ॥ २२ ॥

पण्ढे पलालभारः सीसमाषश्च ॥ २३ ॥

यं प्रति देवल आह—

पण्ढो यो हीनलिङ्गः स्यात्संस्काराहश्च नैव सः । इति ।

तस्मिन्हते पुरुषवाह्यः पलालभारः सीसमाषश्चेत्युभयं मिलितं देयं बुद्धिपूर्वे । इतरत्र त्वेकैकम् । सीसं लोहविशेषो रजतसदृशः क्षणद्रुतिः । माषप्रमाणं पूर्वमेव व्याख्यातम् । अत्र च न क्वापि स्मृतौ जातिविशेषः श्रूयते, पण्ढः पण्ढक इत्येतावदेव श्रूयते । तत्र यथाजातिसमवायेऽपि ब्राह्मणादिप्रयुक्तः संस्कारो न भवति तथा तद्वधनिमित्तं प्रायश्चित्तमपि न भवति यावदुक्तमेव तु भवति । अन्ये मृगपक्षिविषयं मन्यन्ते । मृगेषु पक्षिषु च ये पण्ढास्तेषु हतेष्विति ॥ २३ ॥

वराहे घृतघटः ॥ २४ ॥

वराहे हते घृतपूर्णो घटो देयः ॥ २४ ॥

सर्पे लोहदण्डः ॥ २५ ॥

सर्पे हते लोहदण्डो देयः । लोहशब्देन कार्ष्णायसमुच्यते ।

अभ्रीं कार्ष्णायसीं दद्यात्सर्पं हत्वा द्विजोत्तमः । इति मानवे दर्शनात् ।

सर्पं हत्वा माषं दद्यादित्यौशनसं बुद्धिपूर्वविषयम् ॥ २५ ॥

ब्रह्मबन्ध्वां चलनायां नीलः ॥ २६ ॥

जातिमात्रब्राह्मणी ब्रह्मबन्धुः । चलना व्यभिचारिणी । तस्यां हतायां नीलो देयः । नीलो वृष इति । मनुस्तु वर्णानुपूर्व्यमाह—

१ ग. °ते भक्षि क्षा° । घ. ते । भक्षिक्षा° ।

एतैस्तु गावो न निबन्धनीया
बद्ध्वाऽनुतिष्ठेत्परशुं प्रगृह्य ॥ इति ॥ १८ ॥

मण्डूकनकुलकाकबिम्बदहरमूषकश्वहिंसासु च ॥ १९ ॥

बिम्बः कामरूपी कृकलासः । दहरः स्वल्पकायो मूषकः । छुच्छुन्दरीत्येके । अन्ये प्रसिद्धाः । एतेषां समुदितानां वधे वैश्यवत्प्रायश्चित्तम् । इदं बुद्धिपूर्वाभ्यासविषयम् । अन्यत्राऽऽपस्तम्बीयम्–वायस*बकबलाकबर्हिणचक्रवाकहंसभासमण्डूकनकुलसैरिकाश्वहिंसायां शूद्रवत्प्रायश्चित्तम् । इति ।

मनुरपि—मार्जारनकुलौ हत्वा चापमण्डूकमेव च ।
श्वगोधोलूककाकांश्च शूद्रहत्याव्रतं चरेत् ॥ इति ।

प्रत्येकं वधे तु बुद्धिपूर्वे—
मार्जारगोधानकुलमण्डूकश्वपतत्रिणः ।
हत्वा त्र्यहं पिबेत्क्षीरं कृच्छ्रं वा पादिकं चरेत् ॥

इति याज्ञवल्क्योक्तं द्रष्टव्यम् । बुद्धिपूर्वे मानवम्—
पयः पिबेत्त्रिरात्रं वा योजनं वाऽध्वनो व्रजेत् । इति॥१९॥

अस्थन्वतां सहस्रं हत्वा ॥ २० ॥

अस्थिमतां कृकलासादीनां सहस्रं हत्वा वैश्यवत्प्रायश्चित्तम् ॥ २० ॥

अनस्थिमतामनडुद्भारे च ॥ २१ ॥

येऽस्थिमन्तो न भवन्ति दंशमशकादयस्तेषां यावतोऽनड्वान्भर्तुं शक्नोति तावतो हत्वा वैश्यवत्प्रायश्चित्तम् । इदं द्वयमपि पूर्वाभ्यासविषयम् । अन्यत्र याज्ञवल्क्योक्तम्–अस्थन्वतां सहस्रं तु तथाऽनस्थिमतामनः ।

शूद्रहत्याव्रतं षाण्मासिकं प्रकृतं दश धेनूर्वा दद्यात् । इतिच ॥ २१ ॥

अपि वाऽस्थन्वतामेकैकस्मिन्किंचिद्दद्यात् ॥ २२ ॥

अपि वेति विकल्पे । अस्थन्वतां यावन्तो हताः सहस्रमूर्ध्वमर्वाग्वा तावतः संख्याय प्रत्येकं किंचित्किंचिद्दद्यात् । इदं चास्थिमत्सु प्रायश्चित्तं पूर्वकं वेति ।

* मुद्रितपुस्तके तु वायसप्रचलाकेतिपाठो वर्तते ।

द्रव्यलाभे चोत्सर्गः ॥ ३१ ॥

यदि च परस्त्रीतो यत्किंचिद्द्रव्यं लब्धं तस्योत्सर्गस्त्यागः कार्यः॥३१॥

यथास्थानं वा गमयेत् ॥ ३२ ॥

यत्र स्थाने लब्धं तद्वा गमयेत् ।

प्रतिषिद्धमन्त्रयोगे सहस्रवाकश्चेत् ॥ ३३ ॥

मन्त्रयोगे ये प्रतिषिद्धाः पतितादयस्तैः सह मन्त्रयोगेऽध्ययनाध्यापनयाज्ययाजनलक्षणे संवत्सरं प्राकृतं ब्रह्मचर्यं स चेन्मन्त्रयोगः सहस्रवाको भवति । वक्तीति वाकः पदं सहस्रपदश्चेत् । अबुद्धिपूर्वं इदम् । बुद्धिपूर्वे तु पतितत्वं स्यादिति । उपपातके तु वासिष्ठम्—पतितचण्डालशवसूतकश्रवणे तु त्रिरात्रं वाग्यता आसीरन्सहस्रावरं वा तदभ्यस्यन्तः पूता भवन्तीति विज्ञायते । एतेनैव गर्हिताध्यापकयाजका व्याख्याताः । दाक्षिणात्यागाद्य पूता भवन्तीति विज्ञायत इति । अन्ये तु सहाध्ययनं सह यजन च मन्त्रयोगं व्याचक्षते ॥ ३३ ॥

अग्न्युत्सादिनिराकृत्युपपातकेषु चैवम् ॥ ३४ ॥

अग्निमुत्सादयितुं शीलमस्येति बुद्धिपूर्वमग्न्युत्सादी । निराकृतिः शक्तौ सत्यामनध्येता । उपपातकानि, अपङ्क्त्यानां प्राग्दुर्वालाद्गोहन्तुब्रह्महत्यादीनि व्याख्यातानि । एष्वग्न्युत्साद्यादिष्वेवं संवत्सरं ब्रह्मचर्यमिति । यो नास्तिक्यादेशोपप्लवादिना वाऽग्नीनपविध्यति पुनस्तच्छान्तावपि बहुकालं नाऽऽधत्ते तद्विषयमिदम् । तत्रैवाल्पकाले वासिष्ठम्—योऽग्नीनपविध्यात्कृच्छ्रं द्वादशरात्रं चरित्वा पुनरादधीताम् । आलस्येन त्यजतो मानवम्—

> अग्निहोत्र्यपविध्याग्नीन्ब्राह्मणः कामकारतः ।
> चान्द्रायणं चरेन्मासं वीरहत्यासमं हि तत् ॥ इति ।

मासमपविध्येत्यन्वयः ।

> अग्निहोत्र्यपविध्याग्नीन्मासादूर्ध्वं तु कामतः ।
> कृच्छ्रं चान्द्रायणं चैव कुर्यादप्राविचारयन् ॥ इति ।

मासादर्वागपि चान्द्रायणमिच्छन्ति ।

---

१ क. "द्वमाद नामवर्ग मासद" ।

नीलकार्मुकवस्तावीः पृथग्दद्याद्विशुद्धये ।

चतुर्णामपि वर्णानां नारीर्हत्वाऽनवस्थिताः ॥ इति ॥ २६ ॥

वैशिकेन किंचित् ॥ २७ ॥

अभिगच्छति या नारी पुरुषैर्बहुभिर्मिथः ।

व्यभिचारिणीति सा ज्ञेया प्रत्यक्षं गणिकेति च । इति प्रजापतिः ।

वैशिकेन वेश्याकर्मणा जीवन्त्यां ब्रह्मबन्ध्वां हतायां किंचिद्देयमदृष्टमुद्दिष्टं भवेत्किंचिदित्येतत् ॥ २७ ॥

तल्पान्नधनलाभवधेषु पृथग्वर्षाणि ॥ २८ ॥

तल्पशब्देन शयनवाचिना भार्या लक्ष्यते । अन्नं कृतान्नम् । धनं सुवर्णादि । एतेषां लाभस्य वधे विघ्न एषु लभ्यमानेषु दोषोपन्यासादिना यो हन्ति स पृथक्प्रतिनिमित्तं भेदेन संवत्सरं प्राकृतं ब्रह्मचर्यं चरेत् । कन्यान्नधनविघ्ने प्राजापत्यमित्यौशनसमबुद्धिपूर्वविषयम् । ब्राह्मणलाभविषयमिदम् । क्षत्रियादिष्वर्धमर्धम् ॥ २८ ॥

द्वे परदारे ॥ २९ ॥

परदारगमने द्वे वर्षे प्राकृतं ब्रह्मचर्यम् । ऋतुकालगमने बुद्धिपूर्व इदम् । अकामिनः पुनरेतदेवार्धक्लृप्त्या योज्यम् ॥ २९ ॥

त्रीणि श्रोत्रियस्य ॥ ३० ॥

पूर्वोक्त एव विषये श्रोत्रियस्य ब्राह्मणस्य दारान्गच्छतस्त्रीणि वर्षाणि ब्रह्मचर्यम् । अत्राप्यकामतोऽर्धम् । अत्र शङ्खः—वैश्यायामवकीर्णः संवत्सरं ब्रह्मचर्यं त्रिषवणं चानुतिष्ठेत् । क्षत्रियायां द्वे वर्षे त्रीणि ब्राह्मण्यां वैश्यावच्च शूद्रायां ब्राह्मणपरिणीतायाम् ॥ इति ।

संवर्तः—शूद्रां तु ब्राह्मणो गत्वा मासं मासार्धमेव वा ।

गोमूत्रयावकाहारस्तिष्ठेत्तत्पापमोक्षकः ॥ इति ।

कामतो मासमकामतोऽर्धमासमिति व्यवस्थितो विकल्पः । अनृतुकाले तु ब्राह्मण्यादिद्विजातिषु मानवानि त्रैमासिकद्वैमासिकचान्द्रायणानि । क्षत्रियादीनां च क्षत्रियादिस्त्रीषु ब्राह्मणवत्प्रायश्चित्तम् ।

अत्रौशना—गमने तु मतं पत्न्याद्र्भे तद्द्विगुणं चरेत् ॥ इति ॥ ३० ॥

कामकारे पुनः पराकादिकं द्विगुणं कुर्यात् । वसिष्ठस्तु—

ब्राह्मणक्षत्रियविशां भार्याः शूद्रेण संगताः ।
अप्रजाता विशुध्यन्ति प्रायश्चित्तेन नेतराः ॥

आहितपतिगर्भायास्तु पश्चाच्छूद्रादिसंगमे—

अन्तर्वत्नी तु या नारी समेताऽऽक्रम्य कामिना ।
प्रायश्चित्तं न सा कुर्याद्यावद्गर्भो न निःसृतः ॥
जाते गर्भे व्रतं पश्चात्कुर्यान्मासं तु यावकम् ।
न गर्भदोषस्तत्रास्ति संस्कार्यः स यथाविधि ॥

इति स्मृत्यन्तरोक्तं द्रष्टव्यम् । या तु दौःशील्यात्प्रायश्चित्तं न करोति तदा—

प्रातिलोम्ये वधः पुंसां स्त्रीणां नासादिकर्तनम् । इत्येतद्भवति ।

हीनवर्णोपभुक्तायां साम्या ( साऽङ्क्या ) वध्याऽथ वा भवेत् । इति पराशरः ।

अङ्कनं पुंलिङ्गेन ॥ ३५ ॥

अमानुषीषु गोवर्जं स्त्रीकृते कूश्माण्डैर्घृतहोमो घृतहोमः ॥ ३६ ॥

गोवर्जितास्वमानुषीषु महिषादिस्त्रीषु स्त्रीकृते मैथुन आचरिते कूश्माण्डैर्घृतहोमः कर्तव्यः । गोवर्जमितिवचनं विस्पष्टार्थम् । वक्ष्यति गवि च गुरुतल्पसम इति । ततश्च तदेव गोगमने भविष्यति । सकृद्गमन इदम् । अभ्यासे शङ्खोक्तम्—पशुवेश्याभिगमने प्राजापत्यम् । इति । अत्र कण्ठः—प्रसूतो यस्तु वेश्यायां भैक्षभुक्संयतेन्द्रियः ।

शतसाहस्रमभ्यस्य सावित्रीमिति शुद्धताम् ॥ इति ।

द्विरुक्तिरुक्ता ॥ ३६ ॥

इति श्रीहरदत्तविरचितायां गौतमीयधर्मशास्त्रे मिताक्षरायां
द्वाविंशोऽध्यायः ॥ २२ ॥

---

अथ त्रयोविंशोऽध्यायः ।

---

क्रमप्राप्तं सुरापानप्रायश्चित्तमाह—

स्मार्ते त्वग्नौ—योऽग्निं त्यजति नास्तिक्यात्प्राजापत्यं चरेद्द्विजः ।
अन्यत्र पुनराधानं दानमेव तथैव च ॥ इति ।

मानवं तु—पष्ठान्नकालता मासं संहिताजप एव च ।
होमश्च शाकलैर्नित्यमपङ्क्त्यानां विशोधनम् ॥ इति ॥३४॥

## स्त्री याऽतिचारिणी गुप्ता पिण्डं तु लभेत ॥ ३५ ॥

या स्त्री भर्तारमतिचरति व्यभिचरति पुरुषान्तरेण संगच्छते सा चैतदेव प्रायश्चित्तं कुर्यात्संवत्सरं ब्रह्मचर्यम् । सा च यावत्समाप्यते प्रायश्चित्तं तावद्गुप्ता सती पिण्डमात्रं लभते । बुद्धिपूर्वे सकृद्गमन इदम् । अन्यत्र—

यत्पुंसः परदारेषु तच्चैतां चारयेद्व्रतम् । इत्येतत् ।

सजातीयविषये चेदम् । ब्राह्मण्याः क्षत्रियविषये वासिष्ठम्—व्यवाये संवत्सरं घृतपटं धारयेद्गोमयकर्दमे कुशप्रस्तरे *वा भुञ्जानाऽधः शयीतोर्ध्वं संवत्सरादप्सु निमग्नायाः सावित्र्यष्ट+सहस्रेण शिरोभिर्जुहुयादिति । वैश्यविषये त्वौशनसम्—व्यभिचारिणी कृच्छ्राब्दं चरेदिति । अत्र बृहत्प्रचेताः—

विप्राः शूद्रेण संपृक्ता न चेत्तस्मात्प्रसूयते ।
प्रायश्चित्तं स्मृतं तस्याः कृच्छ्रं चान्द्रायणत्रयम् ॥
चान्द्रायणे द्वे कृच्छ्रं च विप्राया वैश्यसंगमे ।
कृच्छ्रचान्द्रायणे स्यातां तस्याः क्षत्रियसंगमे ॥
क्षत्रिया शूद्रसंपर्के कृच्छ्रे चान्द्रायणद्वयम् ।
चान्द्रायणं सकृच्छ्रं च चरेद्वैश्येन संगता ॥
शूद्रं गत्वा चरेद्वैश्या कृच्छ्रं चान्द्रायणोत्तरम् ।
आनुलोम्येन कुर्वीत कृच्छ्रं पादावरोपितम् ॥ इति ।

प्रजाताया ब्राह्मण्याश्चतुर्विंशतिमते विशेषः—
विप्रगर्भे पराकः स्यात्क्षत्रियस्य तथैन्दवम् ।
ऐन्दवं च पराकश्च वैश्यस्याकामकारतः ॥
शूद्रगर्भे भवेत्त्यागश्चण्डालो जायते यतः ।
गर्भत्यागे धातुदोषैश्चरेच्चान्द्रायणत्रयम् । इति ।

* मुद्रितपुस्तके—वाऽध., इति वर्तते । + मुद्रितपुस्तके—'इत्यंशोऽत्र नास्ति' वर्तते ।

वसिष्ठोऽपि—पतत्यर्धं शरीरस्य भार्या यस्य सुरां पिबेत् ।
पतितार्धं शरीरस्य निष्कृतिर्न विधीयते ॥ इति ।

अत्र स्त्रीणामपि प्रतिषिद्धा सुरा । प्रायश्चित्तं च भवति । तत्र स्त्रीणामर्धप्रायश्चित्तमित्युक्तं पुरस्तात् । तत्र मरणान्तिकेऽर्धक्लृप्तेरशक्यत्वादबुद्धिपूर्वसकृत्पाने द्वादशवार्षिकस्यार्धम् । अभ्यासे तस्यैवाभ्यासः ॥ १ ॥

अमत्या पाने पयो घृतमुदकं वायुं प्रतित्र्यहं तप्तानि स कृच्छ्रस्ततोऽस्य संस्कारः ॥ २ ॥

यस्त्वमत्याऽबुद्धिपूर्वं यवागवादिबुध्या सुरां पिबति स पयआदीनि चत्वारि द्रव्याणि तप्तान्युष्णानि । द्वितीयाया निर्देशात्पिबेदिति गम्यते । प्रतित्र्यहं प्रथमे त्र्यहे पयो द्वितीये घृतं तृतीय उदकं चतुर्थे वायुम् । वायोरुष्णत्वं सातपे प्रदेशे । स कृच्छ्रः स एवंभूतस्तप्तकृच्छ्रोऽस्य प्रायश्चित्तम् । ततः कृच्छ्रानन्तरं पुनः संस्कारः पुनरुपनयनमस्य कर्तव्यम् । तत्र मानवो विशेषः—

वपनं मेखला दण्डो भैक्षचर्या व्रतानि च ।
एतानि तु निवर्तन्ते पुनःसंस्कारकर्मणि ॥ इति ।

इदमीषदभ्यासविषयम् ।

अज्ञानाद्वारुणीं पीत्वा संस्कारेणैव शुध्यति ॥

इति मानवं सकृत्पानविषयम् ।

यत्तु—पिण्याकं वा कणान्वाऽपि भक्षयेत्तुसमां निशि ॥ इति

याज्ञवल्क्यवचनम् । यच्चापस्तम्बीयम्—

'स्तेयं कृत्वा सुरां पीत्वा' इत्यादि तदुभयमपि बहुकृत्वोऽभ्यास एव ।

कणान्वा भक्षयेदब्दं पिण्याकं वा सकृन्निशि ।
सुरापानापनुत्त्यर्थं वालवासा जटी ध्वजी ॥

इत्यादीनि मानवादीन्यबुद्धिपूर्वविषय एवाभ्यासतारतम्यापेक्षया व्यवस्थाप्यानि ॥ २ ॥

मूत्रपुरीषरेतसां च प्राशने ॥ ३ ॥

मूत्रादीनां च प्राशने तप्तकृच्छ्रसहितः पुनः संस्कारः प्रायश्चित्तम् । एवं बुद्धिपूर्वविषयम् । मुक्त्वाऽतोऽन्यतमस्याज्ञममत्या क्षपणं त्र्यहम् ।

मत्या भुक्त्वा चरेत्कृच्छ्रं रेतो विण्मूत्रमेव च ।

**सुरापस्य ब्राह्मणस्योष्णामासिञ्चेयुः सुरामास्ये मृतः शुध्येत् ॥ १ ॥**

त्रिविधा सुरा । यथाऽऽह मनुः—

गौडी माध्वी च पैष्टी च विज्ञेया त्रिविधा सुरा ।
यथैवैका न पातव्या तथा सर्वा द्विजोत्तमैः ॥ इति ।

द्विजोत्तमा ब्राह्मणाः । क्षत्रियवैश्ययोस्तु पैष्टयेव । यथा स एवाऽऽह-

सुरा वै मलमन्नानां पाप्मा च मलमुच्यते ।
तस्माद्ब्राह्मणराजन्यौ वैश्यश्च न सुरां पिबेत् ॥

अन्नानां मलं सुरा पैष्टी । अत्र ब्राह्मणग्रहणं द्विजात्युपलक्षणम् । यस्य या प्रतिषिद्धा सुरा तस्याः पाता सुरापस्तस्य द्विजातेरास्ये तामेव सुरामुष्णामासिञ्चेयुः । उपदेष्टृष्वयमासेचनारोपः । आसिञ्चन्त्येव हि ते सुरामास्ये । येन सुरावेण सुरोष्णा पातव्या तस्येयं निष्कृतिरित्युपदिशन्तीति । स्वयमेव त्वासेचनकर्ता । तथा चाऽऽपस्तम्बः—सुरापोऽग्निस्पर्शां सुरां पिबेदिति । आसिञ्चेयुरिति बहुवचनमुपदेष्टॄणां बहुत्वं सूचयति ।

मनुरप्याह—तेषां वेदविदो ब्रूयुस्त्रयोऽप्येनःसु निष्कृतिम् ।
सा तेषां पावना यस्मात्पवित्रं विदुषां हि वाक् ॥ इति ।

मृतः शुध्येदितिवचनात्तथा सुरा तापयितव्या यथा पातुर्मरणं भवति । आर्द्रवासाः पिबेदिति पैठीनसिः । आयसेन ताम्रेण वा पात्रेणेति प्रचेताः । अत्र याज्ञवल्क्यः—

सुराम्बुघृतगोमूत्रपयसामग्निसंनिभम् ।
सुरापोऽन्यतमं पीत्वा मरणाच्छुद्धिमृच्छति ॥
वालवासा जटी वाऽपि ब्रह्महत्याव्रतं चरेत् ।
पिण्याकं वा कणान्वाऽपि भक्षयेत्तु समां निशि ॥ इति ।

तत्र मरणान्तिकप्रायश्चित्तं बुद्धिपूर्वाभ्यासविषयम् । तत्रैव सकृत्पानविषयं ब्रह्महत्याव्रतं द्वादशवार्षिकम् । अत्र स्त्रियोऽधिकृत्य शङ्खः—सुरालशुनपलाण्डुगृञ्जनमांसादीन्यभक्ष्याणि वर्जयेदाहारमयं शरीरमिति ।

---

१ क. पु. प. भ्रंशः ।

मनुस्तु—श्वसृगालखरैर्दष्टो ग्राम्यैः क्रव्याद्भिरेव च ।
नराश्वोष्ट्रैर्वराहैश्च प्राणायामेन शुध्यति ॥ इति ।

ब्राह्मणविषये वासिष्ठो विशेषः—
ब्राह्मणस्तु शुना दष्टो नदीं गत्वा समुद्रगाम् ।
प्राणायामशतं कृत्वा घृतं प्राश्य विशुध्यति ॥ इति ।

जातूकर्ण्यः—ब्राह्मणी क्षत्रिया वैश्या शुना च श्वापदैरपि ।
दष्टा सचैलमाप्लुत्य शुध्यतीति न संशयः ॥ इति ॥ ७ ॥

तप्ते लोहशयने गुरुतल्पः शयीत ॥ ८ ॥

गुरुरत्र पिता ।
निषेकादीनि कर्माणि यः करोति यथाविधि ।
संभावयति चान्येन स विप्रो गुरुरुच्यते ॥ इति मनुः ।

विप्रग्रहणं वर्णोपलक्षणम् । तल्पशब्देन शयनवाचिना भार्या लक्ष्यते । तत्रापि[1] जननी तत्सपत्नी तद्गामी गुरुतल्पगः । लोहशयने कृष्णायसनिर्मिते तप्ते यथा मरणमेव भवति तथा तप्ते शयीत ॥ ८ ॥

सूर्मीं वा श्लिष्येज्ज्वलन्तीम् ॥ ९ ॥

लोहमयी स्त्रीप्रकृतिः सूर्मी । तां ज्वलन्तीमग्निवर्णां तप्तां श्लिष्येत्प्राणवियोगात् ॥ ९ ॥

लिङ्गं वा सवृषणमुत्कृत्याञ्जलावाधाय दक्षिणाप्रतीचीं व्रजेदजिह्मामाशरीरनिपातात् ॥ १० ॥

सबीजं लिङ्गमुत्पाट्य क्षुरादिना निकृत्य स्वस्याञ्जलौ स्थापयित्वा नैर्ऋतीं दिशमाशरीरनिपाताद्व्रजेदजिह्मम् । कूपाद्यपरिहरन्नत्रैव पतितव्रतस्तत्रैव तिष्ठेदाप्रलयादिति वसिष्ठः ॥ १० ॥

मृतः शुध्येत् ॥ ११ ॥

सर्वशेषोऽयम् । पूर्वोक्तेषु प्रकारेष्वन्यतमेन मृत एव गुरुतल्पगः शुध्येन्नान्यथेति । त्रितयमप्येतज्जननीगमने स्वभार्याबुद्ध्याऽबुद्धिपूर्वं तत्सपत्न्यां च । सवर्णायां बुद्धिपूर्वगमने—

---

[1] १ ग. घ 'त्रिवर्ग' ।

आज्ञानात्प्राश्य विण्मूत्रं सुरासंसृष्टमेव च ॥
पुनः संस्कारमर्हन्ति त्रयो वर्णा द्विजातयः । इति च ।

कण्वश्च स्पष्टमाह—

रेतोमूत्रपुरीषाणां प्राशने मतिपूर्वके ।
नाश्नीयाच्च त्र्यहं मत्या तप्तकृच्छ्रं चरेद्द्विजः ॥ इति ॥ ३ ॥

श्वापदोष्ट्रखराणां चाङ्गस्य ॥ ४ ॥

व्याघ्रादयो वनचराः श्वापदाः । उष्ट्रखरौ प्रसिद्धौ । तेषामङ्गं मांसचर्मादि तस्य प्राशने तप्तकृच्छ्रः पुनः संस्कारश्च । बुद्धिपूर्वाभ्यास उभयं मिलितम् । सकृद्बुद्धिपूर्वे चाबुद्धिपूर्वाभ्यासे च तप्तकृच्छ्रः । सकृदमतिपूर्वे संस्कार एव भवति ॥ ४ ॥

ग्राम्यकुक्कुटसूकरयोश्च ॥ ५ ॥

ग्राम्यकुक्कुटसूकरयोश्चाङ्गस्य प्राशन एतदेव प्रायश्चित्तम् । विषयव्यवस्था च पूर्ववत् ॥ ५ ॥

गन्धाघ्राणे सुरापस्य प्राणायामा घृतप्राशनं च ॥ ६ ॥

यस्तु सुरापस्तस्य तं सुरागन्धमाजिघ्रति न पुनः शरीरगन्धं नापि माण्डस्थायाः सुराया गन्धं तस्य प्राणायामास्त्रयो घृतप्राशनं च प्रायश्चित्तम् । ब्राह्मणस्य मिलितम्, क्षत्रियस्य प्राणायामाः, वैश्यस्य घृतप्राशनमिति । सोमपस्य विशेषो मनुना दर्शितः—

ब्राह्मणस्य सुरापस्य गन्धमाघ्राय सोमपः ।
प्राणानप्सु त्रिराचम्य घृतं प्राश्य विशुध्यति ॥ इति ।
ब्राह्मणस्य रुजाकृत्यं घ्रातिरघ्रेयमद्ययोः ।
जैह्म्यं पुंसि च मैथुन्यं जातिसंकरकं स्मृतम् ॥ इति ।
जातिभ्रंशकरं कर्म कृत्वाऽन्यतममिच्छया ।
चरेत्सांतपनं कृच्छ्रं प्राजापत्यमनिच्छया ॥

इति मानवं माण्डस्थायाः सुराया गन्धाघ्राणे ॥ ६ ॥

पूर्वैश्च दष्टस्य ॥ ७ ॥

पूर्वैः श्वापदादिभिर्दष्टस्य च प्राणायामा घृतप्राशनं च प्रायश्चित्तम् ।

---

१ क ख घ 'माऽऽदहनम्' । २ घ 'स्तु मु' ।

कण्वः—तप्तकृच्छ्रं पराकं च तथा सांतपनं गुरोः।
भार्यां वैश्यां सकृद्गत्वा बुध्द्या मासं चरेद्द्विजः॥ इति।

लौगाक्षिः—गुरोर्वैश्यां पुनर्गत्वा गत्वा वाऽपि पुनः पुनः।
लिङ्गाग्रं छेदयित्वा तु ततः शुध्येत्स किल्बिषात्॥ इति।

प्रजापतिः—पञ्चरात्रं तु नाश्नीयात्सप्ताष्टौ वा तथैव च।
वैश्यां भार्यां गुरोर्गत्वा सकृदज्ञानतो द्विजः॥ इति।

हारीतः—अभ्यस्य विप्रो वैश्यायां गुरोरज्ञानमोहितः।
स षडब्दं ब्रह्मचर्यं स चरेद्यावदायुषम्॥ इति।

जाबालिः—अतिकृच्छ्रं तप्तकृच्छ्रं पराकं च तथैव च।
गुरोः शूद्रां सकृद्गत्वा बुद्ध्या विप्रश्चरेत्ततः॥ इति।

उपमन्युः—पुनः शूद्रां गुरोर्गत्वा बुद्ध्या विप्रः समाहितः।
ब्रह्मचर्यमदुष्टात्मा द्वादशाब्दं समाचरेत्॥ इति।

दीर्घतपाः—प्राजापत्यं सांतपनं सप्तरात्रोपवासनम्।
गुरोः शूद्रां सकृद्गत्वा चरेदज्ञानतो जनः॥ इति।

तत्रैवाभ्यासे मानवं द्रष्टव्यम्—

चान्द्रायणं वा त्रीन्मासानभ्यस्येन्नियतेन्द्रियः।
हविष्येण यवाग्वा वा गुरुतल्पापनुत्तये॥ इति।

अत्र व्याघ्रः—जारयुक्तं पारदार्यं च गुरुतल्पत्वमेव च।
साधारणस्त्रिया नास्ति कन्यादूषणमेव च॥ इति ॥११॥

**सखीसयोनिसगोत्राशिष्यभार्यासु स्नुषायां गवि च गुरुतल्पसमः ॥ १२ ॥**

सखी मित्रभूता, सयोनिर्भगिनी, सगोत्रैकगोत्रा, स्नुषा पुत्रभार्या। एतासु शिष्यभार्यायां गवि च मिथुनीभावे यावान्गुरुतल्पदोषस्तावानस्येति।

याज्ञवल्क्यः—सखिभार्याकुमारीषु स्वयोनिष्वन्त्यजासु च।
सगोत्रासु सुतस्त्रीषु गुरुतल्पसमं स्मृतम्॥
पितुः स्वसारं मातुश्च मातुलानीं स्नुषामपि।
मातुः सपत्नीं भगिनीमाचार्यतनयां तथा॥

पितृभार्यां तु विज्ञाय सवर्णां योऽभिगच्छति ।
जननीं वाऽप्यविज्ञाय नामृतः स विशुध्यति ॥

इति षट्त्रिंशन्मते दर्शनात् । जनन्यां कामकृते वासिष्ठम्—

निष्कालको घृताभ्यक्तो गोमयाग्निना पादप्रभृत्यात्मानमवदाहयेत् । इति । अकामतोऽभ्यासेऽप्येवमेव । अकामतस्तु मातुः सपत्न्याः सवर्णाया उत्कृष्टायाश्च गमनाभ्यासे शङ्खोक्तम्—

अधःशायी जटाधारी पर्णमूलफलाशनः ।
एककालं समश्नन्वै वर्षे तु द्वादशे गते ॥
रुक्मस्तेयी सुरापश्च ब्रह्महा गुरुतल्पगः ।
व्रतेनैतेन शुध्यन्ति महापातकिनस्त्विमे ॥ इति ।

सकृद्गमन उभयोरिच्छातः प्रवृत्तौ मानवम्—

खट्वाङ्गी चीरवासा वा श्मश्रुलो विजने वने ।
प्राजापत्यं चरेत्कृच्छ्रमब्दमेकं समाहितः ॥ इति ।

तया प्रोत्साहितस्य स्वेन वा प्रोत्साहितायामौशनसं प्रायश्चित्तद्वयं क्रमेण द्रष्टव्यम्—गुरुतल्पगामी संवत्सरं ब्रह्मचारिव्रतं षण्मासांस्तप्तकृच्छ्रं चेति । एवमुत्तरेष्वपि प्रायश्चित्तेषु यद्गुरु तदात्मना प्रोत्साहितायां यल्लघु तत्तया प्रोत्साहितस्य मध्यमं तूभयोरिच्छातः प्रवृत्ताविति द्रष्टव्यम् । तत्र व्याघ्रः—

कृच्छ्रं चैवातिकृच्छ्रं च तथा कृच्छ्रातिकृच्छ्रकम् ।
चरेन्मासत्रयं विप्रः क्षत्रियागमने गुरोः ॥ इति ।

इदं सकृद्गमनेऽबुद्धिपूर्वे । बुद्धिपूर्वाभ्यास एकवर्षम्—

मत्या गत्वा पुनर्भार्यां गुरोः क्षत्रसुतां द्विजः ।
वृषणवर्जितं लिङ्गमुत्कृत्य स मृतः शुचिः ॥ इति ।

कण्वः—चान्द्रायणं तप्तकृच्छ्रमतिकृच्छ्रं तथैव च ।
सकृद्गत्वा गुरोर्भार्यामज्ञानात्क्षत्रियां द्विजः ॥ इति ।

जातूकर्ण्यः—गुरोः क्षत्रसुतां भार्यां पुनर्गत्वा त्वकामतः ।
वृषणमात्रमुत्कृत्य शुद्धो जीवन्मृतोऽपि वा ॥ इति ।

---

१ ग. 'त्स तु क्ष' ।

भर्तारं लङ्घयेद्या तु जातिस्त्री गुणगर्विता ।
तां श्वभिः खादयेद्राजा संस्थाने बहुभिः स्थितः ॥ इति ।

वसिष्ठस्तु जातिविशेषेण विशेषमाह—शूद्रश्चेद्ब्राह्मणीमभिगच्छेत्तृणैर्वेष्टयित्वा शूद्रमग्नौ प्रास्य ब्राह्मण्याः शिरसि वपनं कारयित्वा सर्पिषाऽभ्यज्य नग्नां खरमारोप्य महापथमनुसंव्राजयेत्पूता भवतीति विज्ञायते । वैश्यश्चेद्ब्राह्मणीमभिगच्छेल्लोहितदर्भैर्वेष्टयित्वा वैश्यमग्नौ प्रास्येद्ब्राह्मण्याः शिरसि वपनं कारयित्वा सर्पिषाऽभ्यज्य नग्नां खरमारोप्य महापथमनुसंव्राजयेत्पूता भवतीति विज्ञायते । राजन्यश्चेद्ब्राह्मणीमभिगच्छेच्छरपत्रैर्वेष्टयित्वा राजन्यमग्नौ प्रास्येद्ब्राह्मण्याः शिरसि वपनं कारयित्वा सर्पिषाऽभ्यज्य नग्नां खरमारोप्य महापथमनुसंव्राजयेत्पूता भवतीति विज्ञायते । एवं वैश्यो राजन्यायां शूद्रश्च राजन्यवैश्ययोरिति । अनुलोमेषु प्रतिलोमं गच्छत्सु व्याघ्र आह—

वर्णानामनुलोमानां परस्परसमागमे ।
व्युत्क्रमेण ततो राजा खादयेद्वा नरैः स्त्रियम् ॥
शृगालैर्बुद्धिपूर्वं चेत्पुरुषो वधमर्हति ।

अयमेवानुलोमानां स्वजातिव्युत्क्रमेष्विति ॥ इति ॥ १४ ॥

पुमांसं घातयेत् ॥ १५ ॥

अनन्तरोक्ते विषये गन्ता पुमान्राज्ञा घातयितव्यः । वधप्रकारश्चानन्तरमेव वसिष्ठवचनेन दर्शितः ॥ १५ ॥

यथोक्तं वा ॥ १६ ॥

लिङ्गोद्धार इत्यादि यथोक्तं वा दण्डप्रणयनं कर्तव्यम् । समत्वयाऽत्यपाभ्यासानभ्यासापेक्षोऽयं विकल्पः ॥ १६ ॥

गर्दभेनावकीर्णी निर्ऋतिं चतुष्पथे यजेत् ॥ १७ ॥

अवकीर्णी भवेद्गत्वा ब्रह्मचारी तु योषितम् । इति याज्ञवल्क्यः ।

स चतुष्पथे गर्दभेन पशुना निर्ऋतिं यजेत् । अत्र मानवो विशेषः—

अवकीर्णी तु काणेन गर्दभेन चतुष्पथे ।
पाकयज्ञविधानेन यजेत निर्ऋतिं दिशि ॥ इति ।

आचार्यपत्नीं स्वसुतां गच्छंस्तु गुरुतल्पगः ।
लिङ्गं छित्त्वा वधस्तस्य सकामायाः स्त्रिया अपि ॥ इति ।

नारदः—माता मातृष्वसा श्वश्रूर्मातुलानी पितृष्वसा ।
पितृव्यसखिशिष्यस्त्री भगिनी तत्सखी स्नुषा ॥
दुहिताऽऽचार्यभार्या च सगोत्रा शरणागता ।
राज्ञी प्रव्रजिता धात्री साध्वी वर्णोत्तमा च या ॥
आसामन्यतमां गच्छन्गुरुतल्पग उच्यते ।
शिश्नस्योत्कर्तनात्तत्र नान्यो दण्डो विधीयते ॥ इति ।

कात्यायनः—जनन्याश्च भगिन्याश्च स्वसुतायास्तथैव च ।
स्नुषाया गमनं चैव विज्ञेयमतिपातकम् ॥
अतिपातकिनस्त्वेते प्रविशेयुर्हुताशनम् ।

वृद्धयमः—रेतः सिक्त्वा कुमारीषु स्वयोनिष्वन्त्यजासु च ।
सपिण्डास्वन्यदारेषु प्राणत्यागो विधीयते ॥ इति ।

स एव—चाण्डालीं पुल्कसीं म्लेच्छीं स्नुषां च भगिनीं सखीम् ।
मातापित्रोः स्वसारं च निक्षिप्तां शरणागताम् ॥
मातुलानीं प्रव्रजितां सगोत्रां नृपयोषितम् ।
शिष्यभार्यां गुरोर्भार्यां गत्वा चान्द्रायणं चरेत् ॥

इति च ॥ १२ ॥

अवकर इत्येके ॥ १३ ॥

एके मन्यन्ते सख्यादिगमनेऽवकरो दोषः । अत्र प्रायश्चित्तमप्यवकीर्णिवतं न गुरुतल्पव्रतमिति । यान्येतानि सख्यादिगमनेऽनुक्रान्तानि प्रायश्चित्तानि तेषु मरणान्तिकानि सम्प्रत्ययानुबन्धात्यन्ताभ्यासविषयाणि । यानि पुनरत्यन्तलघूनि तानि स्वभार्याबुद्ध्या प्रवृत्तस्य मध्ये ज्ञात्वा रेतःसेकादर्वाङ्निवृत्तविषयाणि मध्ये मध्यानि कल्प्यानि । 'न जातु ब्राह्मणं हन्यात्सर्वपापेष्ववस्थितम् ।' इति मानवं तु मरणान्तिकयोग्यमहापातकादिव्यतिरिक्तविषयम् ॥ १३ ॥

अत्र प्रायश्चित्तमकुर्वतीनां स्त्रीणां दण्डमाह—

श्वभिरादयेद्राजा निहीनवर्णगमने स्त्रियं प्रकाशम् ॥ १४ ॥

निहीनवर्णेन सह या मैथुनमाचरति तां प्रकाशं सर्वेषामेव पश्यतां पर्यन्त्यानगतो राजा श्वभिरादयेत्खादयेत् । अत्र मनुः—

अवकीर्णी द्विजो राजा वैश्यश्चापि खरेण तु ।
इष्ट्वा भैक्षाशनो नित्यं शुध्यत्यब्दात्समाहितः ॥ इति ॥१९॥

रेतःस्कन्दने भये रोगे स्वप्नेऽग्नीन्धनभैक्षचरणानि सप्तरात्रमकृत्वाऽऽज्यहोमः समिधो वा रेतस्याभ्याम् ॥२०॥

भये रोगे स्वप्ने वा यदि ब्रह्मचारिणो रेतः स्कन्देत्ततो रेतस्याभ्यां मन्त्राभ्यामाज्यहोमः कर्तव्यः । समिधो वा । होम इत्युपसमस्तमपेक्ष्यते । एतत्तु भये रोग इत्यादि ब्रह्मचारिव्यतिरिक्तस्यापि । तथाऽग्नीन्धनं समिदाधानं भैक्षचरणं च सप्तरात्रमकृत्वा पूर्ववद्धोमः । रेतस्ये ऋचौ "पुनर्मामैत्विन्द्रियम्" इति । "पुनर्मनः पुनरात्मा म आगात्" इत्येके । आश्वलायनेन तु "पुनर्मामैत्विन्द्रियम्" इति । "इमे येऽधिष्ण्यासोऽग्नये" इति ।

भये रोगे तथा स्वप्ने सिक्त्वा शुक्रमकामतः ।
आदित्यमर्चयित्वा तु पुनर्मामित्यृचं जपेत् ॥ इति ।

प्राजापत्यं सकृत्सेकविषयम् । गौतमीयमभ्यासविषयम् ।

हारीतः—यः कुर्यादुपकुर्वाणः कामतोऽकामतोऽपि वा ।
तदेव द्विगुणं कुर्याद्ब्रह्मचारी तु नैष्ठिकः ॥ इति ।

अत्र वसिष्ठः—एतदेव रेतसः प्रयत्नोत्सर्गे दिवा स्वप्ने च व्रतान्तरेषु चैवमिति । गर्दभं पशुमालभेत नैर्ऋतं वा चरुं निर्वपेदिति मस्करम् ।

वानप्रस्थो यतिश्चैव खण्डने सति कामतः ।
पराकत्रयसंयुक्तमवकीर्णिव्रतं चरेत् ॥

इति शाण्डिल्यः ।

पुंसि मैथुनमासेव्य यत्नोत्सर्गे च रेतसः ।
ब्रह्मचारी यथाभ्यासं स्नात्वाऽथ हविषा यजेत् ॥
पुंसि मैथुनमासाद्य वानप्रस्थो यतिस्तथा ।
कृच्छ्रं चान्द्रायणं चैव कृत्वा शुध्यति किल्बिषात् ॥ इति कण्वः ।

सूर्यस्य त्रीन्नमस्कारान्स्वप्ने सिक्त्वा गृही चरेत् ।
यतिश्चैव वनस्थश्च त्रिः कुर्यादघमर्षणम् ॥ इति काश्यपः ।

मैथुनं तु समासाद्य पुंसि योषिति वा पुनः ।
गोयानेऽप्सु दिवा चैव स्नानं च स्नानमाचरेत् ॥

वसिष्ठस्तु—ब्रह्मचारी चेत्स्त्रियमुपेयादरण्ये चतुष्पथे लौकिकेऽग्नौ रक्षोदैवतं गर्दभं पशुमालभेत, नैर्ऋतं वा चरुं निर्वपेत्तस्य जुहुयात्कामाय स्वाहा, कामकामाय स्वाहा, निर्ऋत्यै स्वाहा, रक्षोदेवताभ्यः स्वाहा । इति ॥ १७ ॥

तस्याजिनमूर्ध्ववालं परिधाय लोहितपात्रः
सप्त गृहान्भैक्षं चरेत्कर्माऽऽचक्षाणः॥ १८ ॥

एवं गर्दभेनेष्ट्वा तस्यैव गर्दभस्याजिनमूर्ध्ववालमुपरिधार्य लोहितपात्रः पाकेन लोहितं मृन्मयं पात्रं हस्ते गृहीत्वा कर्माऽऽचक्षाणोऽवकीर्णिने भिक्षां देहीति ब्रुवाणः सप्त गृहान्भैक्षं चरेत् । सप्तगृहेषु यावल्लब्धं तावदेवाशनमलाभ उपवासः ॥ १८ ॥

संवत्सरेण शुध्येत् ॥ १९ ॥

संवत्सरमेतद्व्रतं चरेच्छुद्धो भवति । अत्र मनुः—

तेभ्यो लब्धेन भैक्षेण वर्तयन्नेककालिकम् ।
उपस्पृशंस्त्रिषवणमब्देनैकेन शुध्यति ॥ इति ।

इदं च वार्षिकं श्रोत्रियस्य विप्रस्य वैश्यपत्न्यां द्रष्टव्यम् । आहतुः शङ्खलिखितौ—गुप्तायां वैश्यायामवकीर्णः संवत्सरं त्रिषवणमनुतिष्ठेत्क्षत्रियायां द्वे वर्षे ब्राह्मण्यां त्रीणि वर्षाणीति । गुप्तायां चेच्छ्रोत्रियपत्नीत्वाद्विगुणशालिन्याम् । अङ्गिराः—

अवकीर्णिनिमित्तं तु ब्रह्महत्याव्रतं चरेत् ।
चीरवासास्तु षण्मासांस्तथा मुच्येत किल्बिषात् ॥ इति ।

तदकामतो गौतमीयैकविषयम् । पुनः शङ्खलिखितौ—स्वैरिण्यां वृषल्यामवकीर्णः सचैलं स्नात उदकुम्भं दद्याद्ब्राह्मणाय । वैश्यायां चतुर्थकालाहारो ब्राह्मणान्भोजयेद्यवसभारं च गोभ्यो दद्यात् । क्षत्रियायां त्रिरात्रमुपोषितो घृतपात्रं दद्यात् । ब्राह्मण्यां षड्रात्रमुपोषितो गां दद्याद्गोष्ववकीर्णः प्राजापत्यं चरेत् । पण्डायामवकीर्णः पलालभारं सीसमाषकं च दद्यादिति । इदं चावकीर्णप्रायश्चित्तं सर्वेषामेव त्रैवर्णिकब्रह्मचारिणां समानम् । तथा च शाण्डिल्यः—

---

१ ग. षेरक्षत्रि°।

एतद्ब्रह्मकृतं कूर्चं पवित्रं च तथैव च ।
एवं हुत्वा ततः शेषं पापं ध्यात्वा समाहितः ॥
आलोड्य प्रणवेनैव निर्मथ्य प्रणवेन तु ।
उद्धृत्य प्रणवेनैव पिबेच्च प्रणवेन तु ॥
एतद्ब्रह्मकृतं कूर्चं मासि मासि चरेद्द्विजः ।
सर्वपापविशुद्धात्मा स्वर्गलोकं स गच्छति ॥
यत्त्वगस्थिगतं पापं देहे तिष्ठति देहिनाम् ।
ब्रह्मकूर्चो दहेत्सर्वं प्रदीप्ताग्निरिवेन्धनम् ॥ इति ।

बुद्धिपूर्वेऽबुद्धिपूर्वे साधारणमिदम् । तथा च मनुः—

तं चेदभ्युदियात्सूर्यः शयानं कामकारतः ।
निम्लोचेद्वाऽप्यविज्ञानाज्जपन्नुपवसेद्दिनम् ॥ इति ।

दिनमित्युपलक्षणं निम्लोचने रात्रिमुपवसेदिति । अभयरोगस्थ इति जाबालिवचनाद्भये रोगे च प्रायश्चित्तं न भवति ॥ २१ ॥

अशुचिं दृष्ट्वाऽऽदित्यमीक्षेत प्राणायामं कृत्वा ॥ २२ ॥

अशुचिश्चण्डालादिस्तं दृष्ट्वा प्राणायाममेकं कृत्वा सूर्यमीक्षेत । जपादिनियमकाल इदं ब्रह्मचारिणः ।

आचम्य प्रयतो नित्यं जपेदशुचिदर्शने ।
सौरान्मन्त्रान्यथोत्साहं पावमानीश्च शक्तितः ॥

इति मानवं नैष्ठिकादीनाम् । अशुचिदर्शने द्विजः प्रणवं जपेदिति जाबालिगृह्यवचनं गृहस्थविषयम् । अशुचिदर्शन आदित्यदर्शनं ब्राह्मणदर्शनं गवामग्नेर्वस्पर्शनसं नियमकालादन्यत्र । जाबालिगृह्ये द्विजग्रहणाच्छूद्रस्य न विधिर्न प्रतिषेधः ॥ २२ ॥

अभोज्यभोजनेऽमेध्यप्राशने वा निष्पुरीषीभावः ॥ २३ ॥

नित्यमभोज्यं केशकीटावपन्नमित्यारभ्याभोज्यान्युक्तानि । तानि च बहुप्रकाराणि जातिदुष्टानि लशुनादीनि, कालदुष्टानि पर्युषितादीनि, परिग्रहदुष्टान्युत्सृष्टादीनामन्नानि, संसर्गदुष्टानि केशकीटाद्युपहतानि, क्रियादुष्टान्याचमनेरधानप्यपेतादीनि । तेषामभोज्यानां भोजने च । मेध्यं पवित्रम् । अमेध्यमपरिशुद्धं स्थानपात्रपाकस्पर्शपदार्थादिना ।

इति मानवम् । गृहस्थस्य—

ऋतौ तु गर्भशङ्कित्वात्स्नानं मैथुनिनः स्मृतम् ।
अनृतौ तु यदा गच्छेच्छौचं मूत्रपुरीषवत् ॥ इत्यङ्गिराः ।

वृद्धवसिष्ठः—यस्तु पाणिगृहीतायामास्ये कुर्वीत मैथुनम् ।
तस्य रेतसि तं मासं पितरस्तस्य शेरते ॥ इति ॥ २० ॥

सूर्याभ्युदितो ब्रह्मचारी तिष्ठेदहरभुञ्जानोऽ-
भ्यस्तमितश्च रात्रिं जपन्सावित्रीम् ॥ २१ ॥

यस्तु सूर्य उदयति स्वपिति स सूर्याभ्युदितो ब्रह्मचारी सर्वमहरभुञ्जानस्तिष्ठेत् । अभ्यस्तमितश्च रात्रिं सर्वामासीत । तिष्ठेदहनि रात्रावासीतेति कृच्छ्रे दर्शनात् । जपन्सावित्रीमित्युभयत्र समानम् । ब्रह्मचारिग्रहणाद्गृहस्थादीनामन्यत्प्रायश्चित्तम् । 'आतमितः प्राणमायच्छेदित्येके' इत्यापस्तम्बीयं गृहस्थस्य । आह वसिष्ठः—

वनस्थश्च यतिश्चैव सूर्येणाभ्युदितो यदि ।
ब्रह्मकूर्चाशिनौ भूत्वा जपेतां द्रुपदां त्वहः ॥ इति ।

अभ्यस्तमितयोरपीदमेव । आह प्रजापतिः—

पालाशं पद्मपत्रं वा ताम्रं वाऽथ हिरण्मयम् ।
गृहीत्वा सादयित्वा च ततः कूर्चं समारभेत् ॥
गायत्र्याऽऽदाय गोमूत्रं गन्धद्वारेति गोमयम् ।
आप्यायस्वेति च क्षीरं दधिक्राव्णेति वै दधि ॥
शुक्रमसि ज्योतिरसीत्याज्यं देवस्य त्वा कुशोदकम् ।
चतुर्दशीमुपोष्याथ पौर्णमास्यां समाचरेत् ॥
गोमयाद्द्विगुणं मूत्रं सर्पिर्दद्याच्चतुर्गुणम् ।
क्षीरमष्टगुणं देयं दधि पञ्चगुणं तथा ॥
स्थापयित्वाऽथ दर्भेषु पालाशैः पत्रकैरथ ।
तत्समुद्धृत्य होतव्यं देवताभ्यो यथाक्रमम् ॥
अग्नये चैव सोमाय सावित्र्या चैव मन्त्रतः ।
प्रणवेन तथा हुत्वा स्विष्टकृत्प्रणवेन तु ॥

---

१ ग. 'परी त्वहम् ।

काश्यपः—लशुनपलाण्डुगृञ्जनकुक्कुटभक्षणे मेदःशुक्रपानेऽयाज्ययाजनेऽभोज्यभोजनेऽभक्ष्यभक्षणेऽगम्यागमने चैवं प्रायश्चित्तं ब्राह्मणेभ्यो निवेद्य षड्रात्रोपोषितश्चीर्णान्ते प्राच्यामुदीच्यां दिशि गत्वा यत्र ग्राम्यपशूनां शब्दो न श्रूयते तस्मिन्देशेऽग्निं प्रज्वाल्य ब्रह्मासनमास्तीर्य तत्प्रणीतेन विधिना पुनः संस्कारमर्हति । सुमन्तुः—लशुनपलाण्डुगृञ्जनभक्षणे वीरश्राद्धे सूतिकाभोज्यान्नमधुमांसमूत्ररेतोमेध्याभक्ष्यभक्षणे सावित्र्यष्टसहस्रेण मूर्ध्नि संपातानवनयेत् । एतान्येवाऽऽतुरस्य भिषक्क्रियाया-मप्रतिषिद्धानि भवन्ति । यानि चान्यान्येवंप्रकाराणि तेष्वप्यदोषः ।

पलाण्डुलशुनं चैव गृञ्जनं कवकं तथा ।
चत्वार्यज्ञानतो जग्ध्वा तप्तकृच्छ्रं चरेद्द्विजः ॥

*मनुस्तु—छत्राकं विड्वराहं च लशुनं ग्रामकुक्कुटम् ।
पलाण्डुं गृञ्जनं चैव मत्या भुक्त्वा भवेद्द्विजः ॥
अमत्यैतानि षड्जग्ध्वा कृच्छ्रं सांतपनं चरेत् ।
यतिचान्द्रायणं वाऽपि[1] शेषेषूपवसेदहः ॥
संवत्सरस्यैकमपि चरेत्कृच्छ्रं द्विजोत्तमः ।
अज्ञातभुक्तशुद्ध्यर्थं ज्ञातस्य तु विशेषतः ॥

शातातपः—लशुनपलाण्डुगृञ्जनकुसुम्भशरकवकामेध्यभक्षणे तप्तकृच्छ्रः । विष्णुः—वृन्ताककवकाशने सांतपनम् । पैठीनसिः—लशुनपलाण्डुगृञ्जनभक्षणे प्राजापत्यम् । देवलः—अभक्ष्यभक्षणे कृच्छ्रम् ।

पैठीनसिः—अभक्ष्यभक्षणे तप्तकृच्छ्रम् । संवर्तः—
अभोज्यभोजनं कृत्वा ब्रह्मक्षत्रविशां गणः ।
गोमूत्रयावकाहारः सप्तरात्रेण शुध्यति ॥

बृहस्पतिः—पीत्वा शुक्तकषायाणि भुक्त्वा चान्नं विगर्हितम् ।
भवेदप्रयतो विप्रः कर्मणः स्यादधोगतिः ॥

विष्णुः—दधिवर्जितानि सर्वशुक्तानि चात्र प्राश्योपवसेदिति भक्तम् ।

शङ्खः—लोहितान्वृक्षनिर्यासान्व्रश्चनप्रभवांस्तथा ॥
भुक्त्वा ऋचीसपक्कं च त्रिरात्रं तु व्रती भवेत् ।

* मर्व भ्रंशो ग. पुस्तके नास्ति ।

1 ग. ज्ञात्वा रि° । २ क. घ. भ. °ति भ.ऽऊ° । ३ °भुः—४।११४° ।

तेषाममेध्यानां प्राशने च निष्पुरीषीभावः कार्यः । यथा निष्पुरीषमुदरं भवति तथा कार्यम् ॥ २३ ॥

तत्कथम्—

त्रिरात्रावरभोजनम् ॥ २४ ॥

तिस्रो रात्रीर्न किंचिद्भुञ्जीत न किंचित्खादयेत् । न किंचित्पिबेत् । एवं निष्पुरीषीभावोऽवाप्यते । अवरग्रहणाच्चतूरात्रादेरपि भावः । परमेण सप्तरात्रम् । तथा चाऽऽपस्तम्बः—अभोज्यं भुक्त्वा नैष्पुरीष्यं तत्सप्तरात्रेणावाप्यत इति ॥ २४ ॥

सप्तरात्रं वा स्वयं शीर्णान्युपभु-
ञ्जानः फलान्यनतिक्रामन् ॥२५॥

शुध्यतीति शेषः । अथ वा नोपवसेत्किंतु स्वयं शीर्णानि स्वयं पतितानि फलानि भुञ्जानोऽनतिक्रामन्नस्वादुफलोपलम्भे तदतिक्रमेण स्वादुफलान्तरग्रहणार्थमगच्छन्सप्तरात्रमेवं कुर्वञ्शुध्यति ॥ २५ ॥

प्राक्पञ्चनखेभ्यश्छर्दनं घृतप्राशनं च ॥ २६ ॥

तत्रैवाभोज्यप्रकरणे पञ्चनखाश्च शल्यकेत्यादिभिरष्टभिः सूत्रैर्यान्यभोज्यान्युक्तानि तेभ्यः प्राग्यान्यभोज्यानि नित्यमभोज्यमित्यादिभिरेकोनविंशतिसूत्रैरुक्तानि तेषु भुक्तेषु च्छर्दयित्वा घृतं प्राश्य विशुध्यति । एवं च पूर्वकं प्रायश्चित्तद्वयं स्वभावदुष्टेषु पञ्चनखादिष्वेवावतिष्ठते । अत्र विष्णुः—मलानां मज्जानामन्यतरस्य प्राशने चान्द्रायणं कुर्याल्लशुनपलाण्डुगृञ्जनतज्जविड्वराहग्रामकुक्कुटनरमांसभक्षणे च सर्वेष्वेतेषु द्विजातीनां प्रायश्चित्तं पुनः संस्कारः ।

बृहस्पतिः अलेह्यानामपेयानामभक्ष्याणां च भक्षणे ।
रेतोमूत्रपुरीषाणां शुद्धिश्चान्द्रायणं स्मृतम् ॥

अङ्गिराः—अलेह्यानामपेयानामभक्ष्याणां च भक्षणे ।
रेतोमूत्रपुरीषाणामृषिकृच्छ्रो विशोधनम् ॥
पद्मोदुम्बरबिल्वानां कुशपर्णपलाशयोः ।
एतेषामुदकं पीत्वा तप्तेनैव विशुध्यति ॥

१ ग. °मेऽतप्तसप्तरात्रं । ख° ।

यमः—माक्षिकं फाणितं शाकं गोरसं लवणं घृतम् ।
एतानि हस्तदत्तानि भुक्त्वा सांतपनं चरेत् ॥

शङ्खः—एकपङ्क्त्युपविष्टानां विषमं यः प्रयच्छति ।
यश्चैवाश्नात्ययं सर्वः कुर्याद्ब्रह्महणि व्रतम् ॥

यमः—ब्राह्मणक्षत्रियविशां शूद्राणां सहभोजनम् ।
प्राजापत्यं तप्तकृच्छ्रमतिकृच्छ्रं तथैव च ॥
चान्द्रायणमिति प्रोक्तं प्रायश्चित्तं क्रमेण तु ।

शातातपः—योऽगृहीत्वा विवाहाग्निं गृहस्थ इति मन्यते ॥
अन्नं तस्य न भोक्तव्यं वृथा पाको हि स स्मृतः ।
वृथापाकस्य भुक्त्वाऽन्नं प्रायश्चित्तं चरेद्द्विजः ॥
प्राणायामं त्रिरभ्यस्य घृतं प्राश्य विशुध्यति ।

अङ्गिराः—ब्रह्मक्षत्रविशां भुक्त्वा न दोषोऽस्त्यग्निहोत्रिणाम् ॥
सूतके शाव आशौचे अस्थिसंचयनात्परम् ।
चाण्डालः श्वपचः क्षत्ता सूतो वैदेहकस्तथा ॥
मागधायोगवौ चैव सप्तैतेऽन्त्यावसायिनः ।
अन्त्यावसायिनामन्नमश्नीयाद्यस्तु कामतः ॥
स तु चान्द्रायणं कुर्यात्तप्तकृच्छ्रमथापि वा ।

यमः—ब्राह्मणान्नं ददच्छूद्रः शूद्रान्नं ब्राह्मणो ददत् ॥
उभावेतावभोज्यान्नौ भुक्त्वा चान्द्रायणं चरेत् ॥ २६ ॥

आक्रोशानृतहिंसासु त्रिरात्रं परमं तपः ॥ २७ ॥

महापातकोपपातकयुक्तादन्यत्राऽऽक्रोशे सताऽसता वा दोषेणातिवादे साक्ष्यादिविषयादन्यत्रानृते तत्रोक्तत्वात् । प्राणिभ्योऽन्यत्र हिंसायाम् । प्राणिपूक्तत्वात् । एतेषु निमित्तेषु परमं तपः परमेण त्रिरात्रमनशनं ब्रह्मचर्यं कर्तव्यम् । परमग्रहणादेकरात्रादेरपि ह्रासः । तत्र ब्राह्मण आक्रोशे त्रिरात्रं, क्षत्रिये द्विरात्रं, वैश्य एकरात्रं, शूद्रेऽह्वरिति व्यवस्था । अनृतेऽप्येवम् । फलाफलाद्यपेक्षया ब्राह्मणादिस्वामिकेषु वृक्षादिषु हिंसायामप्येवम् ।

शङ्खलिखितौ—सर्वासां द्विस्तनीनां क्षीरप्राशनेऽजावर्जमेतदेव । अत्र षड्रात्रमभोजनं चान्द्रायणं चेति प्रकृतम् । अनिर्दशाविगोक्षीरप्राशने तदहरभोजनं सचैलस्नानं च ।

शातातपः—उष्ट्रीक्षीरमविक्षीरमन्नं च सूतिसूतके ।
चोरस्यान्नं नवश्राद्धे भुक्त्वा चान्द्रायणं चरेत् ॥

पैठीनसिः—अविखरोष्ट्रमानुषदुग्धप्राशने पुनरुपनयनं प्राजापत्यं च ।

बौधायनः—अवेः पयःपाने कृच्छ्रोऽन्यत्र गव्यात् । गवि त्रिरात्रोपवासः ।

शङ्खः—अनिर्दशाया गोः क्षीरमाजं माहिषमेव च ।
गोश्च क्षीरं विवत्सायाः स्यन्दिन्याश्च तथा पयः ॥
संधिन्यमेध्यभक्षायाः पीत्वा पक्षव्रतं चरेत् ।
क्षीराणि यान्यपेयानि तद्विकाराशने बुधः ॥
सप्तरात्रव्रतं कुर्याद्यदेतत्परिकीर्तितम् ।

सुमन्तुः—एकशफोष्ट्रस्यन्दिन्यविस्त्रीक्षीरप्राशने गोमहिष्यजानां चानिर्दशाहानां क्षीरप्राशने त्रिरात्रं यावकस्त्रिषवणं च । विष्णुः—गोजाविमहिषीवर्जं सर्वपयांसि च तान्यप्यनिर्दशाहानि स्यन्दिनीसंधिनीविवत्साक्षीरं चामेध्यभुजश्च क्षीरं प्राश्योपवसेदिति प्रकृतम् । हारीतः—अनुक्तानां सत्त्वानां भक्षणेऽतिकृच्छ्रो ग्राम्याणां चान्द्रायणम् ।

यमः—वराहैकशफानां च काककुक्कुटयोस्तथा ।
क्रव्यादानां च सर्वेषामभक्ष्या ये च कीर्तिताः[1] ॥
मांसमूत्रपुरीषाणि प्राश्य गोमांसमेव च ।
श्वगोमायुकपीनां च तप्तकृच्छ्रं विशोधनम् ॥
उपोष्य द्वादशाहं वा कूश्माण्डैर्जुहुयाद्घृतम् ।

वसिष्ठः—श्वकुक्कुटग्राम्यसूकरकाकगृध्रभासवायसपारावतमानुषकाकोलूकानां मांसादने सप्तरात्रमुपवासो निष्पुरीषीभावो घृतप्राशनं पुनः संस्कारश्च कार्यः ।

विडालकाकाखूच्छिष्टं जग्ध्वा च नकुलस्य च ।
केशकीटावपन्नं च पिबेद्ब्रह्मसुवर्चलाम् ॥
केशकीटावपन्नं च स्त्रीभिः स्वादंस्तथैव च ।
श्वोदक्याभ्यां च संस्पृष्टं पञ्चगव्येन शुध्यति ॥

---

१ ग. °षेषां भक्ष्या ये च प्रकीर्तिताः ।

एहि मन्य ओदनं मोक्ष्यसे भुक्तः सोऽतिथिमिरित्येवंप्रायम् । आर्तसंयोग आर्तस्य दुःखोपशमायानृतवचने न दोषः । तेनैतेषु निमित्तेष्वनृतवचनेषु न प्रायश्चित्तमिति ॥ २९ ॥

न तु खलु गुर्वर्थेषु ॥ ३० ॥

गुरुप्रयोजनेषु विवाहादिष्वप्यनृतं न वक्तव्यम् ॥ ३० ॥

कस्माद्यतः—

सप्त पुरुषानितश्च परतश्च हन्ति मनसाऽपि
गुरोरनृतं वदन्नल्पेष्वप्यर्थेषु ॥ ३१ ॥

इत इत्यात्मानं निर्दिशति । आत्मानमारभ्य सप्त पुरुषान्पुत्रपौत्रादीन्परतश्च सप्त पुरुषान्पितृपितामहादीन्हन्ति पीडयति पापेन योजयतीति मनसाऽपि गुरोरनृतं चिन्तयन्नल्पेष्वपि प्रयोजनेषु किमङ्ग महत्सु वाचा वदन्निति ॥ ३१ ॥

अन्त्यावसायिनीगमने कृच्छ्राब्दः ॥ ३२ ॥

अन्त्यावसायिनीनां गमने मैथुनाचरणे कृच्छ्राब्दः प्रायश्चित्तं संवत्सरं प्राजापत्यविधिनाऽवस्थानम् । बुद्धिपूर्व इदम् ॥ ३२ ॥

अमत्या द्वादशरात्रः ॥ ३३ ॥

कृच्छ्रे प्रकृते द्वादशरात्रग्रहणं पराकोपसंग्रहणार्थम् । तथा च—

अन्त्यजानां तु गमने भोजने च प्रमापणे ।
पराकेण विशुद्धः स्याद्भगवानङ्गिरा ब्रवीत् ॥ इति ।

इदमपि रेतःसेकात्प्रागेवोपरतस्य । ऊर्ध्वं तु वासिष्ठम्—द्वादशरात्रमब्भक्षो द्वादशरात्रमुपवसेदश्वमेधावभृथं वा गच्छेदेतेन चाण्डालीव्यवायो व्याख्यात इति ॥ ३३ ॥

उदक्यागमने त्रिरात्रः ॥ ३४ ॥

उदक्यागमने सति ब्रह्मचर्यानशनाभ्यां विना प्रायश्चित्तेन त्रिरात्रो गमयितव्यः । बुद्धिपूर्वे सकृद्गमन इदम् । अभ्यासे मानवम्—

अमानुषीषु गोवर्जमुदक्यायामयोनिषु ।
रेतः सिक्त्वा जले चैव कृच्छ्रं सान्तपनं चरेत् ॥ इति ।

अत्र प्रजापतिः—अनृते सोमपः कुर्यात्रिरात्रं परमं तपः ।
पूर्णाहुतिं वा जुहुयात्सप्त ते अग्न इत्यृचा ॥ इति ।
अनृतोक्तौ ष्ठीवने च दन्तस्पर्शन एव च ॥
पतितानां च संभाषे दक्षिणं श्रवणं स्पृशेत् ॥ इति ।

इदं परिहासादिनिमित्तानृतविषयम् । हारीतः—

प्रत्याश्रुत्यानृतं ब्रूयान्मिथ्या सत्यमथापि वा ।
स तप्तकृच्छ्रसहितं चरेच्चान्द्रायणव्रतम् ॥ इति ।

प्रजापतिः—मासं भुक्त्वा ब्रह्मचारी पुनः संस्कारमर्हति ।
अभ्यास ऐन्दवं चैव नैष्ठिको द्विगुणं चरेत् ॥
वनस्थस्त्रिगुणं कुर्याद्यतिः कुर्याच्चतुर्गुणम् ।
मांसाशनेऽनृतोक्तौ च शवनिर्हरणे तथा ॥ इति ॥ २७ ॥

आक्रोशे विशेषः—

सत्यवाक्ये वारुणीमानवीभिर्होमः ॥ २८ ॥

आक्रोशे सत्यवाक्ये सति वारुणीभिर्मानवीभिश्चाऽऽज्यहोमः कर्तव्यः । त्रिरात्रं परममित्येव । " यत्किंचेदम् " "इमं मे वरुण" "तत्त्वा यामि" " अवते हेड " इति वारुण्यः । अग्निरुक्थे पुरोहित इत्यारभ्याऽध्यायपरिसमाप्तेर्मानव्य ऋच एकोनषष्टिर्मनुना दृष्टाः । तास्वन्त्याश्चतस्रो मक्षू देववत इत्याद्यास्तैत्तिरीयके सौमारौद्र्यामिष्टौ धाय्यत्वेन विनियुक्ताः । असावादित्य इत्यस्मिन्ननुवाके मानवीऋचौ धाय्ये कुर्यादिति । सूत्रकारोऽप्याह—मानवीऋचौ धाय्ये मक्षू देववत इत्येतासां द्वे इति । तत्रान्त्याभिराभिश्चतसृभिर्होम इत्येके । अन्ये तु ऋग्वेदपठिताभिः सर्वाभिर्ऋग्भिरिति ॥ २८ ॥

विवाहमैथुननर्मार्तसंयोगेष्वदोषमेकेऽनृतम् ॥ २९ ॥

विवाहकाले कन्यावरयोरसत्स्वपि गुणेषु कथितेषु, इदं ते दास्यामीति प्रतिश्रुत्याप्रदाने च न दोषः । तथा मैथुनसंयोग इदं ते दास्यामीत्युक्त्वा मैथुने कृते तस्यादानेऽपि न दोषः । नर्म परिहासस्तत्संयोगेऽनृतवचने न दोषः । तद्यथा भोक्तुकामं गृहमागतं श्यालादिकं प्रत्युच्यते—

---

१ क. ख. घ. 'थमल°।

अभोज्यं बुभुक्षमाणः पृथिवीमावपेत् ॥ ३ ॥

नित्यमभोज्यं केशकीटावपन्नमित्युक्तं यदि गत्यभावे तदेव भोक्तुमिच्छति तदा पृथिवीमावपेन्मृदं प्रक्षिपेत्ततो भुञ्जीत ॥ ३ ॥

ऋत्वन्तरारमण उदकोपस्पर्शनाच्छुद्धिमेके ॥ ४ ॥

ऋतुमध्य आरमण उदक्यागमन उदकोपस्पर्शनात्सचैलस्नानाच्छुद्धिमाहुरेके । उदक्यागमने त्रिरात्र इति प्रकाशविपयम् । एकेग्रहणं परत्रापि संबध्यते ॥ ४ ॥

स्त्रीषु ॥ ५ ॥

एके मन्यन्ते स्वस्त्रीषूदकोपस्पर्शनमन्यत्र त्रिरात्रं मन्यन्ते । अपर आह—स्त्रीषु वडवाद्यास्वपि गोवर्जं मैथुन आचरित उदकोपस्पर्शनाच्छुद्धिमेके मन्यन्ते ॥ ५ ॥

अथ ब्राह्मणवधे रहस्यम्—

पयोव्रतो वा दशरात्रं घृतेन द्वितीयमद्भिस्तृतीयं
दिवादिष्वेकभक्तिको जलक्लिन्नवासा लोमानि
नखानि त्वचं मांसं शोणितं स्नाय्वस्थि मज्जानमिति
होमा आत्मनो मुखे मृत्योरास्ये जुहोमीत्यन्ततः
सर्वेषां प्रायश्चित्तं भ्रूणहत्यायाः ॥ ६ ॥

भ्रूणहत्या ब्रह्महत्या तस्याः प्रायश्चित्तमिदमुच्यते । आदित एकं दशरात्रं पयोव्रतः क्षीराहारः स्यात् । द्वितीयं दशरात्रं घृतेन वर्तयेत् । तृतीयमद्भिः । वाशब्दाद्धविष्यभोजनो वा । शक्तितो विकल्पः । एतेषु दिवसेष्वेकभक्तिकः पयःप्रभृति किमपि पूर्वोक्तं सकृदेवोपभुञ्जीत । कदा दिवादिषु प्रातःकालेषु न सायं न मध्याह्ने । जलक्लिन्नवासा एषु दिवसेष्वार्द्रवासाश्च स्यात् । तथा होमाश्चाष्टौ प्रत्यहमाज्येन कर्तव्याः । तत्र मन्त्राः, लोमानि नखानि त्वचं मांसं शोणितं स्नाय्वस्थि मज्जानमिति । तेषां सर्वेषामात्मनो मुखे मृत्योरास्ये जुहोमि स्वाहेत्यन्ते प्रयोक्तव्यम् । जुहोतिचोदना स्वाहाकारप्रदानेति वचनात् । तद्यथा । लोमान्यात्मनो मुखे मृत्योरास्ये जुहोमि स्वाहा, नखान्यात्मनो मुखे मृत्योरास्ये जुहोमि स्वाहेत्येवंप्रकारा होमाः ॥ ६ ॥

अबुद्धिपूर्वे सकृद्गमने शातातपोक्तम् । अनुदकमूत्रपुरीषकरणे च काकस्पर्शने सचैलस्नानं महाव्याहृतिभिर्होमश्च । रजस्वलागमने चैवमिति । अभ्यासे वासिष्ठम्—रजस्वलागमने शुक्लमृषभं दद्यात्कृष्णपिङ्गमिति ॥ ३४ ॥

## इति श्रीहरदत्तविरचितायां गौतमसूत्रविवृतौ मिताक्षरायां त्रयोविंशोऽध्यायः ॥ २३ ॥

---

## अथ चतुर्विंशोऽध्यायः ।

---

रहस्यं प्रायश्चित्तं वक्ष्यते—

रहस्यं प्रायश्चित्तमविख्यातदोषस्य ॥ १ ॥

यस्य पापस्य दोषः परैर्न विख्यातस्तस्य प्रायश्चित्तं रहस्यं भवति यथा परैर्न ज्ञायते तथा कर्तव्यमिति यावत् । यैर्विना यत्पातकं कर्तुं न शक्यते तद्यतिरिक्तैर्ज्ञातत्वं निषिध्यते । तेन पारदार्ये पतितसंवासे च तैर्ज्ञातत्वेऽपि वक्ष्यमाणं भवत्येव ॥ १ ॥

चतुर्ऋचं तरत्समन्दीत्यप्सु जपेदप्रतिग्राह्यं प्रतिजिघृक्षन्प्रतिगृह्य वा ॥ २ ॥

जातिदुष्टस्य वा कर्मदुष्टस्य वा पुरुषस्य स्वभूतं स्वयं दुष्टं च कृष्णाजिनाद्यप्रतिग्राह्यं गत्यभावात्प्रतिजिघृक्षन्प्रतिग्रहीतुमिच्छंस्तरत्समन्दी धावतीति चतुर्ऋचं सूक्तमप्सु जपेत् । नाभिदघ्ने जले स्थित इत्यके । निमग्न इत्यन्ये । प्रतिगृह्य वा प्रतिग्रहात्पश्चाद्वा जपेदेवं तुल्यवद्विकल्पः । अन्ये प्रतिग्रहात्पूर्वमेवाप्रतिग्राह्यमिति ज्ञाते प्राग्जपः । पश्चाज्ज्ञाते पश्चाज्जप इति । अत्र मनुः—

प्रतिगृह्याप्रतिग्राह्यं भुक्त्वा चान्नं विगर्हितम् ।
जपंस्तरत्समन्दीयं मुच्यते मानवस्त्र्यहात् ॥ इति ।

प्रजापतिः—जपादिपूर्णं कुर्यात्ख्यातदोषो द्विजोत्तमः ।
रहःकृतस्य दोषस्य तत्तदेवाभ्यसेत्तथा ॥ इति ।

इदमभ्यासविषयम् ॥ २ ॥

---

१ क. ख. ग. °त्यके ।

व्याघ्रोऽप्याह—न सावित्रीसमं जप्यं न व्याहृतिसमं हुतम् ।
नान्नतोयसमं दानं न चाहिंसासमं तपः ॥ इति ॥१०॥

प्रायश्चित्तान्तरमाह—

अन्तर्जले वाऽघमर्षणं त्रिरावर्तयन्सर्व-
पापेभ्यो [विमुच्यते] विमुच्यते ॥ ११ ॥

तद्भूत एवोदकस्यान्तर्निमग्नस्त्रिंशद्वारात्रमघमर्षणं त्रिरभ्यस्य सर्वस्मात्पापाज्ज्ञानकृतादज्ञानकृताच्च मुच्यते । द्विरुक्तिश्च व्याख्याता ॥ ११ ॥

इति श्रीहरदत्तकृतायां गौतमीयधर्मशास्त्रे मिताक्षरायां
चतुर्विंशोऽध्यायः ॥ २४ ॥

---

अथ पञ्चविंशोऽध्यायः ।

---

उक्तानि महापातकेषु रहस्यप्रायश्चित्तानि । अथोपपातकेषु वक्ष्यन्प्रथममवकीर्णिनः प्रायश्चित्तं वक्तुं तस्य निन्दातिशयप्रदर्शनाय श्रुतिमुदाहरति—

तदाहुः कतिधाऽवकीर्णी प्रविशतीति ॥ १ ॥

तदिति वाक्योपन्यासः । कतिधाऽवकीर्णी कतिभिः प्रकारैः किं किं प्रविशतीति ब्रह्मवादिन आहुः ॥ १ ॥

अत्रोत्तरम्—

मरुतः प्राणेनेन्द्रं बलेन बृहस्पतिं ब्रह्म-
वर्चसेनाग्निमेवेतरेण सर्वेणेति ॥ २ ॥

प्राणेन पञ्चवृत्तिना मरुतो वायूनभिविशति । इन्द्रं बलेन प्रविशति । श्रुतस्वाध्यायसंपन्नब्रह्मवर्चसेन बृहस्पतिम् । इतरेण सर्वेण चक्षुरादिभिरिन्द्रियपर्वणाग्निमेव प्रविशति । एवमल्पावशिष्टो ब्रह्मवर्चसहीनः श्रुतादिहीनश्चावकीर्णी भवति । अतश्चरितव्यं प्रायश्चित्तम् ॥ २ ॥

तदानीमाह—

अथ भ्रूणहत्याया एवान्यत्प्रायश्चित्तमुच्यते—

उक्तो नियमः ॥ ७ ॥

पयोव्रतो वेत्यादिर्वक्ष्यमाणेऽपि वेदितव्यः ॥ ७ ॥

अग्ने त्वं पारयेति महाव्याहृतिभिर्जु-
हुयात्कूश्माण्डैश्चाऽऽज्यम् ॥ ८ ॥

अग्ने त्वं पारयेत्यृचा महाव्याहृतिभिर्भूरादिभिः कूश्माण्डैर्यद्देवा देवहेडनमित्यादिभिश्च क्रमेण सकृदाज्यं जुहुयात् ॥ ८ ॥

तद्व्रत एव वा ब्रह्महत्यासुरापानस्तेयगुरु-
तल्पेषु प्राणायामैस्तान्तोऽघमर्षणं जपन्स-
ममश्वमेधावभृथेनेदं च प्रायश्चित्तम् ॥ ९ ॥

तद्व्रत एव वा तेनैव पयोव्रतो वेत्यादिना व्रतेनोपेतश्चतुर्षु ब्रह्महत्यादिषु पापेषु प्रायश्चित्तं कुर्यात्। प्राणायामैस्तान्तो म्लानो यावद्भिः प्राणायामैस्तान्तो भवति तावद्भिः कुर्यादघमर्षणम्। अघमर्षणेन ऋषिणा दृष्टमृतं च सत्यं चेत्यादिनाऽघमर्षणम्। तच्चाश्वमेधावभृथेन समं तुल्यम्। जपन्निति वर्तमानप्रयोगेण प्रत्यहमेव त्रिंशद्रात्रं व्रतं कुर्यात्। अत्र मनुः—

यथाऽश्वमेधः क्रतुराट्सर्वपापप्रणाशनः।
तथाऽघमर्षणं सूक्तं सर्वपापप्रणाशनम् ॥ ९ ॥

सावित्रीं वा सहस्रकृत्व आवर्त-
यन्पुनीते हैवाऽऽत्मानम् ॥ १० ॥

तद्व्रत एवेत्यनुवर्तते प्राणायामैस्तान्त इति च। सावित्रीं सहस्रकृत्व आवर्तयन्निति जप्यमात्रं भिद्यते। अन्यत्समानम्। एवं कुर्वन्नात्मानं पुनीते ब्रह्महत्यादिभ्यश्चतुर्भ्यः शोधयति। हेति प्रसिद्धौ। एवेत्यवधारणे। ततश्चान्येष्वपि पापेषु सावित्र्यभ्यासः शुद्धिहेतुः। तथा च वासिष्ठः—

सहस्रपरमां देवीं शतमध्यां दशावराम्।
शुद्धिकामः प्रयुञ्जीत सर्वपापेष्वपि स्थितः ॥ इति।

एतदेवैकेषां कर्माधिकृत्य योऽप्रयत इव स्यात्स इत्थं जुहुयादित्थमनुमन्त्रयेत वरो दक्षिणेति प्रायश्चित्तमविशेषात् ॥ ६ ॥

योऽपूत इव स्यादन्योऽप्यात्मानमपूतमिव मन्यते न केवलमवकीर्णी सोऽप्येतदेवोक्तं कर्माधिकृत्येत्थं जुहुयादित्थमनुमन्त्रयेत होममुपस्थानं चैवं कुर्यात् । वरो दक्षिणा गौर्वै वरः सा स्वयंकर्तृकत्वाद्ब्राह्मणे देयेति श्रवणविशेषात् । अविशेषेण सर्वेषामुपपातकिनामिदं प्रायश्चित्तमित्येकेषां मतम् ॥ ६ ॥

अनार्जवपैशुनप्रतिषिद्धाचारानाद्यप्राशनेषु शूद्रायां च रेतः सिक्त्वाऽयोनौ च दोषवति च कर्मण्यपि संधिपूर्वेऽब्लिङ्गाभिरप उपस्पृशेद्वारुणीभिरन्यैर्वा पवित्रैः ॥ ७ ॥

अनार्जवं शाठ्यम्, पैशुनं परदोषसूचनम् । प्रतिषिद्धाचारो निषिद्धानुष्ठानम् । अनाद्यमभक्ष्यं तस्य प्राशनम् । एतेषु शूद्रायां रेतः सिक्त्वाऽयोनौ चाऽऽस्यादिषु वा रेतः सिक्त्वा, दोषवति कर्मणि परपीडात्मके स्तेयात्मके च संधिपूर्वे बुद्धिपूर्वे, अपिशब्दादबुद्धिपूर्वे कृतेऽब्लिङ्गाभिरापो हि ष्ठा मयोभुव इति तिसृभिर्हिरण्यवर्णाः शुचयः पावका इति चतसृभिः, वारुणीभिर्यत्किंचेदमिमं मे वरुण तत्त्वा याम्यव ते हेड इत्येताभिरन्यैर्वा पवित्रैः पवमानः सुवर्जन इत्यादिभिरप उपस्पृशेत्पूर्वं स्नात्वा पश्चादञ्जलिना मूर्ध्नि मन्त्रैरेतैरपः क्षिपेत् । यद्यप्यनाद्यप्राशनमपि प्रतिषिद्धाचारस्तथाऽपि पृथगुपादानात्तेषु बहुभिर्मार्जनमनाद्यप्राशने यथासंभवं द्रष्टव्यम् ॥ ७ ॥

सोऽमावास्यायां निश्यग्निमुपसमाधाय
प्रायश्चित्ताज्याहुतीर्जुहोति ॥ ३ ॥

सोऽवकीर्ण्यमावास्यायां निश्यर्धरात्रे गृह्योक्तेन मार्गेणाग्निं प्रतिष्ठाप्योपसमाधायाऽऽज्यभागान्ते प्रायश्चित्तरूपा आज्याहुतीर्जुहोति ॥ ३ ॥ तत्र मन्त्रौ—

कामावकीर्णोऽस्म्यवकीर्णोऽस्मि कामकामाय स्वाहा । कामाभिदुग्धोऽस्म्यभिदुग्धोऽस्मि कामकामाय स्वाहेति समिधमाधायानुपर्युक्ष्य यज्ञवास्तु कृत्वोपोत्थाय समासिञ्चत्वित्येतया त्रिरुपतिष्ठेत ॥ ४ ॥

होमान्त एकां समिधं तूष्णीमाधायादितेऽन्वमꣳस्था इत्यादिभिरग्निमनुपर्युक्षति । ततो यज्ञवास्तु करोति । अत्र च्छन्दोगाना गृह्ये स्विष्टकृतोऽनन्तरं पठ्यते—समिधमाधाय दर्भानाज्ये हविषि च त्रिरवधायाग्रमध्यमूलान्यक्तं रिहाणा वियन्तु वय इत्यभ्युक्ष्याग्नावनुप्रहरे[1]द्यः(?)यो भूतानामधिपती रुद्रैस्तन्तिचरो वृषा पशूनस्माकं मा हिंसीरेतदस्तु हुतं तव स्वाहेति तद्यज्ञवास्तु सर्वत्र कुर्यादिति । तदेतद्यज्ञवास्तु कृत्वोपोत्थायाग्निसमीपे स्थित्वा समासिञ्चतु इत्येतया च त्रिरग्निमुपतिष्ठेत ॥ ४ ॥

त्रिरुपस्थानस्यार्थवादः—

त्रय इमे लोका एषां लोकानामभिजित्या अभिक्रान्त्या इति ॥ ५ ॥

त्रयो हि लोका भूर्भुवः स्वरिति । तेषामभिजितिर्भोगयोग्यतापादनम् । अभिक्रान्तिस्तत्रैवाऽऽधिपत्येनाधिष्ठायावस्थानम् । तदर्थमेवं कर्तव्यमिति संबन्धः ॥ ५ ॥

---

१ ग. ॰रेद्यः पशूना॰ । २ ग. ॰रस्त इति च॰ ।

पुनरयं वक्तव्यः । कथम्—सायं प्रातर्द्विजातीनामशनं श्रुतिचोदितमिति परिसंख्यानाद्द्विरेव भोजनं प्राप्तं तत्र प्रातराशान्भुक्त्वेत्युक्ते परिसंख्यानात्सिद्धा रात्रावशननिवृत्तिर्यथोत्तरत्र दिवा भोजननिवृत्तिः ॥ २ ॥

अथापरं त्र्यहं नक्तं भुञ्जीत ॥ ३ ॥

एवं दिवा हविष्यभोजनेन त्र्यहं नीत्वाऽनन्तरं त्र्यहं नक्तमेव भुञ्जीत हविष्यानित्येव ॥ ३ ॥

अथापरं त्र्यहं न कंचन याचेत ॥ ४ ॥

अथ नक्तभोजनत्र्यहानन्तरमपरं त्र्यहं न कंचन बन्धुमपि याचेत । याञ्चाप्रतिषेधोऽयम् । स्वद्रव्यस्य वाऽयाचितलब्धस्याप्रतिषेधः । एवमुक्ते हविष्यनियमो न प्राप्नोति कालविशेषाश्रवणाद्द्विर्भोजनं च प्राप्नोति । न याचेतेत्यत्रापि हविष्यानित्येवानुवर्तते । अयाचितलब्धेऽपि सकृदेव सिद्धम् । कुतः, अथापरमिति वचनस्य पूर्वेण सदृशार्थत्वात् । तच्च दिवा नक्तं वा यथेच्छम् । अन्ये तु त्र्यहमयाचितव्रत इत्यापस्तम्बीये दर्शनादयाचितलब्धेनैव त्र्यहं वृत्तिर्न स्वद्रव्येण नापि याचितलब्धेनेति वर्णयन्ति । अनुष्ठानमप्येवमेव ॥ ४ ॥

अथापरं त्र्यहमुपवसेत् ॥ ५ ॥

स्पष्टम् । एवमयं द्वादशाहसाध्यः कृच्छ्रः । वसिष्ठेन प्रकारान्तरमपि दर्शितम्—

अहः प्रातरहर्नक्तमहरेकमयाचितम् ।
अहश्चोपवसेदेकमेवं चतुरहौ परौ ॥
अनुग्रहार्थं विप्राणां मनुर्धर्मभृतां वरः ।
बालवृद्धातुराणां च शिशुकृच्छ्रमुवाच ह ॥ इति ।

भरद्वाजः—प्राजापत्यं चरन्विप्रो यद्यशक्तो दिने दिने ।
विप्रान्पञ्चावरान्शुद्धान्भोजयेत्सम्यगर्चितान् ॥

यस्मिन्दिनेऽशक्तिस्तस्मिन्नेवं, दिनान्तरेषु पूर्ववत् । तत्राप्यशक्तो ब्राह्मणभोजनमुपवासदिनेष्वशक्तो वा ब्राह्मणभोजनं कृत्वा हविष्यान्सम्यग्भुञ्जीत ॥ ५ ॥

अथ कृच्छ्रस्य गुणविधिः—

---

१ ग. °तुराणांमिदि° ।

सर्वास्वपो वाऽऽचामेदहश्च माऽऽदित्यश्च पुनात्विति प्रातः रात्रिश्च मा वरुणश्च पुनात्विति सायम् ॥ ९ ॥

सर्वासु पापक्रियास्वनार्जवादिष्वाभ्यां मन्त्राभ्यामपोऽभिमन्त्र्याऽऽचामेदहश्चेति प्रातः पिबेद्रात्रिश्चेति सायं पिबेत् ॥ ९ ॥

अष्टौ वा समिध आदध्याद्देवकृतस्येति हुत्वैव सर्वस्मादेनसो मुच्यते ॥ १० ॥

अथ वा देवकृतस्येत्यादिभिर्मन्त्रैरष्टौ समिध आदध्याज्जुहुयात्। हुत्वैव सर्वस्मादेनसो न केवलमनार्जवादिभ्यः किंत्वयाज्ययाजनादेरप्येनसो मुच्यते। अस्य होमस्य मुख्यत्वप्रदर्शनार्थमेवकारः। हुत्वैवान्यद्‌कृत्वेति। ततश्च सति संभव इदमेव ज्यायः। देवकृतस्यैनसोऽवयजनमसि स्वाहेत्यादयोऽष्टौ मन्त्राः ॥ १० ॥

इति श्रीहरदत्तविरचितायां गौतमसूत्रविवृतौ मिताक्षरायां पञ्चविंशोऽध्यायः ॥ २५ ॥

---

अथ षड्विंशोऽध्यायः।

---

कृच्छ्रातिकृच्छ्रौ चान्द्रायणमित्युक्तं तत्र क्रमेण कृच्छ्रादिस्वरूपमाह-

अथातः कृच्छ्रान्व्याख्यास्यामः ॥ १ ॥

अथशब्दोऽधिकारार्थः। अतःशब्दो हेतौ। य एते आदयाता न शक्यन्ते कर्तुमतः कृच्छ्रान्व्याख्यास्याम इति ॥ १ ॥

तत्र मन्त्राः—

नमोऽहमाय मोहमाय मंहमाय धुन्वते तापसाय पुनर्वसवे नमः। नमो मौञ्ज्यायोर्म्याय वसुविन्दाय सार्वविन्दाय नमः। नमः पाराय सुपाराय महापाराय पारयिष्णवे नमः। नमो रुद्राय पशुपतये महते देवाय त्र्यम्बकायैकचरायाधिपतये हराय शर्वायेशानायोग्राय वज्रिणे घृणिने कपर्दिने नमः। नमः सूर्यायाऽऽदित्याय नमः। नमो नीलग्रीवाय शितिकण्ठाय नमः। नमः कृष्णाय पिङ्गलाय नमः। नमो ज्येष्ठाय श्रेष्ठाय वृद्धायेन्द्राय हरिकेशायोर्ध्वरेतसे नमः। नमः सत्याय पावकाय पावकवर्णाय कामाय कामरूपिणे नमः। नमो दीप्ताय दीप्तरूपिणे नमः। नमस्तीक्ष्णाय तीक्ष्णरूपिणे नमः। नमः सोम्याय सुपुरुषाय महापुरुषाय मध्यमपुरुषायोत्तमपुरुषाय ब्रह्मचारिणे नमः। नमश्चन्द्रललाटाय कृत्तिवाससे नमः॥१२॥

नायमेको मन्त्रः। एताश्चाऽऽज्याहुतय इति बहुवचननिर्देशात्। किं तर्हि त्रयोदशैते मन्त्रा नमस्कारादयो नमस्कारान्ताश्च सर्वे। तत्र प्रथमे चतुर्थ्यन्तानि षड्देवस्य नामानि, द्वितीये चत्वारि तथा तृतीये, चतुर्थे त्रयोदश, महते देवायेति महादेवपदमेव व्यस्तमुक्तम्। पञ्चमादिषु त्रिषु द्वे, अष्टमे षट्,नवमे पञ्च, दशमे द्वे, तथैकादशे,द्वादशे षट्, त्रयोदशे द्वे इति षट्पञ्चाशद्देवनामानि। एभिर्मन्त्रैस्तर्पणमनुसवनम् ॥१२॥

एतदेवाऽऽदित्योपस्थानम् ॥ १३॥

आदित्य उपस्थीयते येन तदादित्योपस्थानम् एतेन। कृत्स्नेन मन्त्रे-

१ ग° 'ह'। २ ग° 'वर्थां°'।

तिष्ठेदहनि रात्रावासीत क्षिप्रकामः ॥ ६ ॥

यः कामयेत क्षिप्रं शुध्येयमिति स तिष्ठन्नेवाहर्नयेत् भोजनाद्यविरोधेन रात्रावासीत स्वापोऽप्यासीनस्यैव । वसिष्ठस्तु क्षिप्रकामस्य प्रकारान्तरमाह—

अथ चेत्त्वरते कर्तुं दिवसं मारुताशनः ।
रात्रौ चैव जले तिष्ठेत्प्राजापत्येन तत्समम् ॥
सावित्र्यष्टसहस्रं तु जप्यं कृत्वोत्थिते रवौ ।
मुच्यते पातकैः सर्वैर्यदि न भ्रूणहा भवेत् ॥ ६ ॥

सत्यं वदेत् ॥ ७ ॥

सत्यं यथादृष्टम् । विवाहादिविषयेऽपि सत्यमेव वदेत् ॥ ७ ॥

अनार्यैर्न संभाषेत ॥ ८ ॥

द्विजातिव्यतिरिक्तैर्लिङ्गस्याविवक्षितत्वात्तत्स्त्रीभिरपि न संभाषेत ॥८॥

रौरवयौधाजपे नित्यं प्रयुञ्जीत ॥ ९ ॥

रौरवयौधाजपे सामनी पुनानः सोमधारयेत्यस्यामृचि गीते नित्यं प्रत्यहं प्रयुञ्जीत गायेत् । अपर आह—नित्यं पुनः प्रयुञ्जीतेति ॥ ९ ॥

अनुसवनमुदकोपस्पर्शनमापो हि ष्ठेति तिसृभिः पवित्रवतीभिर्मार्जयीत हिरण्यवर्णाः शुचयः पावका इत्यष्टाभिः ॥ १० ॥

उदकोपस्पर्शनं स्नानम् । तदनुसवनं त्रिषु सवनेषु कर्तव्यम् । तदनन्तरं च मार्जनमापो हि ष्ठेत्यादिभिः । पवमानः सुवर्जन इत्यनुवाके या ऋचस्ताः पवित्रवत्यो लिङ्गसमवायात् । ताभिश्च तैत्तिरीये पञ्चमे काण्डे षष्ठे प्रश्ने हिरण्यवर्णाः शुचयः पावका इत्याद्या ऋचः पठ्यन्ते ता दश भवन्ति तत्राष्टाभिः । यदि तु शाखान्तरे क्वचिदष्टावेव पठ्यन्ते ततस्ता एव ग्राह्याः ॥ १० ॥

अथोदकतर्पणम् ॥ ११ ॥

अथ मार्जनानन्तरमुदकेन तर्पणं कर्तव्यम् ॥ ११ ॥

तत्र मन्त्राः—

नमोऽहमाय मोहमाय मंहमाय धुन्वते तापसाय पुनर्वसवे नमः । नमो मौञ्ज्यायोर्व्याय वसुविन्दाय सार्वविन्दाय नमः । नमः पाराय सुपाराय महापाराय पारयिष्णवे नमः । नमो रुद्राय पशुपतये महते देवाय त्र्यम्बकायैकचरायाधिपतये हराय शर्वायेशानायोग्राय वज्रिणे घृणिने कपर्दिने नमः । नमः सूर्यायाऽऽदित्याय नमः । नमो नीलग्रीवाय शितिकण्ठाय नमः । नमः कृष्णाय पिङ्गलाय नमः । नमो ज्येष्ठाय श्रेष्ठाय वृद्धायेन्द्राय हरिकेशायोर्ध्वरेतसे नमः । नमः सत्याय पावकाय पावकवर्णाय कामाय कामरूपिणे नमः । नमो दीप्ताय दीप्तरूपिणे नमः । नमस्तीक्ष्णाय तीक्ष्णरूपिणे नमः । नमः सोम्याय सुपुरुषाय महापुरुषाय मध्यमपुरुषायोत्तमपुरुषाय ब्रह्मचारिणे नमः । नमश्चन्द्रललाटाय कृत्तिवाससे नमः ॥ १२ ॥

नायमेको मन्त्रः । एताश्चाऽऽज्याहुतय इति बहुवचननिर्देशात् । किं तर्हि त्रयोदशैते मन्त्रा नमस्कारादयो नमस्कारान्ताश्च सर्वे । तत्र प्रथमे चतुर्थ्यन्तानि षड्देवस्य नामानि, द्वितीये चत्वारि तथा तृतीये, चतुर्थे त्रयोदश, महते देवायेति महादेवपदमेव व्यस्तमुक्तम् । पञ्चमादिषु त्रिषु द्वे, अष्टमे षट्,नवमे पञ्च, दशमे द्वे, तथैकादशे,द्वादशे षट्, त्रयोदशे द्वे इति षट्पञ्चाशद्देवनामानि । एभिर्मन्त्रैस्तर्पणमनुसवनम् ॥ १२ ॥

एतदेवाऽऽदित्योपस्थानम् ॥ १३ ॥

आदित्य उपस्थीयते येन तदादित्योपस्थानम् एतेन । कृत्स्नेन मन्त्रे-

---

१ क. 'दृश्य' । २ ग. 'व ह्यां' ।

णाऽऽदित्य उपस्थेय इत्युक्तं भवति । एतदप्यनुसवनं प्रत्यहम् । सकृदित्यन्ये. पृथग्योगकरणात् । अन्यथाऽथोदकतर्पणमादित्योपस्थानं चेत्येकमेव योगमकरिष्यत् ॥ १३ ॥

एता एवाऽऽज्याहुतयः ॥ १४ ॥

एता इति मन्त्रमपि परामृशति । एतच्छब्दस्याऽऽहुतिसामानाधिकरण्यात्स्त्रीलिङ्गता । एतैरेव त्रयोदशभिर्मन्त्रैराज्यमपि होतव्यमित्युक्तं भवति । तत्र 'जुहोतिचोदना स्वाहाकारप्रदाना" इति स्वाहाकारान्तैर्होमः प्रत्यहं सकृत्कर्तव्यः ॥ १४ ॥

द्वादशरात्रस्यान्ते चरुं श्रपयित्वै-
ताभ्यो देवताभ्यो जुहुयात् ॥ १५ ॥

एवमुक्तेन प्रकारेण द्वादशरात्रं नीत्वा तदन्ते त्रयोदशेऽहनि गृह्योक्तेन मार्गेण चरुं श्रपयित्वैताभ्यो वक्ष्यमाणाभ्यो देवताभ्यो जुहुयात् ॥ १५ ॥

ता आह—

अग्नये स्वाहा सोमाय स्वाहाऽग्नीषोमाभ्या-
मिन्द्राग्निभ्यामिन्द्राय विश्वेभ्यो देवेभ्यो ब्रह्मणे
प्रजापतयेऽग्नये स्विष्टकृत इति ॥ १६ ॥

स्विष्टकृता सह नवाऽऽहुतयः । द्विः स्वाहाकारपाठोऽनुपन्नप्रकारदर्शनार्थः । सर्व एव स्वाहाकारान्ताः ॥ १६ ॥

ततो ब्राह्मणतर्पणम् ॥ १७ ॥

ततो होमानन्तरं ब्राह्मणास्तर्पयितव्या भोजनादिभिः । शुचीन्मन्त्रवतः सर्वकृत्येषु भोजयेदित्यापस्तम्बः ॥ १७ ॥

एतेनैवातिकृच्छ्रो व्याख्यातः ॥ १८ ॥

स्पष्टम् ॥ १८ ॥

यस्त्वस्य विशेषस्तमाह—

यावत्सकृदाददीत तावदश्नीयात् ॥ १९ ॥

एकेन पाणिना यावत्सकृदादातुं शक्नुयात्तावदेवाश्नीयात् । हविष्यं दिवा नक्तमयाचितमुपवास इति विशेषाः स्थिता एव ।

अत्र मनुः—एकैकं ग्रासमश्नीयाच्त्र्यहाणि त्रीणि पूर्ववत् ।
त्र्यहं चोपवसेदन्त्यमिति कृच्छ्रः स उच्यते ॥

अब्भक्षस्तृतीयः स कृच्छ्रातिकृच्छ्रः ॥ २० ॥

पूर्वोक्तेष्वेव भोजनकालेषु केवलमुदकमेव पिबेत्स एष तृतीयः कृच्छ्रातिकृच्छ्रो नाम वेदितव्यः । अत्रोपवासदिनेष्वाचमनव्यतिरेकेणोदकपानमपि न भवति । त एते त्रयः कृच्छ्रा उक्ताः ॥ २० ॥

तेषु—

प्रथमं चरित्वा शुचिः पूतः कर्मण्यो भवति ॥ २१ ॥

प्रथमं प्राजापत्यं चरित्वा शुचिः संध्याहीनोऽशुचिर्नित्यमनर्हः सर्वकर्मस्वित्यादिना विहिताकरणनिमित्तेन दोषेण हीनः । पूतः प्रतिषिद्धाचरणजन्येनाधर्मेण रहितः । कर्मण्यः कर्मसु योग्यश्च भवति । कर्मण्य इति वचनादप्रज्ञातदोषस्यापि कृच्छ्रानुष्ठानादेवानादिष्टेषु कर्मसु योग्यतेति ज्ञाप्यते ॥ २१ ॥

द्वितीयं चरित्वा यत्किंचिदन्यन्महापातकेभ्यः पापं कुरुते तस्मात्प्रमुच्यते ॥२२॥

द्वितीयमतिकृच्छ्रं चरित्वा महापातकव्यतिरिक्तैः पापैर्मुच्यते ॥ २२ ॥

तृतीयं चरित्वा सर्वस्मादेनसो मुच्यते ॥ २३ ॥

तृतीयं कृच्छ्रातिकृच्छ्रं चरित्वा सर्वस्मान्महापातकादप्येनसोऽनभिसंधिकृतान्मुच्यते ॥ २३ ॥

एवं व्यस्तानां फलमुक्त्वा समस्तानामाह—

अथैतांस्त्रीन्कृच्छ्रांश्चरित्वा सर्वेषु वेदेषु स्नातो भवति सर्वैर्देवैर्ज्ञातो भवति ॥ २४ ॥

य एतांस्त्रीन्कृच्छ्रानव्यवधानेनानुतिष्ठति तस्य सर्वान्वेदानधीत्य स्नातस्य यत्फलं तत्तुल्यं फलं भवति । सर्वेषां देवानां लोका जितास्तेन ॥ २४ ॥

अथ विदुषः प्रशंसा—

यश्चैवं वेद ॥ २५ ॥

यश्चैतान्कृच्छ्रान्स्वरूपेणेतिकर्तव्यतया फलेन विजानाति सोऽपि सर्वेषु वेदेषु स्नातो भवति सर्वैर्देवैर्ज्ञातो भवति। एवं ज्ञानं प्रशस्तमित्यर्थः ॥ २५ ॥

इति श्रीहरदत्तविरचितायां गौतमसूत्रविवृतौ मिताक्षरायां षड्विंशोऽध्यायः ॥ २६ ॥

---

अथ सप्तविंशोऽध्यायः।

---

अथातश्चान्द्रायणम् ॥ १ ॥

पूर्ववद्व्याख्येयम् । चन्द्रप्राप्तिनिमित्तभूतं कर्म चान्द्रायणम् । तथा चान्ते वक्ष्यति चन्द्रमसः सलोकतामाप्नोतीति ॥ १ ॥

तस्योक्तो विधिः कृच्छ्रे ॥ २ ॥

तिष्ठेदहनीत्यादिको यो विधिः कृच्छ्र उक्तः स चान्द्रायणस्यापि द्रष्टव्यः ॥ २ ॥

यस्तु विशेषः स उच्यते—

वपनं व्रतं चरेत् ॥ ३ ॥

व्रतमिति प्रायश्चित्तमाह। 'एतैर्द्विजातयः शोध्या व्रतैराविष्कृतैनसः' इत्यादौ दर्शनात्। यदि प्रायश्चित्तार्थं चान्द्रायणं क्रियते तदा वपनमपि कर्तव्यम्। अविशेषेऽपि पुरुषाणामेव। तदेव स्त्रियाः केशवपनवर्जमिति बौधायनस्मरणम् । चान्द्रायणे वपनविधानात्कृच्छ्रे प्रायश्चित्तार्थेऽपि न भवति। व्रतं चरेदिति वचनाददृष्टार्थे कर्मण्यतार्थे च चान्द्रायणे न वपनम् ॥ ३ ॥

श्वोभूतां पौर्णमासीमुपवसेत् ॥ ४ ॥

श्वः पौर्णमासी भवितेत्यवगम्य पूर्वेद्युश्चतुर्दश्यामुपवसेत्। उपवासो भोजनलोपः ॥ ४ ॥

आप्यायस्व सं ते पयांसि नवो नव इति चैताभिस्तर्पणमाज्यहोमो हविषश्चानुमन्त्रणमुपस्थानं चन्द्रमसः ॥ ५ ॥

आप्यायस्वेत्यादिभिर्मन्त्रैस्तर्पणादीनि चत्वारि कर्माणि कर्तव्यानि । वैषम्याद्यथासंख्यं न भवति । तत्र तर्पणहोमौ प्रतिमन्त्रं भवतः । अनुमन्त्रणमुपस्थानं च समुच्चयेन । कृच्छ्रातिदेशातिदेशाद्गौद्रेण च उदकतर्पणादयः प्राप्तास्तेषां च समुच्चय इत्येके । उपदिष्टैरतिदिष्टानां बाध इत्यन्ये ॥ ५ ॥

यद्देवा देवहेडनमिति चतसृभिर्जुहुयात् ॥ ६ ॥

यद्देवा देवहेडनमित्यनुवाक आदितश्चतसृभिर्ऋग्भिरनादेशादाज्यं जुहुयात् । पूर्वाभिस्तिसृभिश्चेति सप्ताऽऽज्याहुतयः ॥ ६ ॥

देवकृतस्येति चान्ते समिद्भिः ॥ ७ ॥

आज्यहोमान्ते देवकृतस्येत्यादिभिः पूर्वोक्तैरष्टभिर्मन्त्रैः समिद्भिर्होमः कर्तव्यः । उपदेशक्रमादेव सिद्धेऽन्तग्रहणं प्राप्तानुवादः । अन्ये पुनश्चान्द्रायणान्त इति व्याचक्षते तेषां चशब्दो न संगच्छते ॥ ७ ॥

*ॐ भूर्भुवः स्वस्तपः सत्यं यशः श्रीरूर्गिडौजस्तेजो वर्चः पुरुषो धर्मः शिव इत्येतैर्ग्रासानुमन्त्रणं प्रतिमन्त्रं मनसा ॥ ८ ॥

प्रणवाद्यः पञ्चदश मन्त्रास्तेषामेकैकेन मन्त्रेणैकैकस्य ग्रासस्य मनसाऽनुमन्त्रणं कर्तव्यम् । अनुमन्त्रणक्रमेण भोजनम् । यदा तु न्यूना ग्रासास्तदा यावद्ग्रासमादितो मन्त्रग्राह्या अन्ततो लुप्यन्ते । ग्रासानुमन्त्रणमिति वचनान्नैते भोजनमन्त्राः । ततश्च प्राणाहुतिमन्त्राणामनिवृत्तिः । यदा चत्वारो ग्रासास्तदा द्वाभ्यां पूर्वं यदा त्रयो द्वाभ्यां द्वाभ्यां पूर्वौ यदा द्वौ द्वाभ्यां पूर्वमुत्तरं त्रिभिः, सर्वैरेकम् । हविषश्चानुमन्त्रण-

* मुद्रित याज्ञवल्क्यस्मृतौ तु—ॐ भूः ॐ भुवः ॐ स्वः ॐ महः ॐ जनः ॐ सत्यं तथा च ॐ तपः ॐ पुरुष इति पाठान्तरं दृश्यते ।

१ क. ख. घ. °स्य भी° । २ क. ख. घ. °स्तेजः । पु° ।

मिति पूर्वोक्तमिह तु ग्रासानुमन्त्रणमिति प्राणाहुतिमन्त्राश्च स्थिताः। तत्र प्रयोगः-सर्वं भोज्यं पात्रे निधायाऽऽप्यायस्वेत्यादिभिरनुमन्त्र्य ग्रासान्कृत्वा प्रणवादिभिः क्रमेणानुमन्त्र्य प्राणाहुतीः कृत्वा प्राश्नीयादिति ॥ ८ ॥

नमः स्वाहेति वा सर्वान् ॥ ९ ॥

अथ वा सर्वानेव ग्रासान्नमः स्वाहेत्यनुमन्त्रयेत् । नमः स्वाहेत्यनयोर्विकल्पः । समुदितो मन्त्र इत्यन्ये ॥ ९ ॥

ग्रासप्रमाणमास्याविकारेण ॥ १० ॥

यावत्प्रमाणे ग्रासे ग्रस्यमाने आस्यमविकृतं भवति तावत्तस्य प्रमाणम् ॥ १० ॥

चरुभैक्षसक्तुकणयावकशाकपयोदधिघृतमूलफलो-
दनिका हवींष्युत्तरोत्तरं प्रशस्तानि ॥ ११ ॥

हविष्यैरुपकल्पितो नवस्रावितो विशदसिद्धौदनश्चरुः । भैक्षं ब्रह्मचारिणा शिष्यादिना स्वयमानीतं गृहस्थस्य 'भिक्षाचरणनिषेधात् । चूर्णीकृता लाजाः सक्तवः । कणाः फलीकरणानि । यावकः पूर्वमुक्तः । अन्यानि प्रसिद्धानि । द्वादशैतानि हवींषि । तेषु च पूर्वस्मात्पूर्वस्मादुत्तरमुत्तरं प्रशस्तं तत्र द्रवाणां पत्रपुटादिना ग्रासकल्पना । तपांसि चैनःसु गुरुषु गुरूणि लघुषु लघूनि ॥ ११ ॥

पौर्णमास्यां पञ्चदश ग्रासान्भुक्त्वै-
कापचयेनापरपक्षमश्नीयात् ॥ १२ ॥

एवं चतुर्दश्यामुपोष्यापरेद्युः पञ्चदश्यां पञ्चदश ग्रासानशित्वा ततः परमेकापचयेन द्विर्वचने सत्यर्थः स्पष्टो भवति प्रत्यहमेकैकापचयेनेति । सर्वमेवापरपक्षमश्नीयात् । तिथिह्रासे क्रमप्राप्ते नवमीभोजने यदा प्रातः पञ्च नाड्यो नवमी, अपरेद्युश्च दशमी नास्ति तदा पूर्वेद्युरागतायामेव नवम्यां नव ग्रासान्भुक्त्वाऽपरेद्युरेकादशीप्राप्तानेकादश ग्रासान्भुञ्जीत । दशमीप्राप्तानां दशग्रासानां लोपः । एवं तिथिवृद्धावेकादशीग्रासे प्राप्ते यदा षड्विंशतिनाडिका दिवा दशमी चतस्र एकादशी, अपरेद्यू

रात्रावपि कियत्यप्येकादशी तदा पूर्वेद्युरेकादश्यां प्रनिविष्टायामेकादश ग्रासान्भुक्त्वाऽपरेद्युरपि तानेवैकादश भुञ्जीत तस्यापरेद्युर्द्वादशेति प्रयोगः।

यथा कथंचित्पिण्डानां तिस्रोऽशीतीः समाहितः।
मासेनाश्नन्हविष्यस्य चन्द्रस्येति सलोकताम् ॥

इति मानवे चान्द्रायणान्तरं विधीयते न पुनरुपचयापचयरूप उक्ते चान्द्रायणे पिण्डसंख्यानियमः। तथा च याज्ञवल्क्येन स्पष्टमुक्तम्—

यथा कथंचित्पिण्डानां चत्वारिंशच्छतद्वयम्।
मासेनैकेन भुञ्जीत चान्द्रायणमथापरम् ॥ इति ॥ १२ ॥

अमावास्यायामुपोष्यैकोपचयेन पूर्वपक्षम् ॥ १३ ॥

एवमेकापचयेन ग्रस्यमानेषु चतुर्दश्यामेको ग्रासो भवति। अमावास्यायामुपवासः। अमावास्यायामुपोष्य पूर्वपक्षप्रतिपद्येकं ग्रासमशित्वैकैकोपचयेनैकैकग्रासवृध्द्या कृत्स्नमेव पूर्वपक्षमश्नीयात्। पौर्णमास्यां पञ्चदश भवन्ति। तदेतत्तनुमध्यत्वात्पिपीलिकामध्यं चान्द्रायणम् ॥ १३ ॥

विपरीतमेकेषाम् ॥ १४ ॥

एकेषामाचार्याणां मतेनेदमेव विधानं विपरीतं भवति। अमावास्यायामुपोष्यैकोपचयेन पूर्वपक्षमशित्वा कृष्णप्रतिपदमारभ्यैकापचयेनापरपक्षमश्नीयाच्चतुर्दश्यामेको ग्रासो भवति। अमावास्यायामुपवासः। तदेतत्स्थूलमध्यत्वाद्यवमध्यं चान्द्रायणम् ॥ १४ ॥

एवं चान्द्रायणो मासः ॥ १५ ॥

एवं माससाध्यं चान्द्रायणं तद्योगादेष मासश्चान्द्रायणः। यद्यप्युक्ते प्रकारे पिपीलिकामध्ये द्वात्रिंशदहानि यवमध्ये चैकत्रिंशत्तथाऽपि न वैकेनाक्षरेणेति न्यायेनैष मास इत्युक्तम् ॥ १५ ॥

एवमाप्त्वा विपापो विपाप्मा सर्वमेनो हन्ति ॥ १६ ॥

एवमेवंविधं चान्द्रायणं मासमाप्त्वा माससाध्यमेतद्व्रतं कृत्वा विपापो भवति विहिताकरणजन्यपापहीनः। विपाप्मा निषिद्धाचर-

---

१ याज्ञवल्क्यस्मृतौ तु. 'नैवोपभु°'।

णामवपापहीनः । सर्वमेनो हन्ति यच्चान्यज्जन्मान्तरार्जितं सूक्ष्ममेनस्तदपि सर्वं हन्ति ॥ १६ ॥

द्वितीयमाप्त्वा दश पूर्वान्दश परानात्मानं
चैकविंशं पङ्क्तिं च पुनाति ॥ १७ ॥

द्वावाप्त्वेति वक्तव्ये द्वितीयमिति वचनं नैरन्तर्यार्थं द्वितीयं मासं निरन्तरमाप्त्वेति । कथं पुनर्नैरन्तर्यस्य संभवः । यावता पिपीलिकामध्ये श्वोभूतां पौर्णमासीमुपवसेदित्युक्तं पौर्णमास्यां पञ्चदश ग्रासान्भुक्त्वेति च तथाऽमावास्यायामुपोष्यैकैकोपचयेन पूर्वपक्षमश्नीयादिति तद्द्वितीयपौर्णमास्यन्तः स प्रयोगः । तदनन्तरं द्वितीयस्याऽऽरम्भे चतुर्दश्यामुपवासः । पञ्चदश्यां पञ्चदश ग्रासानिति च नोपपद्यते । तस्मादेवमत्र वक्तव्यम्—नात्र द्वयोश्चान्द्रायणयोर्विधानं किं तर्हि मासद्वयसाध्यमेकं चान्द्रायणं तस्यैव फलविधिः । तस्याऽऽदौ चतुर्दश्यामुपवासस्तृतीये पौर्णमास्यन्तश्च प्रयोगः । मध्ये यथोक्तम् । द्वितीया च पौर्णमासी तन्त्रेण प्रथमस्यान्त्या द्वितीयस्याऽऽद्या । एवं यवमध्ये द्वितीयाऽमावास्या । एतेन संवत्सरं चाऽऽप्त्वेति व्याख्यातम् ॥ १७ ॥

संवत्सरं चाऽऽप्त्वा चन्द्रमसः सलोक-
तामाप्नोति सलोकतामाप्नोति ॥ १८ ॥

यस्तु संवत्सरमव्यवधानेन चान्द्रायणव्रतं चरति स चन्द्रमसः सालोक्यमाप्नोति । द्विरुक्तिर्व्याख्याता । अत्र मनुः—

अष्टावष्टौ समश्नीयात्पिण्डान्मध्यंदिने स्थिते ।
नियतात्मा हविष्यस्य यतिचान्द्रायणं चरन् ॥
चतुरः प्रातरश्नीयाद्द्विजः पिण्डान्समाहितः ।
चतुरोऽस्तमिते सूर्ये शिशुचान्द्रायण चरन् ॥ इति ।

यथाकथंचित्पिण्डानामिति च ॥ १८ ॥

इति श्रीहरदत्तविरचितायां गौतमसूत्रविवृतौ मिताक्षरायां
सप्तविंशोऽध्यायः ॥ २७ ॥

---

१ क. ख. घ. °म्भ चतुर्दश्यारम्भो च°।

अथाष्टाविंशोऽध्यायः ।

अथ दायविभागः—

ऊर्ध्वं पितुः पुत्रा रिक्थं भजेरन् ॥ १ ॥

ऊर्ध्वं पितुः पितरि मृते तदीयं रिक्थं स्वगृहक्षेत्रदासगवाश्वस्वर्णादिकं पुत्रा भजेरन्पुत्रास्तत्र भागिनः । पुत्राणां तत्स्वामित्वमित्युक्तं भवति । ऊर्ध्वं पितुरिति वचनाज्जीवति तस्मिन्न तत्र पुत्राणां स्वाम्यम् । तथा च मनुः—

ऊर्ध्वं पितुश्च मातुश्च समेत्य भ्रातरः सह ।
भजेरन्पैतृकं रिक्थमनीशास्ते हि जीवतोः ॥ इति ।

पितृशब्दस्य संबन्धिशब्दत्वादेव सिद्धे पुत्रग्रहणं नियमार्थम् । तेन पितुरूर्ध्वं विभजतां माताऽप्यंशं समं हरेदित्यादिवचनजातमाचार्यस्याभिमतं न भवति । पुत्रा एवं सर्वं धनादिकं गृहीत्वा मातरं यथावद्रक्षेयुरिति मन्यते । श्रूयते च—तस्मात्स्त्रियो निरिन्द्रिया अदायादा इति । मनुरप्याह—

पिता रक्षति कौमारे भर्ता रक्षति यौवने ।
पुत्रास्तु स्थविरीभावे न स्त्री स्वातन्त्र्यमर्हति ॥ इति ॥ १ ॥

निवृत्ते रजसि मातुर्जीवति चेच्छति ॥ २ ॥

अथ वा जीवत्यपि पितरि पुत्रा रिक्थं भजेरन्निति । इच्छति सति तदनुज्ञयेत्यर्थः । तस्य कालः—

निवृत्ते रजसि मातुः । उपरतरजस्कायां निवृत्तप्रसवायामित्युक्तं भवति ॥ २ ॥

सर्वं वा पूर्वजस्येतरान्बिभृयात्पितृवत् ॥ ३ ॥

*ज्येष्ठ एव सर्वं धनं स्वीकृत्य गृहीत्वेतरान्कनिष्ठान्बिभृयात्* । तेऽपि तस्मिन्पुत्रवद्वर्तेरन् ॥ ३ ॥

विभागे तु धर्मवृद्धिः ॥ ४ ॥

तुशब्दः पक्षं व्यावर्तयति नैतदेवं ज्येष्ठ एव बिभृयादिति । यदुक्तं विभाग एव ज्यायान्यतस्तत्र धर्मवृद्धिः । यथाऽऽह बृहस्पतिः—

१ क. ख. प. °तम उत्स्या° ।

एकपाकेन वसतां पितृदेवद्विजार्चनम् ।
एकं भवेद्विभक्तानां तदेव स्याद्गृहे गृहे ॥ ४ ॥

अधुना पितुरूर्ध्वं जीवति च तस्मिन्विभागप्रकारमाह—

विंशतिभागो ज्येष्ठस्य मिथुनमुभय-
तोदयुक्तो रथो गोवृषः ॥ ५ ॥

सर्वस्मात्पितृधनाद्विंशतितमो भागः, मिथुनं गवादिषु स्त्रीपुंसयोर्युग्मम् । उभयतोदन्ता अश्वाश्वतरगर्दभास्तेषामन्यतमाभ्यां युक्तो रथः, गोवृषः पुंगवः । अयमुद्धारो ज्येष्ठस्य ॥ ५ ॥

काणखोरकूटवण्टा मध्यमस्यानेकाश्चेत् ॥ ६ ॥

काण एकनेत्रो विकलाङ्ग इति यावत् । खोरो वृद्धः । खोट इति पाठे विकलपादः । कूटः शृङ्गहीनः । वण्टो विकलवालधिः । गवाश्वादिषु य एवंरूपः स मध्यमस्योद्धारः स च काणादिर्यद्यनेको भवति । इतरेषामप्यस्ति चेदिति ॥ ६ ॥

अविर्धान्यायसी गृहमनोयुक्तं चतु-
ष्पदां चैकैकं यवीयसः ॥ ७ ॥

अविरूर्णायुः । जातावेकवचनं यावन्तोऽवयः । एकस्य चतुष्पदां चैकैकमित्येव सिद्धत्वात् । अपर आह—यद्यपि पितुरेक एवाविस्तथाऽपि स यवीयसः । चतुष्पदां चैकैकमिति तु बहुविषयमिति । धान्यं व्रीह्यादि । अय आयसं दात्रादि । धान्यमयश्चेति धान्यायसी । एतदुभयं यावत्किंचिद्गृहे । गृहं यत्राऽऽस्यते । अनः शकटं युक्तं वाह्याभ्याम् । चतुष्पदां च गवादीनामेकमिष्टं गृह्णीयात् । अयं कनीयस उद्धारः । अयं च सर्वकनीयसः । इतरेषामुद्धारो यो मध्यमस्य ॥ ७ ॥

समधा चेतरत्सर्वम् ॥ ८ ॥

इतरदुद्धृतशिष्टं सर्वं सर्वे समधा गृह्णीयुः सममित्यर्थः । द्विधा धनुर्धेत्यादौ दृष्टो धाप्रत्ययः प्रयुक्तः ॥ ८ ॥

एकैकं वा धनरूपं काम्यं पूर्वः पूर्वो लभते ॥ ९ ॥

कल्पान्तरेषु पशुषु क्षेत्रादिष्वेकैकं धनरूपं ज्येष्ठानुपूर्व्याद्गृह्णीयुः ।

काम्यं यस्य यदिष्टं स तद्गृह्णीयादिति सर्वेष्विष्टं ज्येष्ठस्तद्रहितेष्विष्टमनन्तर इति । अयमुद्धारः सर्वेषाम् ॥ ९ ॥

अत्रैव पशुषु विशेषः—

दशकं पशूनाम् ॥ १० ॥

दशावयवा अस्य दशकः । पशूनां गवादीनां मध्ये दशकं दशकं पूर्वो लभते न त्वेकमिति ॥ १० ॥

अस्यापवादः—

नैकशफद्विपदाम् ॥ ११ ॥

एकशफानामश्वादीनां द्विपदां दास्यादीनां च दशकं न गृह्णीयुः । किंतु पूर्वोक्तमेकैकमेवेति । द्विपदानामितिपाठे पादशब्देन समानार्थः पदशब्दः । एवमेकमातृकाणां सोद्धारो विभाग उक्तः ॥ ११ ॥

अथानेकमातृकाणामाह—

ऋषभोऽधिको ज्येष्ठस्य ॥ १२ ॥

उत्तरसूत्रे ज्यैष्ठिनेयस्येतिवचनादयं ज्येष्ठः कानिष्ठिनेयः । यदि कनीयस्याः पुत्रो भवति तदा तस्य ऋषभ उद्धारः सममन्यत् ॥ १२ ॥

ऋषभषोडशा ज्यैष्ठिनेयस्य ॥ १३ ॥

ज्येष्ठस्येति वर्तते ज्येष्ठायाः पुत्रश्च भवति यो ज्येष्ठश्च भवति तस्य पञ्चदश गाव ऋषभश्चैक उद्धारः सममन्यत् ॥ १३ ॥

अथ ऋषभोऽधिको ज्येष्ठस्येत्यस्यापवादः—

समधा वाऽज्यैष्ठिनेयेन यवीयसाम् ॥ १४ ॥

ज्येष्ठस्येति वर्तते । तच्चाज्यैष्ठिनेयेनेत्यनेन सामानाधिकरण्यात्तृतीयान्तं संपद्यते । अज्यैष्ठिनेयेन कनिष्ठायां जातेन ज्येष्ठेन सह यवीयसां ज्यैष्ठिनेयानां समो वा विभागः । एकस्य जन्मतो ज्यैष्ठ्यमन्येषां मातृत इति ॥ १४ ॥

प्रतिमातृ वा स्वस्ववर्गे भागविशेषः ॥ १५ ॥

विंशतिभागो ज्येष्ठस्येत्यादिर्य उक्तो भागविशेषः स प्रतिमातृ वा स्वे स्वे वर्गे विशेषः कर्तव्यः । एतदुक्तं भवति—यावत्यो मातरः पुत्रव-

---

१ घ. ङ षोडशादि भा° ।

त्यस्तावता विभक्ते धन एकस्या यावन्तः पुत्रास्तेषां भागानेकीकृत्य तत्र तत्र वर्गे यो यो ज्येष्ठस्तस्य विंशतिभागो ज्येष्ठस्येत्यादिर्भागविशेष इति । एवं पुत्रवतो विभाग उक्तः ॥ १५ ॥

अथापुत्रस्याऽऽह—

पितोत्सृजेत्पुत्रिकामनपत्योऽग्निं प्रजापतिं
चेष्ट्वाऽस्मदर्थमपत्यमिति संवाद्य ॥ १६ ॥

पिता नाम तामुत्सृजेद्दद्यात् । भाविसंज्ञानिर्देशोऽयम् । यथा यूपं छिनत्तीति । पुत्रिकां भविष्यन्तीं दुहितरमनपत्योऽपुत्रोऽग्निं प्रजापतिं चेष्ट्वाऽग्नये स्वाहा प्रजापतये स्वाहेत्याज्यभागानन्तरमौपासन आज्येन हुत्वाऽस्मदर्थमपत्यमिति संवाद्य यस्मै ददाति तेन संवादं कारयित्वा । तत्र प्रकारो वसिष्ठेन दर्शितः—

अभ्रातृकां प्रदास्यामि तुभ्यं कन्यामलंकृताम् ।
अस्यां जनिष्यते पुत्रः स मे पुत्रो भवेदिति ॥

एवं दत्ता सा पुत्रिका तस्यां जातो मातामहस्यैव पुत्रो नोत्पादयितुः । अत एव मनुः—

मातुः प्रथमतः पिण्डं निर्वपेत्पुत्रिकासुतः ।
द्वितीयं तु पितुस्तस्यास्तृतीयं तु पितुः पितुः ॥ इति ।

एवं सर्वे गर्भाः पुत्रिकाऽप्येषा पितुः पुत्रप्रतिनिधिः । इवे प्रतिकृतौ संज्ञायां कन्निति । सैव च रिक्थग्राहिणी । तथा च मनुः—

पुत्रिकायां कृतायां तु यदि पुत्रोऽनुजायते ।
समस्तत्र विभागः स्याज्ज्येष्ठता नास्ति हि स्त्रियाः । इति ।

गोत्रमपि तस्याः पितुरेव गोत्रम् । भर्तुस्तु केवलं धर्मेषु सहचारिणी रतिफला च । पुत्रार्थं तु विवाहान्तरं कर्तव्यं स्वकुलसंतानार्थमन्यथा लोपः ॥ १६ ॥

अभिसंधिमात्रात्पुत्रिकेत्येकेषाम् ॥ १७ ॥

एके मन्यन्ते प्रदानसमये पितुर्योऽभिसंधिरियं मे पुत्रिकाऽस्त्विति तावन्मात्रकादेव दुहिता पुत्रिका भवति न होमसंवादनाद्यपेक्षेति ॥ १७ ॥

ततश्च—

तत्संशयान्नोपयच्छेदभ्रातृकाम् ॥ १८ ॥

तत्संशयादृभिसंधिसंशयात्पुत्रिकासंशयाद्वा । मनुरप्याह—

यस्यास्तु न भवेद्भ्राता न विज्ञायेत वा पिता ।
नोपयच्छेत तां प्राज्ञः पुत्रिकाधर्मशङ्कया ॥ इति ॥ १८ ॥

पिण्डगोत्रर्षिसंबन्धा रिक्थं भजेरन्स्त्री वाऽनपत्यस्य ॥१९॥

यस्य पुत्रिकारूपमप्यपत्यं नास्ति सोऽनपत्यस्तस्य रिक्थं पिण्डादिसंबन्धा भजेरन्स्त्री वा । पिण्डसंबन्धाः सपिण्डा गोत्रसंबन्धाः सगोत्रा हारीतस्य हारीत इतिवत् । ऋषिसंबन्धाः समानप्रवरा हरितकुत्सपिशङ्गशङ्खदर्भहैमगवाः परस्परम् । एवमन्यत्रापि । तत्र सपिण्डाद्याः प्रत्यासत्तिक्रमेण गृह्णीयुः । तथा चाऽऽपस्तम्बः—पुत्राभावे यः प्रत्यासन्नः सपिण्ड इति । तद्यथा—पिता माता च सोदर्यस्तत्पुत्रा भिन्नोदरा भ्रातरस्तत्पुत्राः पितृव्य इत्यादि । सपिण्डाभावे सगोत्रास्तदभावे समानप्रवराः स्त्री तु सर्वैः सगोत्रादिभिः समुच्चीयते । यदा सपिण्डादयो गृह्णन्ति । तदा तैः सह पत्न्यप्येकमंशं हरेत् । तथा—

पितुरुर्ध्वं विभजतां माताऽप्यंशं समं हरेत् । इति ।

अत एव स्त्री पृथङ्निर्दिष्टा । सपिण्डादयः समानेन । पत्नीदायस्त्वाचार्यस्य पक्षे न भवति ।

मनुरपि—निरिन्द्रिया अदायादा स्त्रियो नित्यमिति स्थितिः । इति ।

अत्र सपिण्डाद्यभावे बृहस्पतिः—

अन्यत्र ब्राह्मणात्किं तु राजा धर्मपरायणः ।
तत्स्त्रीणां जीवनं दद्यादेष दायविधिः स्मृतः ॥
अन्नार्थं तण्डुलप्रस्थमपराह्णे तु सेन्धनम् ।
वसनं त्रिपणक्रीतं देयमेकं त्रिमासतः ॥
एतावदेव साध्वीनां चोदितं विधिनाऽशनम् । इति ।

तदेवं मनुबृहस्पतिभ्यां पत्नीदायस्यात्यन्ताभाव उक्तः । याज्ञवल्क्येन तु पत्नीदायः स उक्तः—पत्नी दुहितरश्चेत्यादि । अत्र व्यासः—

द्विसहस्रपणो दायः पत्न्यै देयो धनस्य तु ।
यच्च भर्त्रा धनं दत्तं सा यथाकाममाप्नुयात् ॥ इति ।

आचार्येण तु सपिण्डादिसमांशग्रहणमुक्तम् । तत्र सर्वमेव धनं सपिण्डाद्या गृहीत्वा स्त्रियो यावज्जीवं रक्षेयुरिति मुख्यः कल्पः । तदसंभवेऽशनवसनयोः पर्याप्तं धनक्षेत्रादिकमंशत्वेन व्यपोह्य शेषं गृह्णीयुः । तथा च बृहस्पतिना पत्नीदायं प्रतिपिध्यान्त उक्तम्—

वसनस्याशनस्यैव तथैव रजतस्य च ।
त्रयं व्यपोह्य तच्छिष्टं दायादानां प्रकल्पयेत् ॥
धूमावसारिकं द्रव्यं सहायास्तानतः पुरा ।
तथैवाशनवासांसि विगणय्य धने मृता ॥ इति ॥ १९ ॥

बीजं वा लिप्सेत ॥ २० ॥

अथवा स्त्री सपिण्डादिभ्यो बीजं लिप्सेत, अपत्यमुत्पादयेदित्युक्तं भवति । अस्मिन्पक्षे तु न सपिण्डाद्या धनं गृह्णीयुरेष्यतोऽपत्यस्यार्थाय रक्षेयुः ॥ २० ॥

अस्मिन्पक्षे विशेषः—

देवरवत्यामन्यजातमभागम् ॥ २१ ॥

देवरे विद्यमाने यद्यन्यतो बीजं लिप्सेत । ततस्तस्यां जातमपत्यमभागं भागरहितं न तस्य धनग्रहणमस्ति । असति तु देवरेऽन्यतो जातमप्यपत्यं सभागमेव ॥ २१ ॥

स्त्रीधनं दुहितॄणामप्रत्तानामप्रतिष्ठितानां च ॥ २२ ॥

पितृमातृसुतभ्रातृदत्तमध्यग्न्युपागतम् ।
आधिवेदनिकाद्यं च स्त्रीधनं परिकीर्तितम् ॥ इति याज्ञवल्क्यः ।

तत्स्त्रीधनं तस्यां मृतायां दुहितॄणामप्रत्तानां भवति । यदि सर्वा अपि प्रत्ता अप्रतिष्ठितानां भवति । प्रत्तासु प्रतिष्ठिताः काश्चित्काश्चिदप्रतिष्ठिताः । प्रत्ताप्रत्तासमवायेऽप्रत्ता गृह्णाति । प्रतिष्ठिताप्रतिष्ठितासमवायेऽप्रतिष्ठिता गृह्णाति । यदा प्रसूतादिधनं तदा सर्वासां भवति । एषा मातुरूर्ध्वं जीवन्त्यां पितृकुललब्धस्य स्त्रीधनस्य गतिः । तथा च मनुः—मातुस्तु यौतकं यत्स्यात्कुमारीभाग एव सः ।

---

१ ग. इ पुस्त च था ।

वसिष्ठश्च—मातुः पारिणेयं स्त्रियो विभजेरन्निति । यत्तु शङ्खलिखिताभ्यामुक्तम्–समं सर्वे सोदर्या मातृकं द्रव्यमर्हाः स्त्रीकुमार्यश्चेति तद्भर्तृकुलल्लब्धेः प्रत्तासु दुहितृषु । तत्र प्रत्ताविषये प्रभूततमे मानवम्—

जनन्यां संस्थितायां तु समं सर्वे सहोदराः ।
भजेरन्मातृकं रिक्थं भगिन्यश्च सनाभयः ॥
यास्तासां स्युर्दुहितरस्तासामपि यथार्हतः ।
मातामह्या धनात्किंचित्प्रदेयं प्रीतिपूर्वकम् ॥ इति ।

तत्रैवाल्पे धने बार्हस्पत्यम्—

स्त्रीधनं तदपत्यानां दुहितॄणां तदंशिनी ।
अप्रत्ता चेत्समूढा सा लभेत तु समातृकम् ॥ इति ॥२२॥

## भगिनीशुल्कः सोदर्याणामूर्ध्वं मातुः ॥ २३ ॥

भगिनीप्रदाननिमित्तं पित्रा यद्गृहीतं द्रव्यमासुरार्षविवाहयोस्तस्मिन्मृते तस्या भगिन्या एव सोदर्या भ्रातरस्तेषां भवति । तच्च मातुरूर्ध्वं जीवन्त्यां मातरि तस्या एव न तु मृतस्य पितुरेतत्स्वमिति तत्र ये भागिनो भिन्नोदरा भ्रातरो मातुसपत्नी चेति ते सर्वेऽशं न गृह्णीयुरिति । यच्च विवाहसमये भर्त्रादिकुलेन भगिन्यार्थे दत्तमाभरणक्षेत्रादिकं तत्तस्या एव । मृतायां च तस्यामप्रजसि याज्ञवल्क्येनोक्तम्—

बन्धुदत्तं तथा शुल्कमन्वाधेयकमेव च ।
अप्रजायामतीतायां बान्धवास्तदवाप्नुयुः ॥

येन यद्दत्तं स तदवाप्नुयादिति । सत्यां तु प्रजायां सैव गृह्णीयादिति ॥ २३ ॥

## पूर्वं चैके ॥ २४ ॥

प्रागपि मातुर्मरणाद्भगिनीशुल्कं सोदर्याणां भवतीत्येके मन्यन्ते । तस्या वृत्तापेक्षो विकल्पः ॥ २४ ॥

## असंसृष्टिविभागः प्रेतानां ज्येष्ठस्य ॥ २५ ॥

असंसृष्टिनो विभक्तभ्रातरः । विभक्तव्यो विभागः । असंसृष्टिनां विभागोऽसंसृष्टिविभागः । प्रेतानामित्येतदुपसर्जनीभूतानामप्यसंसृष्टिनां विशेषणम् । अनपत्यस्य चेति वर्तते । असंसृष्टिनां विभक्तानामनपत्यानां भ्रातॄणां प्रेतानां यो विभागो विभक्तव्यो धनादिः स ज्येष्ठस्य

भ्रातुर्भवति नेतरेषां भ्रातॄणां नापि पत्न्या न च पित्रोरित्याचार्यस्य पक्षः। तथा च शङ्खलिखितपैठीनसी—अपुत्रस्य स्वर्यातस्य भ्रातृगामि द्रव्यं तदभावे मातापितरौ हरेतां पत्नी वा ज्येष्ठा सगोत्रशिष्यस्य ब्रह्मचारिणश्चेति।

मनुस्तु—पिता हरेदपुत्रस्य रिक्थं भ्रातर एव च।

देवलश्च–ततो दायमपुत्रस्य विभजेरन्सहोदराः॥
सकुल्या दुहिता वाऽपि ध्रियमाणः पिताऽपि च ॥इति॥२५॥

संसृष्टिनि प्रेते संसृष्टी रिक्थभाक् ॥ २६ ॥

भ्रात्रादिभिः संसृष्टं धनं यस्य स संसृष्टी साधारणधनोऽविभक्तो विभज्य संसृष्टश्च।

विभक्तो यः पुनः पित्रा भ्रात्रा वैकत्र संवसेत्।
पितृव्येणाथवा प्रीत्या स तत्संसृष्ट उच्यते॥

इति बार्हस्पत्ये दर्शनात्। अनपत्यस्येति वर्तते। संसृष्टीत्यनपत्ये प्रेते तस्य रिक्थं संसृष्टी भजेत्। तत्रापि सोदर्येणासोदर्येण च संसृष्टे सोदर्यो भजेत्। सोदरस्य तु सोदर इति याज्ञवल्क्यदर्शनात्। तदेवं विभक्ते भ्रातर्यनपत्ये मृते तद्धनं ज्येष्ठस्य। असति ज्येष्ठे इतरेषां भ्रातॄणाम्। अविभक्ते तु मृते तदंशः सर्वेषां भ्रातॄणामिति॥ २६ ॥

विभक्तजः पित्र्यमेव ॥ २७ ॥

यस्तु विभागादूर्ध्वं जातः पुत्रस्तस्यामन्यस्यां वा भार्यायां स पित्र्यमेव गृह्णीयात्। विभागादूर्ध्वं पित्रा यदर्जितं विभागकाले वा गृहीतं तदेव भजेदल्पं प्रभूतं वा। अत्र बृहस्पतिः—

पुत्रैः सह विभक्तेन पित्रा यत्स्वयमर्जितम्।
विभक्तजस्य तत्सर्वमनीशाः पूर्वजाः स्मृताः॥

यदा तु पितुर्न किंचिदस्ति तदा वैष्णवम्–पितृविभक्ता विभागोत्तरोत्पन्नस्य भागं दद्युरिति।

याज्ञवल्क्योऽप्याह—

विभक्तेषु सुतो जातः सवर्णायां विभागभाक्।
दृश्याद्वा तद्विभागः स्यादायव्ययविशोधितात्॥

अत्र मनुनारदौ—

ऊर्ध्वं विभागाज्जातस्तु पित्र्यमेव हरेद्धनम् ।
संसृष्टास्तेन वा येऽस्य विभजेत स तैः सह ॥ इति ॥ २७ ॥

स्वयमर्जितमवैद्येभ्यो वैद्यः कामं न दद्यात् ॥ २८ ॥

विद्यामधीत इति वैद्यः स्वयमर्जितं विद्यारहितेभ्यो भ्रातृभ्यः कामं न दद्यात् । अदानेऽपि न प्रत्यवायो दाने त्वभ्युदय इति ॥ २८ ॥

अवैद्याः समं विभजेरन् ॥ २९ ॥

यदा तु सर्वे भ्रातरो मूर्खाः कृष्यादिनोपार्जयेयुस्तदा समं विभजेरन् । वैद्येनापि कृष्यादिना यदर्जितं न विद्यया लब्धं यदि पितृद्रव्याविरोधि तत्र साम्यमेव । तत्र सूत्रद्वयमपि चैतद्भ्रातृविषयमेव । पितरि तु जीवति विदुषाऽविदुषा वाऽविभक्तेनार्जितं पितुरेव ।

भार्या पुत्रश्च दासश्च त्रय एवाधनाः स्मृताः ।
यत्ते समधिगच्छन्ति यस्यैते तस्य तद्धनम् ॥ इति मनुः ॥ २९ ॥

आचार्येण पुत्रा रिक्थं भजेरन्नित्युक्तं तत्रौरसा एव पुत्रा इति संप्रत्ययो मा भूदित्याह—

पुत्रा औरसक्षेत्रजदत्तकृत्रिमगूढो-
त्पन्नापविद्धा रिक्थभाजः ॥ ३० ॥

औरसो धर्मपत्नीजः । अत्र याज्ञवल्क्यः—

अपुत्रेण परक्षेत्रे नियोगोत्पादितः सुतः ।
उभयोरप्यसौ रिक्थी पिण्डदाता च धर्मतः ॥ इति ।

अयमेवोत्पादयितुर्न बीजिनश्च भर्तुः । दत्तविषये वसिष्ठः—

न ज्येष्ठं पुत्रं दद्यात्प्रतिगृह्णीयाद्वा स हि संतानाय पूर्वेषाम् । न स्त्री पुत्रं दद्यात्प्रतिगृह्णीयाद्वाऽन्यत्रानुज्ञानाद्भर्तुः । पुत्रं प्रतिग्रहीष्यन्बन्धूनाहूय राजनि चाऽऽवेद्य निवेशनस्य मध्ये व्याहृतिभिर्हुत्वाऽदूरे बान्धवसंनिकृष्टमेव प्रतिगृह्णीयात् । इति । स दत्तः । कृत्रिमविषये मनुः—

सदृशं तु प्रकुर्याद्यं गुणदोषविचक्षणम् ।
पुत्रं पुत्रगुणैर्युक्तं स विज्ञेयस्तु कृत्रिमः ॥

१ ग. ड. °न्प्रथमत°।

उत्पद्यते गृहे यस्य न च ज्ञायेत कस्यचित् ।
स गृहे गूढ उत्पन्नस्तस्य स्याद्यस्य तल्पजः ॥
मातापितृभ्यामुत्सृष्टं तयोरन्यतरेण वा ।
यं पुत्रं प्रतिगृह्णीयादपविद्धस्तु स स्मृतः ॥ इति ।

षडेते रिक्थभाजः पुत्राः ॥ ३० ॥

## कानीनसहोढपौनर्भवपुत्रिकापुत्रस्वयंदत्तक्रीता गोत्रभाजः ॥ ३१ ॥

पितृवेश्मनि कन्या तु यं पुत्रं जनयेद्रिह ।
तं कानीनं वदेन्नाम्ना वोढुः कन्यासमुद्भवम् ॥ इति ।

अत्र वसिष्ठः—अप्रत्ता दुहिता यस्य पुत्रं विन्देत तुल्यतः ।
पौत्री मातामहस्तेन दद्यात्पिण्डं हरेद्धनम् ॥ इति ।

याज्ञवल्क्यः—कानीनः कन्यकाजातो मातामहसुतो मतः । इति ।

तत्राप्रत्तायामेव मृतायां मातामहस्य पुत्रः पौत्रो वा । ऊढायां वोढुः ।

अत्र मनुः—या गर्भिणी संस्क्रियते ज्ञाताऽज्ञाताऽपि वा सती ।
वोढुः स गर्भो भवति सहोढ इति चोच्यते ॥
या पत्या वा परित्यक्ता विधवा वा स्वयेच्छया ।
उत्पादयेत्पुनर्भूत्वा स पौनर्भव उच्यते ॥

पुत्रिकापुत्रः पूर्वमेवोक्तः । मनुः—

मातापितृविहीनो यस्त्यक्तो वा स्यादकारणात् ।
आत्मानं स्पर्शयेद्यस्मै स्वयंदत्तस्तु स स्मृतः ॥
क्रीणीयाद्यस्त्वपत्यार्थं मातापित्रोर्यमन्तिकात् ।
स क्रीतकः सुतस्तस्य सदृशोऽसदृशोऽपि वा ॥ इति ।

एते तु गोत्रभाजो गोत्रमेव केवलं भजन्ते न रिक्थम् । पूर्वे तु रिक्थभाजो गोत्रभाजश्चौरसेन सहाभिधानात् । सर्वे चैते सजातीयाः ।

सजातीयेष्वयं प्रोक्तस्तनयेषु मया विधिः ।

इति याज्ञवल्क्यवचनात् ॥ ३१ ॥

## चतुर्थांशिन औरसाद्यभावे ॥ ३२ ॥

अथ वा नैते कानीनादयो न रिक्थभाजः किंतु चतुर्थांशिनः पितृधनस्य चतुर्थमंशं भजेरन् । पूर्वोक्तानां षण्णामौरसादीनामभावे । भावे तु त एव भजेरन् । चतुर्थांशव्यतिरिक्तं च सपिण्डा गृह्णीयुः । यदत्र

पुत्रिकापुत्रस्यौरसाद्यभावेऽपि चतुर्थांशमात्रत्वमुक्तं तदपकृष्टपुत्रिकापुत्रविषयम्। यो हीनवर्णायां भार्यायां दुहितरं पुत्रिकां करोति तत्राप्यभिसंधिमात्रेण तत्पुत्रविषयमित्यर्थः। अत्र मनुः—

पुत्रिकायां कृतायां तु यदि पुत्रो नु जायते।
समस्तत्र विभागः स्याज्ज्येष्ठता नास्ति हि स्त्रियाः॥
षष्ठं तु क्षेत्रजस्यांशं प्रदद्यात्पैतृकाद्धनात्।
औरसो विभजन्दायं पित्र्यं पञ्चममेव वा॥
औरसक्षेत्रजौ पुत्रौ पितृरिक्थस्य भागिनौ।
दशापरे तु क्रमशो गोत्ररिक्थांशभागिनः॥ इति च।

अत्र दत्तपुत्रग्रहणानन्तरं वसिष्ठः—यस्मिंश्चेत्प्रतिगृहीत औरसः पुत्र उत्पद्यते चतुर्थभागभागी स्यात्। इति।

अत्र कात्यायनः—उत्पन्ने त्वौरसे पुत्रे तृतीयांशहराः सुताः।
सवर्णा असवर्णास्तु ग्रासाच्छादनभागिनः॥ इति।

अत्र बृहस्पतिः—एक एवौरसः पित्र्ये धने स्वामी प्रकीर्तितः॥
तत्तुल्यः पुत्रिकापुत्रो भर्तव्यास्त्वपरे स्मृताः।
क्षेत्रजाद्याः सुतास्त्वन्ये पञ्चषट्सप्तभागिनः॥ इति।

हारीतः—विभजिष्यमाण एकविंशं कानीनाय दद्याद्विंशं पौनर्भवायैकोनविंशं द्व्यामुष्यायणायाष्टादशं क्षेत्रजाय सप्तदशं पुत्रिकापुत्रायेतरानौरसाय। इति।

याज्ञवल्क्यो द्वादश पुत्राननुक्रम्याऽऽह—

पिण्डदोंऽशहरश्चैषां पूर्वाभावे परः परः। इति।

मनुरपि—श्रेयसः श्रेयसोऽभावे पापीयान्रिक्थमर्हति। इति।

नारदोऽपि—क्रमादेते प्रवर्तन्ते मृते पितरि तद्धने।
ज्यायसो ज्यायसोऽभावे जघन्यस्तदवाप्नुयात्॥ इति।

वसिष्ठोऽपि—यस्य तु पूर्वेषां च न कश्चिद्दायादः स्यादेते तस्य दायं हरेयुरिति।

अत्रौरसः पुत्रिकापुत्रः क्षेत्रजः कानीनो गूढोत्पन्नोऽपविद्धः सहोढः पौनर्भवो दत्तः स्वयमुपागतः कृतकः क्रीत इति क्रमेण पुत्रानभिधाय देवलः—

एते द्वादश पुत्रास्तु संतत्यर्थमुदाहृताः ।
आत्मजाः परजाश्चैव लब्धा यादृच्छिकास्तथा ॥
तेषां पड्बन्धुदायादाः पूर्वे ये पितुरेव षट् ।
विशेषश्चापि पुत्राणामानुपूर्व्याद्विशिष्यते ॥
सर्वेऽप्यनौरसस्यैते पुत्रा दायहराः स्मृताः ।
औरसे पुनरुत्पन्ने तेषु ज्यैष्ठ्यं न गच्छति ॥
तेषां सवर्णा ये पुत्रास्ते तृतीयांशभागिनः ।
हीनाः समुपजीवेयुर्ग्रासाच्छादनसंभृताः ॥ इति ।

बन्धुदायादा इति बन्धूनां सपिण्डानामप्येते दायं हरेयुर्न केवलं पितुरेव । इतरे पितुरेवेति । एष एव स्मृत्यन्तरेष्वपि बन्धुदायादशब्दस्यार्थः । तदेवम्—

औरसः पुत्रिका बीजिक्षेत्रिणौ पुत्रिकासुतः ।
पौनर्भवश्च कानीनः सहोढो गूढसंभवः ॥
दत्तक्रीतस्वयंदत्ताः कृत्रिमश्चापविद्धकः ।
यत्र क्व चोत्पादितश्च पुत्राख्या दश पञ्च च ॥
अनेनैव क्रमेणैषां पूर्वाभावे परः परः ।
पिण्डदोंऽशहरश्चेति युक्ता गुणवशा स्थितिः ॥ इति ॥३२॥

उक्तः सवर्णपुत्राणां विभागः । अथ क्रमविवाहेष्वसवर्णापुत्रेषु विशेषमाह—

ब्राह्मणस्य राजन्यापुत्रो ज्येष्ठो गुणसंपन्नस्तुल्यभाक् ॥ ३३ ॥

ब्राह्मणस्य राजन्यायां जातः पुत्रो यदि गुणसंपन्नो ज्येष्ठश्च भवति तदा ब्राह्मणीपुत्रेण यवीयसा तुल्यभाक्। एकस्य वयसा ज्यैष्ठ्यमपरस्य जात्येति ॥ ३३ ॥

ज्येष्ठांशहीनमन्यत् ॥ ३४ ॥

विंशतिभागो ज्येष्ठस्येत्यादिर्य उद्धारः पूर्वमुक्तस्तद्व्यतिरिक्तमन्यद्विभजेतेति प्रकरणाद्गम्यते । गुणहीने ज्येष्ठे च राजन्यापुत्रे मानवम्—

सर्वं वा रिक्थजातं तद्दशधाऽ१ विभज्य तु ।
धर्म्यं विभागं कुर्वीत विधानेन तु धर्मवित् ॥

---

१ क ख. ध. °ना. स्तमु° ।

चतुरोंऽशान्हरेद्विप्रस्त्रीनंशान्क्षत्रियासुतः ।
वैश्यापुत्रो हरेद्द्‌व्यंशमेकं शूद्रासुतो हरेत् ॥ इति ॥ ३४ ॥

राजन्यावैश्यापुत्रसमवाये यथा स ब्राह्मणीपुत्रेण ॥ ३५ ॥

यदा ब्राह्मणीपुत्रस्तु नाऽऽस्ते तदा राजन्यापुत्रो ब्राह्मणीपुत्रेण समवाये यथा तुल्यभाक्, एवं क्षत्रियापुत्रेण वैश्यापुत्रस्तुल्यभाक् ॥ ३५ ॥

क्षत्रियाचेत् ॥ ३६ ॥

चेच्छब्दश्चशब्दस्यार्थे क्षत्रियाचोत्पन्नयोः पुत्रयोः समवाये वैश्यापुत्रो ज्येष्ठो गुणसंपन्नः क्षत्रियापुत्रेण यवीयसा तुल्यभाक् । एवं वैश्यादुत्पन्नस्य शूद्रापुत्रस्याप्येके मन्यन्ते द्रव्यमिति । नेत्यन्येऽनुक्तत्वात्॥३६॥

शूद्रापुत्रोऽप्यनपत्यस्य शुश्रूषुश्चेल्लभेत वृत्तिमूलमन्तेवासिविधिना ॥ ३७ ॥

ब्राह्मणस्येति वर्तते । अनपत्यस्याविद्यमानद्विजातिपुत्रस्य ब्राह्मणस्य शूद्रापुत्रोऽपि वृत्तिमूलं लभेत । यावता कृष्यादिकर्मसमर्थो भवति तावल्लभेत स यद्यन्तेवासिविधिना शुश्रूषुर्भवति यथा शिष्य आचार्यं शुश्रूषते तथा शुश्रूषुश्चेदिति । एवं क्षत्रियवैश्ययोरपि शूद्रापुत्रो वृत्तिमूलं लभेत ॥ ३७ ॥

सवर्णापुत्रोऽप्यन्याय्यवृत्तो न लभेतैकेषाम् ॥ ३८ ॥

यस्त्वन्याय्यवृत्तोऽधर्मेण द्रव्याणि प्रतिपादयति वेश्यादिभ्यः प्रयच्छति, सवर्णापुत्रोऽप्यपिशब्दाज्ज्येष्ठोऽपि दायं न लभेतेत्येकेषां मतम् । तथा चाऽऽपस्तम्बः—यस्त्वधर्मेण द्रव्याणि प्रतिपादयति ज्येष्ठोऽपि तमभागं कुर्वीतेति ॥ ३८ ॥

श्रोत्रिया ब्राह्मणस्यानपत्यस्य रिक्थं भजेरन्॥३९॥

अपत्यग्रहणं पिण्डगोत्रर्षिसंबन्धादेरुपलक्षणम् । अनपत्यस्याविद्यमानधनभाजो ब्राह्मणस्य श्रोत्रिया हि रिक्थं भजेरन् ॥ ३९ ॥

राजेतरेषाम् ॥ ४० ॥

इतरेषां क्षत्रियादीनां रिक्थमनपत्यानां राजा भजेत ॥ ४० ॥

जडक्लीबौ भर्तव्यौ ॥ ४१ ॥

जडो नष्टचित्तः क्लीबस्तृतीयाप्रकृतिः । एतावशनाच्छादनदानेन भर्तव्यौ । मनुस्तु—

अनंशौ क्लीबपतितौ जात्यन्धबधिरौ तथा ।
उन्मत्तजडमूकाश्च ये च केचिन्निरिन्द्रियाः ॥ इति ॥ ४१ ॥

अपत्यं जडस्य भागार्हम् ॥ ४२ ॥

यदि तु जडस्यापत्यं भवति तदा तद्भागार्हं भवति तस्मै स भागो दयस्तत्पितुः । अत्र मनुः—

यद्यर्थिता तु दारैः स्यात्क्लीबादीनां कथंचन ।
तेषामुत्पन्नतन्तूनामपत्यं दायमर्हति ॥ इति ॥ ४२ ॥

शूद्रापुत्रवत्प्रतिलोमास्तु ॥ ४३ ॥

प्रातिलोम्येन जातानां सूतादीनामपि गुणोत्कृष्टानां शूद्रापुत्रवद्वृत्तिमूलं दातव्यमिति ॥ ४३ ॥

उदकयोगक्षेमकृतान्नेष्वविभागः ॥ ४४ ॥

उदकं कूपादि । योगक्षेमाविष्टापूर्ते । तथा च लौगाक्षिः—

योगः पूर्तं क्षेम इष्टा इत्याहुस्तत्त्वदर्शिनः ।
अविभाज्ये तु ते प्रोक्ते शयनं चान्नमेव च ॥ इति ।

कृतान्ने तूत्सवादिषु कल्पिते प्रभूतेऽपि । एतेषु विभागो न कर्तव्यः । यथावस्थितेष्वेव सोदर्यानुरूपेण भोगः ॥ ४४ ॥

स्त्रीषु च संयुक्तासु ॥ ४५ ॥

याश्च स्त्रियो दास्यो भ्रात्रादिषु केनचित्संयुक्ता उपभोगपरिगृहीतास्तास्तस्यैव । यद्यन्याः सन्त्यन्यत्रान्येषां भागः । यदि न सन्ति तदा द्रव्येण साम्यमापादनीयम् । यदा पुनरेकैव दास्यसंयुक्ता च तदा पर्यायेण कर्म करोतु ॥ ४५ ॥

अनाज्ञाते दशावरैः शिष्टैरूहविद्भि-
रलुब्धैः प्रशस्तं कार्यम् ॥ ४६ ॥

ज्ञाप्त इवाऽऽज्ञातं तद्विपरीतमनाज्ञातम् । योऽर्थो यथावद्विज्ञातः [illegible] वा तत्रानाज्ञाते दशावरैर्दशभ्योऽन्यनैः शिष्टैः ।

धर्मेणाधिगतो यैस्तु वेदः सपरिबृंहणः ।
ते शिष्टा ब्राह्मणा ज्ञेयाः श्रुतिप्रत्यक्षहेतवः ॥

इति मनुनोक्तेः । ऊहविद्भिरूहापोहकुशलैः । अलुब्धैरुत्कोचादिषु निस्पृहैः । एवंभूतैर्ब्राह्मणैर्यत्प्रशस्तं स्तुतमिदमत्र युक्तमिति तत्कार्यं कर्तुं युक्तम् ॥ ४६ ॥

के पुनस्ते दशावरास्तानाह—

चत्वारश्चतुर्णां पारगा वेदानां प्रागुत्तमा-
स्त्रय आश्रमिणः पृथग्धर्मविदस्त्रय एता-
न्दशावरान्परिषदित्याचक्षते ॥ ४७ ॥

चतुर्णां वेदानां पारगाः साङ्गानामध्येतारोऽर्थज्ञाश्च । एवंभूताश्चत्वारो न चातुर्वैद्य एकः । आश्रमिणस्तृतीयेऽध्याय उक्ता ब्रह्मचारी गृहस्थो भिक्षुर्वैखानस इति । तेषूत्तमाद्वैखानसात्पूर्वे त्रय आश्रमिणः । पृथग्धर्मशास्त्रविदस्त्रयः। पृथग्ग्रहणमेकमेव धर्मशास्त्रं विदुषां त्रयाणां ग्रहणं मा भूदिति । तानेतान्दशावरान्परिषदित्याचक्षते धर्मज्ञाः ॥ ४७ ॥

असंभवे त्वेतेषां श्रोत्रियो वेदविच्छि-
ष्टो विप्रतिपत्तौ यदाह ॥ ४८ ॥

एतेषां व्यस्तानां[1] समस्तानां च बहूनामसंभवे श्रोत्रियः साङ्गस्य वेदस्याध्येता । वेदवित्तदर्थज्ञः । शिष्टः स्वधर्मनिरतः । एवंभूत एकोऽपि विप्रतिपत्तिविषये यदाहेदमत्र युक्तमिदं कार्यमिति तत्कार्यम् । तथा च मनुः—

एकोऽपि वेदविद्धर्मं यं व्यवस्येत्समाहितः ।
स धर्मः परमो ज्ञेयो नाज्ञानामुदितोऽयुतैः ॥ इति ॥ ४८ ॥

कस्मात्पुनरेकस्यापि श्रोत्रियस्य वेदविदः शिष्टस्य वचनं कर्तव्यमित्यत आह—

यतोऽयमप्रभवो भूतानां हिंसानुग्रहयोगेषु ॥ ४९ ॥

प्रभवत्यस्मादिति प्रभवः कारणं तन्न विद्यते तस्य सोऽप्रभवः । यस्मादयं भूतानां हिंसानुग्रहयोगेषु दण्डप्रायश्चित्तादिष्वगृह्यमाणकारणः

---

[1] ग ड पयस्तानां ।

केवलं शास्त्रेनेत्रस्तस्मादेकस्यापि वचनमनुष्ठेयमिति। अपर आह—प्रभः वनं प्रभवः प्रभुत्वं तद्यस्य नास्ति सोऽप्रभवः । न ह्यसौ शास्त्रनिरपेक्ष स्वतन्त्रः किंचिदनुगृह्णाति निगृह्णाति वा । तस्मादस्य वचनमनुष्ठेयमिति ॥ ४९ ॥

सांप्रतं ये केवलं धर्ममनुतिष्ठन्ति तेभ्यो ज्ञात्वाऽनुतिष्ठन्विशिष्ट इत्याह—

धर्मिणां विशेषेण स्वर्गं लोकं धर्मविदा-
प्नोति ज्ञानाभिनिवेशाभ्याम् ॥ ५० ॥

धर्मिणो धर्मवन्तो धार्मिकाः। तेषां मध्ये यो धर्मविद्धर्मशास्त्रं यावतोऽर्थतोऽधीत्य धर्मं तत्त्वतो वेत्ति सः। ज्ञानाभिनिवेशाभ्यां ज्ञानं समर्थावगतिरभिनिवेशस्तात्पर्येणानुष्ठानम्। ज्ञानेनाभिनिवेशेन च केवलानुष्ठातृभ्यो विशेषेण स्वर्गं लोकमाप्नोति ॥ ५० ॥

इति धर्मो धर्मः ॥ ५१ ॥

सोऽयमादितो वेदो धर्ममूलमित्यारभ्यैवमन्तो धर्म उक्तः । द्विरुक्तिः शास्त्रपरिसमाप्त्यर्था ॥ ५१ ॥

गौतमोक्ते धर्मशास्त्रे हरदत्तकृताविह ।
अष्टाविंशोऽयमध्यायो वृत्तौ वायः समापितः ॥

इति श्रीहरदत्तविरचितायां गौतमीयधर्मशास्त्रे मिताक्षराया-
मष्टाविंशोऽध्यायः ॥ २८ ॥

समाप्तोऽयं ग्रन्थः ।